

लेखक की आलोचनात्मक कृतियाँ—

१. सूफीमत और हिन्दी-साहित्य
(पी-एच० डी० का स्वीकृत थीसिस)
२. हिन्दी-साहित्य रत्नाकर
बीर-भाषा काल से रीतिकाल तक के
प्रमुख ११ कवियों एवं उनकी कृतियों का
समीक्षात्मक अध्ययन
३. हिन्दी के अर्वाचीन रत्न
हिन्दी के अर्वाचीन काल के १० वरिष्ठ साहित्य-स्रष्टाओं
तथा उनकी रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन
४. हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
५. 'रसिम' सूर विशेषांक (सम्पादित)
६. तुलसी और उनका साहित्य (प्रेत में)

हिन्दी के अर्वाचीन रहल

[अर्वाचीन दस माहित्य-ग्रन्थसभो का समीक्षात्मक अध्ययन]

लेखक

डॉ० विमल कुमार जैन
एम० ए० (हि०, सं०), पी०एच० डी०
शास्त्री, ग्यापतीपं, साहित्यरत्न
प्राध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

लेखक की आलोचनात्मक कृतियाँ—

१. मूफीमत और हिन्दी-साहित्य
(पी-एच० डी० का स्वीकृत थीसिस)
२. हिन्दी-साहित्य रत्नाकर
वीर-भाषा काल से रीतिकाल तक के
प्रमुख ११ कवियों एवं उनकी कृतियों का
समीक्षात्मक अध्ययन
३. हिन्दी के भ्रष्टाचारी रत्न
हिन्दी के भ्रष्टाचारी काल के १० वरिष्ठ साहित्य-स्रष्टाओं
तथा उनकी रचनाओं का समीक्षात्मक अध्ययन
४. हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
५. 'रश्मि' सूर विशेषांक (सम्पादित)
६. तुलसी और उनका साहित्य (प्रेस में)

हिन्दी के अर्वाचीन रत्न

[अर्वाचीन दम साहित्य-स्रष्टाओं का समीक्षात्मक अध्ययन]

२२९८

लेखक

डॉ० विमल कुमार जैन

एम० ए० (हि०, सं०), पी०एच० डी०

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न

प्राध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रकाशक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस

नई दिल्ली, दिल्ली

मूल्य ७)

मुद्रक—
बालकृष्ण एम० ए०
प्रोग्रेसर प्रेस, बडलिन पुन, देहली ।

प्राक्कथन

बीरगाथा काल में रीतिरिवाज तक के प्यारह बरिष्ठ कवियों का समीक्षात्मक विवेचन में हममें पूर्व 'हिन्दी-साहित्य रत्नाकर' नाम्नी पुस्तक में कर चुका है। उसकी उपयोगिता के फलस्वरूप बढ़ती हुई माँग से उत्साहित होकर मैंने 'हिन्दी के प्रवाचीन रत्न' नामक इस पुस्तक में आधुनिक काल के दस प्रख्यात साहित्य-स्रष्टाओं का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें स्थान-प्राप्त मान्य महानुभाव हैं—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, प० रामचन्द्र-शुक्ल, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिषोष', मुंशी प्रेमचन्द, श्री मैथिलीशरण-शुक्ल, श्री जयशंकरप्रसाद, श्री मृपंचानन त्रिपाठी निराला, श्री मुमित्रानन्दन पन्त और शुभश्री महादेवी वर्मा।

इसकी रचना भी 'हिन्दी-साहित्य रत्नाकर' की भाँति 'नातिविस्तृत-मात्रि संकुचित' शैली पर ही की गई है। प्रत्येक प्रकार का विज्ञान हममें अपनी न्यूनधिक रूप में विज्ञाना शान्त कर सकता है क्योंकि मैंने प्रत्येक महानुभाव के जीवन एवं समस्त कर्मों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण कृतियों पर तो पर्याप्त मात्रा में लिखा गया है, उदाहरणतः 'भृशाराधन', 'गंगाधररत्न', 'उदयनरत्न', 'प्रियप्रवास', 'विन्तामलि', 'निवागदन', 'प्रेमाधम', 'निर्मला', 'रगभूमि', 'बायावरत्न', 'गहन', 'कर्मभूमि', 'शोशन', 'सावेत', 'मनोपरा', 'धर्म', 'बामावनी', 'रत्नदुल', 'चन्द्रदुल', 'बंजान', 'गिननी', 'परिमल', 'मुनमीदास', 'दुगा-ठ', 'दुगावारो', 'पन्नर', 'दुम्बर', 'स्वर्णचिरण', 'स्वर्णभूति', 'यामा', ('नौहार', 'रसि', 'नीरजा', 'साध्यगीत') और 'दीपसिगा' आदि पर सभी दृष्टिकोणों से विचार किया गया है।

इस पुस्तक की भी पूर्व पुस्तक की भाँति यह विशेषता है कि यह बड़ी सुगम शैली में लिखित हुई है। इसमें प्रत्येक साहित्य-निर्माता सम्बन्धी तथा उसकी रचना-सम्बन्धी विविध विषयों की भिन्न चींटियों में छोटे या मोठे बाने

टाइप में दर्शित किया गया है। इसके अतिरिक्त उसकी प्रायः समस्त रचनाओं पर प्रकाश डालते हुए उसकी तद्विषयक साधारण मनोवृत्ति का भी विश्लेषण किया गया है। समीक्षा में तुलनात्मक अध्ययन, महत्व-प्रदर्शन एवं मूल्यांकन को भी स्थान दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने अपनी परिमित बुद्धि के अनुसार इनकी अपरिमेय कला-कुशलता को उद्घाटित एवं विश्लेषित करने का प्रयत्न किया है।

ये रत्न तो अपार कान्ति में युक्त हैं परन्तु मेरी बुद्धि-निरूप मन्द एवं क्षीणशक्ति है अतः इस व्यापार में कहीं तक सफल हुआ हूँ इसे तो विद्वत्वारगी ही जानें। मैं तो इतना जानता हूँ कि विस्तृत अध्ययन के पश्चात् मैंने इसे निम्न बाला है और इसलिए यह घासा रखता हूँ कि यह ग्रन्थ पाठक के लिए अवश्य ही उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त में मैं उन सभी महानुभावों के प्रति धामार प्रदर्शित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके ग्रन्थों का परिशीलन मेरे कृतकार्य होने में सहायक हुआ है।

२६ जनवरी, गणतन्त्र दिवस
सन् १९५६ ई०

विनीत—
विमलकुमार जैन

विषय-सूची

संख्या	विषय	पृष्ठ
१.	भारतेन्दु बाबू हरिदचन्द्र जीवनवृत्त, रचनाएँ, इनकी काव्यगत विचार-धारा एवं काव्य- कला, निबन्ध-कला, नाटकीय-कला, मूद्राराक्षस ।	१
२.	जयप्रसाददास रत्नाकर जीवनवृत्त, रचनाएँ, संश्लेषण, उद्धव-शतक, इनकी काव्य-कला ।	२७
३.	रामचन्द्र शुक्ल जीवनवृत्त, रचनाएँ, चिन्तामणि, जायसी प्रत्यावली की भूमिका, धर्मराजीनशार की भूमिका, तुलसी-प्रत्यावली की भूमिका, रस- मीर्माणा, प्रसूदित ग्रंथ, हिन्दी साहित्य का इतिहास, कविता-ग्रंथ ।	४६
४.	धर्मोष्णामिह उपाध्याय 'हरिऔध' जीवनवृत्त, रचनाएँ, रचनाओं का परिचय, प्रियप्रवास ।	६१
५.	प्रेमचन्द्र जीवनवृत्त, रचनाएँ, इनके कथा-साहित्य की पृष्ठभूमि, इनकी कहानी-कला, धर्मोष्णामिह-कला, शेषशतक, प्रेमोद्भव, निर्मला, रंगभूमि, बापावृत्त, गणन, बर्मभूमि, गोदान ।	८१
६.	मंजिरीशरण शुक्ल जीवनवृत्त, रचनाएँ, जयद्रथ-ग्रंथ, त्रिपदगा, बह-संहार, विमान, बिकट भट, तुल्युन, साकेत, पशोधरा, द्वार, मिदराथ, महुव, दुःख जी का हिन्दी-साहित्य में स्थान ।	११२
७.	जयशंकरप्रसाद जीवनवृत्त, रचनाएँ, प्रसाद की काव्य-साधना, रचनाओं का परिचय, जीवन-कुसुम, प्रेम-विवेक, करुणामय, महाराज का	१६१

महत्त्व, करना, घाँसू, लहर, कामायनी, इनकी नाटकीय-कला, नाटकों का परिचय, राज्यश्री, विनास, मजातनाबु, जनमेजय का नाग-यज्ञ, कामना, सन्न्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, इनकी औपन्यासिक कला, बंकाल, तिमली, प्रसाद की कहानी-कला, कहानी-पुस्तकों का परिचय, इनकी निबन्ध-कला, निबन्धों का वर्गीकरण ।

८. सूर्यवान्त निपाठी 'निराला' २३५
 जीवनवृत्त, साहित्यिक-विकास, इनकी काव्यगत विचार-धारा, परिमल, सुलसीदास भादि ग्रन्थ, काव्य-कला ।
९. गुमित्रानन्दन पन्त २५५
 जीवनवृत्त, साहित्यिक-विकास, प्रकृति-प्रेरणा, पन्त जी का भाव-विभाग-क्रम, वीणा, यन्त्रि, (उच्छ्रवण, घाँसू), पल्लव, गुंजन, जगन्ना, युगान्त, युगत्राणी, घाँसा, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, युग-रथ, उत्तरा, पन्त जी की काव्य-कला, इनकी हिन्दी-साहित्य में स्थान ।
१०. महादेवी वर्मा २८१
 जीवनवृत्त, रचनार्ण, यामा, (नीहार, रत्नि, नीरजा धीर साङ्घ्य-गौन), बीवतिला, काव्य-साधना, (ध्यायावाद धीर रहस्यवाद, मीरा धीर महादेवी; भावराज धीर कलापश), गद्य ।
११. परिशिष्ट ३०१
 धर्मापीन-रत्नों पर विशेष अध्ययन के लिये पठनीय पुस्तकें ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु जी का जन्म सं० १६०७ (मन् १८५०) में भाद्रपद शुक्ला पंचमी को काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम गिरिधरदास था। जब ये पाँच वर्ष के थे तो इनकी माता का देहान्त हो गया और पूरे दस वर्ष के भी न होने पाए थे कि इनके पिता की अचानक मृत्यु इनके गिर ने उठ गई। इन्होंने स्कूल और कानून की शिक्षा पाई। अल्पवय काल में अंग्रेजी और हिन्दी का इन्हें अच्छा ज्ञान प्राप्त हो गया। इनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी, जिस विषय या भाषा को प्यानपूर्वक छोटे दिन भी देता लेते थे या अध्ययन कर लेते थे उसे हृदयंगम कर लेते थे। इन्होंने अंग्रेजी और हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी एवं बंगला आदि भाषाओं का अध्ययन पर पर ही किया और प्रगतिशील दक्षता प्राप्त की। इनकी बुनाय बुद्धि और अलौकिक प्रतिभा का प्रमाण तब इसी ने मिलता है कि गणह वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने 'अविषयन गुप्त' नाम की पत्रिका निकाली, जिसने हिन्दी एवं हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया। केवल गणह वर्ष की अवस्था में सं० १६२४ में शीतलदास स्कूल की स्थापना की। अठारह वर्ष की अवस्था में सं० १६२५ में इन्होंने अपना सर्वप्रथम 'विद्या-गुप्तर' नाटक बंगला में अनूदित किया और बीस वर्ष की अवस्था में वे फॉररेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त हुए।

यद्यपि ये केवल ३४ वर्ष ही जीवित रहे किन्तु क्या साहित्यकार की दृष्टि में क्या सामाजिक दृष्टि में सभी प्रकार से इन्होंने पूर्ण मन प्राप्त किया। अपने जीवन में इन्होंने अनेक सम्पादकों की स्थापना की जथा—अविषय समाज, अनाथशाला, हिन्दु समाज, हिन्दी समाज एवं शेरशा मन्ना आदि। सं० १६३० में इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' नामक पत्र निकाला, जिसका नाम बाद में बदलकर 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। बारह में मरी बोरी गढ़ का परिष्कार कर सर्वप्रथम इसी में प्रकाशित हुआ। इन्होंने अपनी 'आनन्द' नामकी पुस्तक में लिखा भी है—“हिन्दी नई धारा में इसी मन् १८७३ ई०”। इन्होंने एक वर्ष पत्रकार ही सं० १६३१ में शो-निशा के

लिए 'बाला बोधिनी' पत्रिका निकाली। इस प्रकार मोलह वर्ष की भवस्या से लेकर चौतीस वर्ष की भवस्या तक केवल अठारह वर्ष में ही उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाएँ निकाली, सभाएँ स्थापित की, स्कूल खलाए एवं हिन्दी और गोरक्षा आदि के लिए आन्दोलन भी किये। इसी बीच वे छः साल तक म्युनिसिपल कमिश्नर भी रहे तथा अनेक सभा-समाजों के प्रधान एवं मंत्री रह कर सामाजिक कार्य भी करते रहे। फिर भी साहित्य-सेवा जितनी इन्होंने की उतनी और कम ही कर गके हैं। इन्होंने लगभग डेढ़ सौ ग्रन्थ लिखे और ग्रन्थ भी अनेक निबन्ध आदि रचनाएँ प्रस्तुत कीं।

सम्भवतः इतना प्रतिभाशील व्यक्ति दूसरा नहीं हुआ, जिनके केवल १८ वर्ष में इतने साहित्य का निर्माण किया हो। इनके पिता गोपालचन्द्र उपनाम गिरिधरदास स्वयं एक प्रतिभाशाली कवि थे। भारतेन्दु जी ने उनके चालीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है। ऐसे महान् कवि का पुत्र कवि क्यों न हो, सूर्य की किरणों प्रकाश ही देती हैं, चन्दन के वृक्ष में निकली हुई डालियाँ दिग्दिगन्त को गुरुभित हो करती हैं।

भारतेन्दु का समय यह समय था जब अंग्रेजों सत्ता ने भारतवर्ष पर पूर्ण शासन स्थापित कर लिया था। सन् १८५७ में राजभ्रान्ति हुई और यह कुचक्र दो गई तथा दिल्ली का अन्तिम मुगल बादशाह बन्दी बना लिया गया। विदेशी दमन-चक्र प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः भारत का रूप-रंग बदलने लगा। बालक हरिदचन्द्र उम समय केवल ६-१० वर्ष का था। किन्तु जब वे १६-१७ वर्ष के हुए तो उम समय तक भारत का गौरव और वैभव बहुत कुछ जा चुका था। नई सम्पना ने नया जीवन ला दिया था, पूर्वी आशान में पश्चिम की आत्मा खाने लगी थी और देगने ही देरने मनुष्य विलायती होने लगा था। युवा और शान्तः अंग्रेज राजनीति के पण्डित थे, उन्होंने अरबी सत्ता को टूट करने के लिए विभाजन की नींव डाली, भला, टाँपी बिना मारे दीवार टूट सके नहीं हैं। इसके अनिश्चित अंग्रेजी भाषा को प्रचारित किया, अहाँ की वेगभूता को बदला, और माष ही माष विद्वानरियों द्वारा अपने धर्म का प्रचार भी किया। भारतेन्दु जी ने इन मन्त्रालुं शान्तरण को देना और उन्हें बरस दुग हुआ। माष ही उन्हें धरने देन की कुत्रपाएँ भी धरतीं। वे अपने राष्ट्र-प्रेमी थे, हिन्दुत्व ने उन्हें प्रेम था और हिन्दी उनकी मातृभाषा थी धनः उन्होंने सीमा का अज्ञान राष्ट्रप्रेम, भारतीयता, स्वधर्म एवं निज भाषा की और धारट्ट किया। इनके लिए उन्होंने अरबी पुस्तकों एवं पत्रों को माध्यम बनाना। विविध मन्त्रालुं भी इसी लिए स्थापित कीं। वे प्रभावशाली बल्ल एवं

अभिनेता भी थे अतः अपनी वक्तृताओं एवं अभिनयों से भी लोगों को शिक्षा देते थे और सन्मार्ग का प्रदर्शन करने थे। 'अन्धेर नगरी' और 'देवाधर चरित्र' नाटकों का अभिनय उन्होंने इसी ध्येय से किया था। अन्धेर नगरी में सासन की हीन और दुर्नीति का प्रकाशन था और देवाधर चरित्र पं० रविदत्त शुक्ल का लिखा एक प्रहसन था जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बड़े हास्यास्पद दृश्य थे।

भारतेन्दु जी की रचनाओं में हम सामामयिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, नैतिक एवं और भी अनेक विषय देखने हैं। वे स्वयं अच्छे देश-प्रेमी, निष्ठावान, श्रद्धु और चरित्रशील व्यक्ति थे अतः उनकी रचनाओं में भी एक सात्विक श्रद्धुता, प्रगाढ़ राष्ट्रियता, उच्च नैतिकता एवं उच्चाशयता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने २१ बाध्य-बंध लिखे तथा लगभग ६० और छोटे प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक कविताएँ लिखीं। उनकी 'भारत बीरत्व' एवं 'बालीय गीत' आदि कृतिओं में हमें उनका राष्ट्र-प्रेम दिग्गद्गै देना है तथा 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' तथा 'उर्दू का स्थापा' आदि में हिन्दी-प्रेम। इनकी भक्ति-साम्यन्धी तो अनेक कविताएँ हैं।

कविताओं के अनिश्चित इन्होंने अनेक नाटक भी लिखे, जिनमें से कुछ तो धनूदिन हैं और कुछ मौलिक। वे स्वयं एक प्रगिद्ध अभिनेता थे, अतः इनके नाटक मध्यम श्रेणी के अच्छे नाटक हैं।

इन्होंने अनेक इतिहास-साम्यन्धी पुस्तकें भी लिखीं। इन्होंने ऐसी पुस्तकों का निर्माण सं० १६२८ में करना प्रारम्भ किया और उनमें सामयिक घटनाओं पर अच्छा और गहरा प्रकाश डाला।

इनके बाध्य-बंधों में भक्ति-विषयक रचनाएँ भी हैं। वास्तव में ये धन्तनीय सम्प्रदाय के थे, अतः कृष्णभक्त थे, परन्तु बड़े सरम और सहृदय थे।

इन्होंने अनेक गेय भी लिखे, जिनमें उल्लेखनीय कविताओं पर प्रकाश डाला गया है। इनकी विनोदप्रियता एवं ध्येय का पूरा आनन्द इनके निबन्धों में ही उठाना जा सकता है।

रचनाएँ—

बाध्य-बंध—

- | | |
|--------------------|-------------------|
| १. भक्त सर्वस्व | ५. प्रेम-सरोवर |
| २. प्रेम मानिसा | ६. प्रेमाधु-बन्धु |
| ३. आर्थिक-स्नान | ७. बंध-भूतद्वय |
| ४. संसार-माहात्म्य | ८. प्रेम-नागुरी |

हिन्दी के भर्वाचीन रत्न

- | | |
|-------------------------|----------------------|
| ६. प्रेम-तरंग | १६. राग-संग्रह |
| १०. उत्तरार्द्ध भक्तमाल | १७. वर्षा-विनोद |
| ११. प्रेम-प्रलाप | १८. विनय-प्रेम-पचासा |
| १२. गीत गोविन्दानन्द | १९. फूलों का गुच्छा |
| १३. सतसई-शृंगार | २०. प्रेम-फुलवारी |
| १४. होली | २१. वृष्ण-चरित |
| १५. मधु-मुकुल | |

इनके प्रतिरिक्त इन्होंने अनेक छोटे प्रबन्ध-काव्य एवं मुक्तक कविताएँ भी लिखीं, जिनकी संख्या ७० के लगभग है। उनमें से कुछ नाम नीचे दिए जाते हैं—

- | | |
|-----------------------------|-------------------------|
| श्री अलबरत यहाँन | भपवगंदाटक |
| श्री राजकुमार सुस्वागत-पत्र | श्रीनाथ-स्तुति |
| गुमनोञ्जलि: | भपवगं-मञ्चक |
| देवी धरम-सीला | भारत वीरत्व |
| दैन्य-प्रलाप | श्री सीता-वल्लभ स्तोत्र |
| दान-सीता | चन्दर रामा |
| वगत होली | विजय-बत्तरी |
| उर्दू का श्यामा | नये जमाने की मुकरी |
| बकरी-विनाप | जातीय-मंगीत |
| भारत निशा | रिपनाटक |
| श्री सर्वोत्तम स्तोत्र | |

नाटक—

- | | |
|----------------------------|-----------------------------|
| [मोलित] | ५. नीग देवी |
| १. बेदिनी हिमा हिमा न भवति | ६. धपेर नगरी |
| २. चन्द्रावनी | ७. प्रेम-जोगिनी (धपूरुं) |
| ३. विपश्य विपगोपयम् | ८. राणी प्रताप " |
| ४. भारत दुर्गमा | |
| [धनूनि] | ६. गण-हृदिचन्द्र |
| १. रिदा-मुन्दर | ७. भाग्य जननी |
| २. पगद रिदग | ८. दुर्गम बानु (धपूरुं) |
| ३. धनूत्रय रिदग | ९. रगनागरी गदिबा (धपूरुं) |
| ४. धनूर-मन्त्री | |
| ५. मुद्राराजग | |

इतिहास—

- | | |
|-----------------------------|------------------------|
| १. बाभ्मीर-नुमुम | ७. धूँदी का राजवत |
| २. महाराष्ट्र देश का इतिहास | ८. उदयपुरोदय |
| ३. रामायण का समय | ९. धरितावली |
| ४. बादशाह-दर्पण | १०. पंच-भविष्यात्मा |
| ५. धप्रवालों की उत्पत्ति | ११. दिल्ली-दरवार दर्पण |
| ६. यत्रियों की उत्पत्ति | १२. कालचक्र |
- इनमें कुछ निबन्ध भी सम्मिलित हैं, यथा बाभ्मीर-नुमुम आदि ।

निबन्ध—

बैष्णवना धीर भारतवर्ष	धंगरेख स्तोत्र
भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है	मदिराम्भव राज
ईशू गृष्ट धीर ईशू कृष्ण	पाँचवें पैगम्बर
धरवर धीर धीरगरेब	स्वर्ग में विचार सभा
महिलविद्या	हथी सेवा पद्धति
सत्यनरु	जाति विवेचिनी मना
हिन्दी भाषा	मर्बे जान गोमान की
धीष्म ऋतु	गम्गादक के नाम पुत्र
दिल्ली दरवार दर्पण	मदानमा उपाख्यान
मूरदास का जीवन-चरित्र	संगीत मार
श्री जयदेव जी का जीवन-चरित्र	जातीय भवेम्ब
साहें मेदो माहिब का जीवन-चरित्र	श्रीवन्दनीय भवेम्ब
एक कहानी कुछ धार बीती कुछ जग बीती, आदि	

कुछ अन्य रचनाएँ—

नरमल्लिक नाटक	(धूर्त, धर्मकावित)
हमोर हठ	(धूर्त गद्य कल्प, धर्मकावित)
राजगिह	(धूर्त गद्यकल्प)
मुनीवना	(धार्मिक)
मदानमा उपाख्यान	(धार्मिक)
नीलवती	(धार्मिक)
मात्रिकी चरित्र	(धार्मिक)
धिव शास्त्र	

श्रुतिरहस्य

पुरान का अनुवाद

परिहासिनी

तटकीकात पुरी की तटकीकात आदि
इस तानिवा से हम देख सकते हैं कि इतने बहुविध ग्रन्थों की रचना

संभवत किमी भी ग्रन्थ व्यक्ति ने नहीं की और वह भी १७-१८ वर्ष में। ऐसा
प्रतीत होता है कि वे आगु पवि थे, नाट्य-कला उनकी तैलनी में बनी
हुई थी और उनका हृदय भावों को एक बरप्राप्त प्रदाय मञ्जूषिका थी।

भारतेन्दु जी की काव्यगत विचार-धारा एवं काव्य-कला—

भारतेन्दु जी बल्लभीय मत के अनुयायी थे। उन्होने अनेक स्थलों पर
बल्लभाचार्य एवं विठ्ठलनाथ जी के प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शन की है—

बल्लभ बल्लभ बल्लभ पंडित मंगल मंडन ।
बल्लभ बल्लभ बल्लभ माया-मत राण्डन ॥

जे नित-दिन धी विठ्ठल विठ्ठल विठ्ठल ही मूल भाते ।
'हरीचन्द' तिनके पद की रज हम अपुने तिर राते ॥

बल्लभ गणप्रदाय में राधा-शृणु का बड़ा महत्व है। इनके यहाँ ब्रितना
महत्त्व प्रेम-नाशण भक्ति को है उनका संन्याम की ब्रितन चर्चा को नहीं।
भारतेन्दु जी ने भी अपनी अधिकांश रचनाओं में राधा-शृणु के प्रगाढ़ प्रेम,
प्रेम-श्रीराधों एवं रासलीला आदि का बड़ा सुन्दर श्रुतिक विधान किया है।
प्रेममानिना, प्रेममाधुरी, प्रेम-तरंग, प्रेम-प्रताप, गीतगोविन्दानन्द, होनी, मधुसूदन
राग-मधुर, पर्या-विनोद, प्रिय प्रेम-नगामा और प्रेम-गुनवारी आदि रचनाओं
में राधा-शृणु विषयक पद ही अधिक हैं। उरहना, तन्मयनीना, दाननीना एवं
देवी पदम-नीना में भी यही विषय है। 'शृणु' नामा गृन् में केवल शृणु का
चरित्र वर्णित है, जिसमें वागव्य का मनोहर चित्रण हुआ है। अतमान में मनों
का वर्णन है। इन ग्रन्थों में इनकी कवि परिचयित होनी है। बल्लभ स्वामी
में पुष्टिमान का प्रतिपादन किया था, जिसके अनुसार शृणु के अनुग्रह में ही
मन में कवि उरहुत होनी है और पुनः यह भगवान् का गानित्य प्राप्त करना
है। भारतेन्दु जी ने भी भगवान् का प्रगाढ़ प्रेम करने के विषे उनके चरित्रों
का तन्वीकता पूर्ण चरित्र किया है। 'दीव्य-प्रताप' में उन्होंने तिनके पद
की अन्वयैता करना है।

भारतेन्दु जी बल्लभस्य सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हुए भी सवीरों विचार के व्यक्ति नहीं थे, वरन् उनमें उदारतामयता थी। उन्होंने कृष्ण के प्रतिरिक्त 'भीमा-बल्लभ-स्तोत्र' में राम की स्तुति की है और 'रामलीला' में राम की लीला का वर्णन किया है।

इनका सरम हृदय रामिकराज कृष्ण पर अधिक मृग्य था तथापि किसी अन्य सम्प्रदाय में तनिक भी द्वेष नहीं था। राम की स्तुति तो इन्होंने की ही है, जैन आदि मतों में वर्णित बातों को भी वे बड़े विनाल दृष्टिकोण से देखते थे। 'जैन-सुतूहन' नामक ग्रन्थ में वे अरहत श्रेयस एवं पादपंथाप को उगी ईश्वर का रूप मानते हैं—

दियारे दूतो को अरहंत ।

× ×

जब जब जपति श्रेयस भगवान ।

जगत श्रेयस मूष श्रेयस परम के श्रेयस पुरान प्रमान ॥

× × ×

सुमहि तो पादपंथाप ही प्यारे ।

इस प्रकार जैन तीर्थंकरों के प्रति भी वे अपनी आस्था प्रदर्शित करते हैं और उन्हें ही नहीं, समार में अवतरित सभी देवदूतों को उगी का रूप मानते हैं—

घटो सुष बटु विधि रूप धरो ।

वे 'जैन परम में प्रगट बियो सुष दया धर्म सगरो' कह कर जैनों की दया को भी उगी एक ईश्वर की देन मानते हैं। अपनी उदारतामयता और साम्प्रदायिक तत्परता का परिचय देते हुए ये कहते हैं कि—

नाहि ईश्वरता घटकी वेद में ।

ईश्वरता कोई वेद में ही है ऐसी बात नहीं। यह सभी धर्मों में विद्यमान है। रूप-भेद अद्वय है परन्तु साम्प्रदाय में कोई अन्तर नहीं। वे 'जैन धर्म की नाम्निह मार्ग बोल' कह कर जैनों को नाम्निह कहने बातों को नञ्चित करते हैं तथा 'हस्तिता तादृशमानोर्ध्व न अध्येत जैन मन्दिरम्' कहने बातों को निम्न पंथों में मूगं बताते हैं—

बाज बोज मूलत की यह मानो ।

हाथी मार्ग तोहू नाहीं जिन-मन्दिर में जातो ॥

इस प्रकार हम भारतेन्दु जी की रचनाओं में उनकी नञ्चित, उदारतामयता एवं साम्प्रदायिकता को भली-भाँति जान सकते हैं।

भारतेन्दु जी की रचनाओं में हमें सगल और प्रेम की एक सामयिक चेतना की प्रेरणा मिलती है। वे सभी मतवालों को 'मये सब मतवारे मतवारे' कह कर उन्मत्त कहते हैं तथा ईश्वर की ज्ञान, ध्यान एवं नियम से प्राप्य नहीं मानते और न रामायण, महाभारत, स्मृति और वेद में उमका होना मानते हैं। उनके अनुसार भगड़े, मुक्ति, मतों के भेद, मन्दिर, पूजा एवं घंटा की घोर भी उसकी स्थिति और प्रेरणा नहीं है। वह तो एक प्रीति की डोर में ही बंधा हुआ है।

विपारो पंचे केवल प्रेम में ।

नाहि ज्ञान में नाहि ध्यान में नाहि करन-कुन नम में ॥

नाहि भारत में नाहि रामायन में नाहि मनु में नाहि वेद में ।

नाहि भगरे में नाहि युक्ति में नाहि मतन के भेद में ॥

नाहि मन्दिर में नाहि पूजा में नाहि घंटा की घोर में ।

'हरीचन्द' वह माझो जोसल एक प्रीति की डोर में ॥

भारतेन्दु जी सच्चे राष्ट्र-भक्त थे परन्तु प्रारम्भ में उनके समय में राष्ट्र-भक्ति एवं राजभक्ति में कोई अन्तर नहीं था अतः उन्होंने तत्कालीन अग्रज रामदास, उनके राजकुमार एवं महारानी विजयोरिया और सोई रिपन की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा। सन् १८६९ ई० में जब ड्यूक आफ एडिनबरा भारत आये थे तब उन्होंने 'श्री राजकुमार सुवगात पत्र' लिखा था और उसके प्रारम्भ में निम्न दोहे लिखे थे—

जाके बरदान हित सब नना भरत पिपासा ।

सो मुलखन्द बिसोहिहं पुरो सय मन आग ॥

नन विद्याए आणु हित आवहु मा मग होय ।

कमत-नावडे मे हिए धति जोमल पद जोय ॥

इसी प्रकार सन् १८७५ में गुजरात त्रिग भाक वेत्त के भारत आने पर उन्होंने 'श्री राजकुमार-सुभागमन-वर्णन' लिखा था, त्रिगवा प्रथम दोहा यह है—

स्वागत स्वागत धन्य तुम भावो राजाधिराज ।

भई तनापा भूमि यह परनि धरन तुष आरज ॥

इन उद्धारजों ने हमें उनकी राज-भक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। परन्तु समय बदला और भारत में बर्तुिक अन्धकार का फैल गई, लोग्य होने लगा और मनुष्यों की विचरित्या फैल गई तब इन्होंने भारत की दुर्गता पर भी बहुत कुछ लिखा। 'विजयिनी-विजय वरदानी' में इन्होंने लिखने काग्य दणों में

भारत-भूमि के विषय में लिखा है—

हाय यहै भारत भुव भारी ।

सब ही विधि तें भई दुखारी ॥

भारतेन्दु जी राष्ट्र-प्रेमी होने के साथ-साथ हिन्दी-प्रेमी भी थे । इन्होंने 'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' नामक पद्य की रचना की, जिसमें उन्होंने अपना हिन्दी-प्रेम प्रदर्शित किया है । यह उनका पद्य-बद्ध व्याख्यान था जो उन्होंने सन् १९३४ में हिन्दी-वर्द्धिनी मन्ना में पढ़ा था । इस व्याख्यान में उन्होंने अपनी भाषा को सम्पूर्ण उन्नति का मूल बनाना चाहिए और सबको हिन्दी पढ़ने की प्रेरणा दी ।

किसी वस्तु से प्रेम होने पर उसमें विपरीत वस्तुओं से स्वतः ही बँर हो जाता है । राजा निवप्रगाद जी उर्दू के प्रणमक थे परन्तु भारतेन्दु जी ने उर्दू की थुलाई की । इन्होंने हिन्दी की उन्नति पर इसके लिए 'उर्दू का स्वापा' लिखा, जिसमें प्रथम गद्य में उमरी मृत्यु पर स्वापा मनाते हुए लिखते हैं—

'घरबी, फारमी, परतो, पजाबी इत्यादि कई भाषा खड़ी होकर छाती पीटती है ।'

है है उर्दू हाय हाय । जहाँ तिघारी हाय हाय ।

मेरी प्यारी हाय हाय । मुंशी मुल्ला हाय हाय ॥ इत्यादि ।

इस उर्दू के स्वापे में वे उर्दू का उपहास तो उड़ाते ही हैं साथ ही घरबी, फारमी, परतो और पजाबी का भी ।

'नए जमाने की मुकरी' में वे एक मुकरी में अंग्रेजी का भी उपहास उड़ाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं—

सब गुदजन को बुरी बनाव ।

अपनी विचड़ों अलग पनाव ॥

भीतर तख न भूठी तेजो ।

बजो सति सगजन नहि घंगरेजो ॥

भारतेन्दु जी बड़े मरम एवं विनोदी जन थे । उनकी पद्यविद्या एवं व्यंग्य बड़े मनोहारी हैं । देखिए पंजुएट एक पुनिम पर मुकरियों में कंगे गुदर व्यंग्य बने हैं—

तीन बुलाए तेरह घाय । निज निज जिन्ना रोड गुनावे ।

घातों कूटे भरा न पेड । बजो सति सगजन नहि पंजुएट ॥

हिन्दी के सर्वाधिक रत्न

रूप विलासत सरयस्य सूर्ये । फंदे में जो पड़े न छूटे ।
 कपट कटारी जिय में हूतिस । बरों सति सज्जन नहिं मखि पुलिस ॥
 'बन्दर ममा' कविता में बन्दर की सना का इन्होंने बड़ा मनोरम और
 हास्यजनक चित्र खींचा है ।

बाबू हरिदचन्द्र बड़े दयालु भी थे । उन्होंने 'बकरी-विलास' नामक
 कविता में बकरी के रोदन में करणा का समुद्र उमड़ा दिया है ।
 भारतेन्दु जी की काव्य-कला का गुन्दर प्रदर्शन उनकी राधाकृष्ण
 विषयक शृंगारिक रचनाओं में है । इन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों
 पक्षों का समोचित भ्रमन किया है । संयोग का एक उदाहरण नीचे दिया
 जाता है—

देखु सती देख भ्रातृ कुंजन में नवन केसि,
 करत वृष्ण संग विधिय भीति साधिया ।
 तंतोइ बहे त्रिजिप वीन तंतोइ नभ खंड उरयो,
 तंतो परदाहीं परत साज बाधिया ।
 किकिनि की घुनि सुनात पातन को परतरान,
 तंतो निमि सनसता गुणहि साधिया ।
 तहें घनि 'हरिचंद' प्राय मिनयत सगि बों, मनय,
 भ्रातृ ररो फिर हूं रय यह घराधिक ॥
 निम्ननिरित पद्य में वियोग की विधिय दशाओं को भी देखिए :—
 भूली सो भ्रमो सा बौकी जकी सो घरी सो गोपी
 दुगो सो रहत बसू नाहीं सुवि देह की ।
 मोरो सो सुमाई बाहु मोरक सां गाए सदा
 बिरारी सो रहै नैक रायर न गेह की ।
 रिम भरो रहै बरों पूनि न समानि घंग
 हनि हनि बरै बाग घदिक उमेह की ।
 पूर्ये ते दिगानी होय जतर न घावं ताहि
 जानी ह्म जानी है निगानी घा गनेह की ॥

दग प्रकार संयोग और वियोग के एक में एक गुन्दर काव्य-शुद्धों में कुछ
 गैबर्तों पद्य बाजने निश्चित सिंग, किन्तु पुनरलिं बरी भी नहीं होने पाई है ।
 भारतेन्दु जी ने शृंगार का विषय बाने हुए प्रार्थि का मनोहन भी
 काव्यिक माना में किया है । 'यर्माविमो' में भारत मागा इनकी बड़ी काव्य-
 पंक्त कृति है । प्रार्थि ऊरे इनकी त्रिय थी कि कसू घनि ऐशिनररा के भारत

पधारने पर उन्होंने उन पर भी पट्टप्रदु रूपक का निर्माण किया था । देखिए उसके प्रथम दोहे का ही रूपक कितना सुन्दर है :—

घानंद सों घौरी प्रजा, घाये मघुप समाज ।

मन-मयूर हरलित भए, राजकुंवर रितुराज ॥

शृंगारिक बर्णन में प्रकृति उद्दीपन रूप में चित्रित हुई है । संयोग में रति के उद्दीपनायें निम्न पद्य में पावग ने कितना योग दिया है :—

घायो पायत प्रचंड सब जग में मचाई धूम

कारे घन घेरि चारों घोर द्वाप ।

गरजि गरजि तरजि तरजि धोजु चमक चहुँ दिमि

सो बरतत जल-घार सेत धरति द्विपाय ।

मोर-रोर बाबुर-रख कोकिल-कल भोगुर भनकारन

मिलि धारट्टु रिसि तुम कलह घोर सो मघाय ।

'हरीचंद' गिरिपारी राधा प्यारी साथ लिये

ऐसी समे रहे मिलि कंठ लपटाय ॥

जो पावग संयोग में प्रेमियों को गाथालिङ्गन के लिए प्रेरित करती है और इस प्रकार परम शान्ति देती है, वही वियोग में रति को उद्दीप्त कर तापकारी हो जाती है । उपर्युक्त पद्य में उन्नी पावग ने राधाकृष्ण की आहूत परस्पर मने का हार बनती है किन्तु निम्न पद्य में वही पावग वियोदिनी को विवश किए दे रही है :—

घेरि घेरि घन धाए द्वाप रहे चहुँ घोर

कीन हेन प्राननाथ गुरति बिगारी है ।

बामिनी दमक जंतो जुगनुं चमक संगी

मम में विनास रग-संगति सेवारी है ।

ऐतो समे 'हरिचंद' घोर न धरत नेहु

बिह-विषा में होत ध्माहुन गियारी है ।

प्रोगम गियारे मंदताल विनु हान यह

सावन की रात सिधो डोरदी की सारी है ॥

अन्तिम पंक्ति में मंडेठ की बंगी सुन्दर योत्रना हुई है । निम्न पंक्तियों में मोर घोर चन्द्रमा पर उप्रेक्षा की योत्रना भी दर्शनीय है :—

सगो री मोरा बीजन लागे ।

मनु पावग की टेरि बोतावन लागो घनि धनुरागे ॥

×

×

×

रूप बिलासत सरसत लूटें। फंडे में जो पड़े न छूटें।
कपट कटारी जिय में हूलिस। बरों सखि सज्जन नहिं मखि पुलिस ॥

‘बन्दर सभा’ कविता में बन्दर की सभा का इन्होंने बड़ा मनोरम और
हास्यजनक चित्र खींचा है।

बाबू हरिदचन्द्र बड़े दयालु भी थे। उन्होंने ‘बकरी-बिलाप’ नामक
कविता में बकरी के रोदन में करणा का समुद्र उमड़ा दिया है।

भारतेन्दु जी की काव्य-कला का सुन्दर प्रदर्शन उनकी राधाकृष्ण
विषयक शृंगारिक रचनाओं में है। इन्होंने शृंगार के संयोग और वियोग दोनों
पक्षों का यथोचित अंकन किया है। संयोग का एक उदाहरण नीचे दिया
जाता है—

देख सखी देख आजु कुंजन में नवल केलि,

करत कृष्ण संग विविध भाँति राधिका ।

तँसोइ बहै त्रिविध यौन तँसोइ नभ चंद उग्यो,

तँमी परदाहीं परत ताज बाधिका ।

किकिनि की घुनि मुनात पातन की परखरात,

तँसो निमि सनसना गुणहि साधिका ।

तहँ अलि ‘हरिचंद’ घाय बिनवत ससि कों, मनाय,

आजु रहो फिर हँ रथ यह अराधिका ॥

निम्नलिखित पद्य में वियोग की विविध दशाओं को भी देखिए :—

भूली सी भ्रमो सा खौकी जकी सी थकी मो गोपी

डुली सी रहत कछू नाहीं पुधि देह की ।

मोही सी लुभाई कछू मोदक साँ लाए सदा

बिसरी सी रहै नैक खबर न गेह की ।

रिस भरी रहे बरों फूलि न समाति घंग

हँसि हँसि कहै बात अधिक उमेह की ।

पूछे ते बिमानी होय उतर न घाय ताहि

जानी हम जानी है निमानी या सनेह की ॥

इस प्रकार संयोग और वियोग के एक से एक सुन्दर काव्य-मुण्डों से युक्त
नैकदो पद्य आपने निम्न लिए, किन्तु पुनरक्ति यही भी नहीं होने पाई है।

भारतेन्दु जी ने शृंगार का चित्रण करते हुए प्रकृति वा
प्रत्यक्ष माथा में बिया है। ‘अर्पाविनोद’ में वारह माता इनकी बड़ी भाक-
संकृति है। प्रकृति उन्हें इतनी प्रिय थी कि डूबूँ अर्क ऐतिवरा के भारत

पधारने पर उन्होंने उन पर भी पट्टशत्रु रूपक का निर्माण किया था । देखिए उसके प्रथम दोहे का ही रूपक कितना सुन्दर है :—

धानेद सों घोरो प्रजा, धाये मधुप समाज ।

मन-मधुर हरणित भए, राजकुंवर रितुराज ॥

शृंगारिक वर्णन में प्रकृति उद्दीपन रूप में चित्रित हुई है । संयोग में रति के उद्दीपनार्थं निम्न पद्य में पावस ने कितना योग दिया है :—

धायो पावस प्रचंड सब जग में मचाई धूम

धारे धन घेरि धारों धोर छाप ।

गरजि गरजि तरजि तरजि धोजु चमरु चहुँ दिसि

सो बरलत जल-धार सेत धरनि दियाय ।

मोर-रोर बादुर-रख कोकिल-बल भोगुर भनकारन

मिति धारहु दिसि तुम कलह धोर सो मचाय ।

'हरीचंद' गिरिपारी राधा प्यारी साथ निवे

ऐगो समं रहे मिलि कंठ सपटाय ॥

जो पावस संयोग में प्रेमियों को गाढालिङ्गन के लिए प्रेरित करती है और इस प्रकार परम शान्ति देती है, वही वियोग में रति को उद्दीप्त कर तापकारी हो जाती है । उपर्युक्त पद्य में उसी पावस ने राधाकृष्ण की बाहुरों परस्पर गने का हार बनती है किन्तु निम्न पद्य में वही पावस वियोगिनी को विवश किए दे रही है :—

घेरि घेरि धन धाए दाय रहे चहुँ धोर

बोन हेल श्रावनाय गुरनि विमारी है ।

बाबिनो बमरु जंतो जगनुं चमरु तंगी

नम में विनाल बग-संगति सेवारी है ।

ऐगो समे 'हरिचंद' धोर न धरत नेकु

बिरह-विषा में होत प्याहुन गियारी है ।

प्रीतम विमारे नंदलाल गिनु हाय पट

साधन की रात बिधी डोरयो की सारी है ॥

अन्तिम पदिक में संदेह की बेगी सुन्दर योजना हुई है । निम्न पदिकों में मोर धोर पन्डमा पर उपदेशा की योजना भी दर्शनीय है :—

सगो रो मोरा बोलन सामे ।

मनु पावस को टेरि बोलावन तामो धनि अनुरागे ॥

×

×

×

देखि सखि चन्दा उदय भयो ।
 कबहूँ प्रगट लप्यात कबहूँ बदरी की झोट भयो ॥
 कारत प्रकास कबहूँ कुंजन में छन छन छिवि जाय ।
 मनु प्यारी मुख-चंद देखि के घूँघट करत सजाय ॥
 इस प्रकार हमें प्रकृति के बड़े सुन्दर वर्णन इनकी रचनाओं में मिलते हैं परन्तु वे सब प्राये उद्दीपन के रूप में ही हैं ।
 भारतेन्दु जी बहूँ जे यह बात हमें उनकी रचनाओं से ज्ञात होती है ।
 उनकी रचनाओं पर जयदेव के गीतगोविन्द, मूर, तुलसी, भीरा भीर
 बिहारी आदि का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । गीतगोविन्द के निम्न श्लोक
 का कुछ शब्द सहित भाव हमें इनकी 'वर्षा-विनोद' रचना में मिलता है—

गीतगोविन्द—

ललित-लवंग-लता-परिदोलन-कोमल-मलय-समोरे
 मधुकर-निकर-करन्वित-कोकिल-कूजित-कुंज-कटोरे,
 हरिहरिह बिहरति सरस-वसन्ते नृत्यति,
 युवतिजनेन समं सखि विरहि-जनस्य दुरन्ते ॥

वर्षा विनोद—

हरि हरि हरिहरिह बिहरत कुजे मन्मय मोहन बनमाली ।
 थी रापाय समेतो शिलिशेखर शोभाशाली ।
 गोपीजन-विधुबदनबनग-बन मोहन मत्ताली ।
 गावति निज दासे 'हरिचन्दे' गल-जालक मापा-जाली ॥

'गीतगोविन्दानन्द' तो जयदेव की कविता का अनुवाद ही है । इस
 पुस्तक में उपरिलिखित श्लोक का अनुवाद हम प्रकार है—

हरि बिहरत लखि रसमय वसन्त ।
 जो बिरही जन कहूँ पति दुरंत ॥
 वृन्दावनि-कुंजनि मुख समंत ।
 नाचत गायत कामिनी-कंत
 लं सखित लवंग-लता-मुपास ।
 डोलत कोमल मलयज पतास ॥
 पल्लि-पिक-वसरव सहि ध्यात पास ।
 रह्यो गुंजि कुंज गह्वर प्रयास ॥

इनके राधादृष्टि विषयक पदों में मूर का बड़ा प्रभाव है । देखिए

प्रबोधनी में तुलसी और भारतेन्दु जी की किम्ब पंक्तियों में कितना साम्य है—

तुलसी—तमचुर मुलर गुनदू मेरे प्यारे ।

भारतेन्दु—करत रोर तम-चोर..... ।

इसके प्रतिरिक्त तुलसी की विनयप्रिया की सामाजिक प्रणाली का भी हमें यत्र-तत्र प्रभाव दोष पड़ता है, उदाहरणार्थ इनका एक पदांश नीचे दिया जाता है—

जयनि राधिरानाय चंद्रावली-प्रानपनि,
घोष - कुन - सखल - संताप - हारी ।
गोपिका-कुमुद-वन-चंद्र सांवर वरन,
हरन बहु विरह धानंदकारी ॥

मीरा की प्रणाली पर राजस्थानी भाषा में भी इन्होंने कई पद बनाए, यथा—

बेनां धारो प्यारा बनवारी शूरी ओर ।

× × ×

पानं जग बीनदपाल कहै छं ज्यों शूरी मुरत बिसारी ।

प्राण बान होखें मोहि प्यारा होछुं दासो पारी ॥

‘सतगुरु-विहार’ में बिहारी के दोहों का भाव ज्यों का त्यों सुरभित है,

अंगे—

मेरी भव-बापा हरो राधा भागरि सोइ ।

जा तन की भाईं परं स्वाम हरित दुति होइ ॥

स्वाम हरित छुनि होइ परं जा तन की भाईं ।

पाव पसोठत सात सखन मांकरे बन्दाईं ॥

धी ‘हरिचंद’ विमोग पीत पट भिनि दुनि टेरी ।

नित हरि जा रंग रंगे हरी बाधा सोइ देरी ॥

इसी प्रकार बिहारी के २५ दोहों का भाव इन्होंने इस पद्य में उत्तुल्ल रोचि मे संविन किया है ।

भारतेन्दु जी ने विन-विबिन्न कवितार्थ भी की है । ‘मनोदुष्ट-पाना’ में मृत्प्राणी विनयोरिका की प्रशंसा में दूगवेडी-मार्गमोक-नरोविनिगा, चकमयी, रंगविनिगा, ममृत्न एवं ममृन्न कविता उनकी विबिन्न रचि की परिधाविगा है । इनका प्रभाव: एक-दूसरे उदाहरण नीचे दिया जाता है—

G बन्धु E स घ C स बल हरहु प्रजन की P र ।
(जीवहु ईस प्रसीस बल हरहु प्रजन की पीर)

× × ×
करि वि ४ देख्यो बहुत जग विनु २ स न १ ।
(करि विचार देख्यो बहुत जग विनु दोस न एक)

× × ×
—दुति करि बैरि भट्ट—मुल मसि लाय ।
—परिजन—लित—हि इत पठवाय ॥

पीरे दुति करि बैरि भट्ट कारे मुल मसि लाय ।
हरे पीरजन नील लित लाल हि इत पठवाय ॥

× × ×
धूमत्सवंगुणाम्बुधेजंनमनोवाणीविद्वुराकृतेनिरया-
नंदघनस्य पूणकरुणासारजंनान् सिचतः ।
शक्ति. श्रीपरमेश्वरस्य जनताभाग्यैरवाप्तोदया—
साम्राज्यंकनिकेतनं विजयिनी देवी वरीवृध्यते ॥

× × ×
उसको शाहनशाही हर बार मुबारक होवे ।
कंसरे हिन्द का दरबार मुबारक होवे ॥

इन उद्धरणों से उनके प्रगाथ पाण्डित्य और बहुविज्ञता का परिचय मिलता है । ये हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, फारसी, उर्दू, बंगला, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और पूर्वी भादि अनेक भाषाओं के विद्वान् थे । इनकी कविताओं में प्रयुक्त इन भाषाओं के कुछ शब्द एवं उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

फारसी-उर्दू—जल्वा, हूर, नूर, हुस्न, दुनियाँ, मायूक, जुल्फ, नगीली, दाबल, राग, जुदा, तदबीर, खयाल, शिकारी, मियाँ हसरत और दिनवर मादि ।
इन्होंने अनेक राजत भी लिखी, जैसे कि एक उदाहरण ऊपर दिया गया है ।

बंगला—

प्रानेर दिना की करी रे प्रामो बोयाय जाई ।
प्रामो की सरिते पारी बिरह-जंत्रना भारी ॥

राजस्थानी—म्हारी, याने, धारी, छै आदि । इसका उदाहरण मीरा के प्रभाव में दिया जा चुका है ।

गुजराती—

आयो आओ भारत राज भारत जोवाने ।

ईई इरतन हुत एणूं जनम जनमनो सोवाने ॥

ज्यम धन्दोदय जोईं चकोर त्रिय रावे रे ।

ज्यम नव घन आतां लखी मोर बन नाचे रे ॥

पंजाबी—

वेररदी घे सड़िये सगी तेंडे नाल ।

वे परयाहो धारी जो तू मेरा साहवा समी इर्यों विरह-बिहाल ॥

घाहने वालो हो किरर न तुम्ह नू गल्लो दा ज्वाव ना स्वाल ।

'हरीचन्द' ततबीर ना मुम्हो आशक थंतुल-माल ॥

पूर्वी हिन्दी—पियरवा, गरवा, छपल, रहन हो, सोगवा, परदेमवा आदि ।

आओ रे मोरे लठे पियरवा, धाय लागो प्यारी के गरवा ।

संस्कृत का उदाहरण पहले दिया जा चुका है । इन्होंने 'प्रेम-प्रताप' में अष्टपदी, 'मधुमुकुट' में राग बर्गन और 'श्री सीतावल्लभ स्तोत्र' आदि रचनाएँ संस्कृत में ही लिखीं ।

इन्होंने कहीं-कहीं अपनी भाषा में समस्त प्रणाली को अपनाया है । कुछ समस्त पद ये हैं—

जुगल-रूप-रग-धमूत मामुरी, बल्लभ-भद-भमन, गोंग-गानर-रतन, गोविन्दा-मुमुद-वन-पद्म, वज्र-जल-विन-वीर, बनिन्दना-मुञ्ज-नट, रगिष-पूङ्गा-रतन, जुगन-बेनि-रग-रीति, सोर-नितुंज-नायक, हुनि-भन-मानन-बलन-विशामन और गोंग-नुन-योग-मुमुद-मनि आदि ।

इसके अनिश्चित इन्होंने कहीं-कहीं उर्दू के शब्दों में सम्बोधन बड़े हास्य-जनक प्रयुक्त किए हैं । कहीं त्रिय को 'घार' कहा है तो कहीं 'रगिया बे' और कहीं 'गनीनी घीनीं घागे' । तनिक निम्न पंक्तियों पर दृष्टि डालिये—

मयन की मन मारो तरबरिया ।

× × ×

त्रिय सेके घार करो मन हाँगी ॥

× × ×

नशीली आँखों वाले सोए रहो अभी है बड़ी रात ।

×
शिकारी मियाँ वे जुलफों का फन्दा न डारो ।

इन पंक्तियों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई छैना मद
पिए थार-दोस्तों की मर्हकल में खुल पडा है और हाथ लम्बे कर-कर के उन्हें
अपनी शायरी गुना रहा है ।

भारतेन्दु जी ने रेल आदि प्राधुनिक यंत्रों का उल्लेख भी अपनी
कविता में किया है । 'प्रेम-प्रलाप' में वे सत्तार की चलाचली में रेल और तार
का चलना भी वर्णित करते हैं ।

इनकी रचनाओं में कही-कही लिंग आदि की त्रुटियाँ दृष्टिगोचर होती
हैं, यथा—तार घाय के चली, प्रीत के डोर में और प्रकर्ण आदि ।

भारतेन्दु जी की निबन्ध-कला—

हम उनकी निबन्ध-कला पर सूक्ष्मतः विचार करेंगे । भारतेन्दु जी ने मुख्यतः
काव्य, नाटक एवं निबन्ध लिखे । काव्य में प्रायः अतिरञ्जना अधिक रहती है,
अनकार-विधान एवं उक्ति-वैचित्र्य की प्रमुखता होती है और अभिव्यञ्जनाय
शैली में सहजभाव प्रायः कम ही रहता है एवं नाटकों में भी पात्रानुसूल और
देशनालानुसार कथनोपकथन होता है अतः भाषा में नाटकीय दृष्टि से प्रवाह एवं
सौष्टव तो रहता है परन्तु बनापातबाहुल्य होने के कारण वह नैसर्गिक नहीं
रहती । निबन्ध ही एक ऐसी गद्य है जिसमें भावों का सहज किन्तु रमानुसूल
व्यक्तीकरण होता है । प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी गद्य को ही भाषा की
कसौटी माना है । इस दृष्टि से भारतेन्दु जी के निबन्ध बड़ा महत्व और मूल्य
रखते हैं । सर्वप्रथम प्राधुनिक काल में वास्तव में सही बोली गद्य के सस्कर्ताओं
में आप ही का नाम है । आपने भाषा का परिमार्जन करते हुए अनेक मित्रों के
भी इस और घाट्ट किया था ।

इन्होंने पचासों निबन्ध लिखे, जिनमें से 'वैष्णवता और भारतवर्ष' तथा
'भारतवर्षोत्पत्ति कैसे हो सकती है' आदि सांस्कृतिक निबन्ध हैं । साहित्यिक
निबन्धों में 'हिन्दी भाषा', 'श्रीराम ऋतु', 'दिल्ली-दरबार दर्पण' और 'महंदावल'
आदि मुख्य हैं । कुछ निबन्ध जीवन-चरित्र सम्बन्धी भी हैं, यथा—'गुरदास जी
' का जीवन-चरित्र', 'श्री जयदेव जी का जीवन-चरित्र', 'श्री राजाराम शास्त्री
' का जीवन-चरित्र', 'महाराजा मृत्युन्मद' और 'साठे मेघो गार्हिव का जीवन-चरित्र'
आदि । ऐतिहासिक निबन्धों में 'महाराष्ट्र का इतिहास', 'बूंदी का राजवंत',

'बादशाह दरंग', 'उदयपुरोदय' एवं 'काश्मीर हुनुम' आदि प्रसिद्ध हैं। कुछ निबन्ध पुरातत्व-सम्बन्धी भी हैं, जैसे 'दक्कन और श्रीलङ्केव', 'रामायण का समय' और 'मण्डिकणिका' आदि। भारतेन्दु जी ने अनेक हास्यजनक एवं व्यंग्य-पूर्ण लेख भी लिखे। इस श्रेणी में 'कंकड स्तोत्र', 'मदिरामचरित्र', 'स्त्री सेवा-पद्धति', 'स्वर्ग में विचार करना का अधिवेशन' और 'पाँचवें दिसम्बर' आदि आते हैं।

भारतेन्दु जी भारतीय संस्कृति के उपासक थे। यद्यपि वे नवीनता से प्रभावित थे तथापि भारतीय श्रुतियाँ एवं उदारता के वे आशास्त्र आदर्श थे अतः उन्होंने जो सांस्कृतिक निबन्ध लिखे, उनमें भारतवर्ष एवं यहाँ की प्राचीन संस्कृति का ही महत्त्व प्रदर्शित है। उनमें एक अन्तःप्रेरणा है, जागृति है और है एक पथप्रदर्शन।

इनके साहित्यिक निबन्धों में हमें इनका स्व-वैचित्र्य दिखाई पड़ता है। इनमें विषय-विभिन्नता के साथ-साथ शैली-साधक्य और भाषा-विभेद भी दृष्टि-गोचर होता है। इनकी बुद्धि की प्रसरता, अस्तित्व की मजबूती और हृदय की सरसता इन लेखों में पूरतः विनक्षित हुई है। बाली का वैदग्ध्य भी प्रचुरमात्रा में है। हमने व्यंग्य के निबन्धों को पृथक् लिखा अथवा है परन्तु वास्तव में वे इसी श्रेणी में आते हैं। इनके व्यंग्यात्मक निबन्ध बड़ी मार्मिकतापूर्ण हैं। इन्होंने इन निबन्धों में आलोचना भी की है, व्यंग्य भी बने हैं और उपहास भी किया है। 'स्त्री सेवा पद्धति' में एक व्यंग्य विशेष देखा—

"इस पूजा में अश्रुजन ही पाद है, दीर्घ स्वास ही अर्घ्य है, आरवाहन ही आषमन है, मधुर भावण ही मधुकर है, सुवर्णानंकार ही पुत्र है, धँपे ही धूर है, दोनता ही दीरक है, चुन रहना ही चन्दन है और बनारसी माड़ी ही विस्मय है..."

"हे स्त्री देवी! संसार स्त्री आश्रय में तुम पुनराय हो, क्योंकि बाट-बाट में आश्रय में चला देती हो, पर जब पकता देती हो तब समुद्र में डूबना पड़ता है अथवा पर्वत के शिखरों पर हाड़ चूरी हो जाते हैं। जीवन के मार्ग में तुम देनगारी हो; किम समय समारम्भों एञ्जितन लेख करती हो एक पक्ष पर में शेरुह भुवन शिखता देती हो, कार्यक्षेत्र में तुम अनेकियुक्त टेनीजक हो, बाट पकने पर एक निमित्त में उगे देन-देनागर में पड़ैया देती हो, तुम अथ-नागर में अराज हो, बग अथम को पार करी।

"तुम बाबु हो क्योंकि अजत को प्राण हो; तुम्हें छोड़कर किसी देर भी मरते हैं।"

“तुम धमि हो बयोकि दिन-राति हमारी हृष्टी-हृष्टी जलाया करती हो ।” उपयुक्त उद्धरणों में स्त्री की पूजा में विविध उपकरणों एवं स्त्री के अनेक आरोपों का कंसा सुन्दर एवं हास्यास्पद वर्णन है ।

इसी प्रकार इन्होंने अंग्रेज स्तोत्र में अंग्रेजी पर बड़ी सुन्दर फबतियाँ कसी हैं । कंकड़स्तोत्र में काशी-म्युनिसिपैलिटी की दुर्व्यवस्था पर व्यंग्य कसे हैं । मड़क पर कंकड़ों से बरमात में कीचड़ हो जाती है और उससे लोगों की नया दशा होती है, इसका चित्रण है । इसके अतिरिक्त उरसवों में कंकड़ सिर भी फोड़ते हैं, इसका तनिक चमत्कार देखिए—

‘...साहिब कमिशनर, साहिब मजिस्ट्रेट और साहिब सुपरइन्टेण्डेण्ट के इसी नगर में रहते और साढे तीन-तीन हाथ के पुलिस इसपेक्टरोँ और कांस्टिबलों के जीते भी गणेश चतुर्थी की रात को स्वच्छन्द रूप में नगर में मड़ामड लोगों के सिर पड कर दधिर घारा से नियम और शान्ति का अस्तित्व बहा देते हो अतएव हे अंग्रेजी राज्य में नवाबी स्थापक ! तुम को नमस्कार है ।’

‘मदिरास्रव राज’ में व्यंग्य खुलकर खेला है । एक स्थान में वे लिखते हैं—

‘हे सर्वानन्द सारभूते ! तुम्हारे बिना किसी बात में मज्जा नहीं मिलता । रामलोला तुम्हारे बिना निरी सुपनखा की नाक मालूम पड़ती है, नाच निरे फूटे काँच और नाटक निरे उच्चाटक बेवकूफी के फाटक दिखाई पड़ते हैं अतएव हे मजे की पीटरी तुम्हें प्रणाम है ।’

हे मुखकज्जलावनेपके ! होटन नाच जाति पांति घाट-घाट मेला तमाशा दरवार मोहदौर इत्यादि स्थान में तुम्हें लेकर जाने से लोग देखो कौसी स्तुति करते हैं अतएव हे पूर्वपुरुषसचितविद्याधनगजसंपदकोदिजन्यकठिनप्राप्त्यप्रतिष्ठा-समूहसत्यानासनि ! तुम्हें बारबार प्रणाम ही करना योग्य है ।”

इसी प्रकार ‘स्वर्ग में विचार समा’ एवं ‘जाति विवेकिनी सभा में’ भी बड़े चित्ताकर्षक सामाजिक व्यंग्य हैं ।

इनके जीवन-चरित्रों का संप्रहृ ‘चरितावली’ और ‘पंच पवित्रात्मा’ में है । इन निबन्धों में कोई जीवन के तथ्यों का या उसके वास्तविक स्वरूप का चित्रण नहीं है बरन् व्यक्तियों को महानता एवं असाधारणता की प्रगट करने के लिए घटनाओं के वैचित्र्यपूर्ण वर्णन हैं ।

ऐतिहासिक निबन्धों में इन्होंने बड़ी गम्भीर एवं श्रेष्ठपूर्ण विवेचना की है । ‘काश्मीर ब्रह्मण्ड’ में काश्मीर का इतिहास है । इसकी भूमिका इतिहासकारों के लिए बड़ी लाभप्रद है । इसी प्रकार ‘बादशाह-दर्पण’ की भूमिका मुस्लिम एवं अंग्रेजी दासन-प्रणाली पर पर्याप्त प्रकारा बामती है । परन्तु इसमें अंग्रेजों

की अपेक्षा मुसलमानों की बटु आलोचना है, निम्नवा कारण यही था कि इस समय अंग्रेजी राज्य था और अंग्रेजों की आप पर विशेष कृपा थी। इन्होंने इस प्रकार के निबन्धों में इतिवृत्तात्मकता को ही ग्रहण किया है। प्रायः राजपरानों के इतिहास और कुछ घटनाओं का वर्णन है।

इनके पुरातत्व-सम्बन्धी निबन्धों से ज्ञात होता है कि उन्हें शिलालेख आदि का भी पर्याप्त ज्ञान था। इन लेखों में भी ऐतिहासिकता को ध्यान बनाया गया है।

भारतेन्दु जी के सभी निबन्ध बहुत छोटे हैं। उनमें हमें सूक्ष्मता कम ही दृष्टिगोचर होती है। भावों का गम्भीर विश्लेषण नहीं है, केवल वस्तु-वर्णन की प्रधानता है अतः कह सकते हैं कि इतिवृत्तात्मक लेखों को अपनाया गया है। विषय-दृष्टि से उनमें सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, नैतिक एवं ऐतिहासिक आदि सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ऐतिहासिक निबन्धों में राजपरानों का वर्णन बड़े अनुक्रम एवं ऐतिहासिकता लिए हुए है। इसी प्रकार व्यंग्यात्मक निबन्धों में भी हास्य, व्यंग्य एवं आक्षेप आदि की महत्व एवं विविध उद्भावना मिलती है।

भाषा का परिष्कार इन्होंने किया तो था परन्तु पूर्ण रूप से ही न करा क्योंकि इनके निबन्धों में भी भाषा-सम्बन्धी अनेक त्रुटियाँ एवं असुविधाएँ दिग्गन्दाई देती हैं। उदाहरणार्थ कुछ असुविधा शब्द एवं वाक्यांश नीचे दिए जाते हैं—

जगन की प्राण, जो सक्ते है, तुम ही, इतने, मुपनगा, घोडदोर, गर्द (सही), आलम बड़ गर्द, बरताव, रीज, निदा बिजा, आजा दिवा, मेरा देह, मेरे जान यह नामकरण रूपमें है, सगंगा, सेरा और वाय्य प्रकाश होने है, आदि।

बही-बही पर बिराम-बिहल ही दूर मत्र नहीं आगे, मया—

“पहले तैमूर के बान बानों की मुलाकात हुई फिर, श्री महाराज बिरजानगरम् और उनके कंधर की इगो भानि सब लोगों का जान बोनने गए और गलाय होनी गई थी महाराज बिरजानगर भी बाईं घोर लड़े हो गए थे जब सब लोगों की हाकिरी हो चुकी। धीजुइ सारे ताहिब कोटी पपारे घोर सब लोग इग बंदीदह में छुट छुटकर अपने-अपने पर आए।”

बही-बही पर असेबी, हिन्दी और उर्दू के शब्द एक ही वाक्य में साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं—

“इसके अनन्तर धीजुइ बादगाराय गनाज को एडुता करने के अनिज्राय

से खड़े हुए। श्रीमूत वाइसराय के खड़े होते ही सामने के चतूतरे पर जितने बड़े-बड़े राजा लोग भीर गवरनर प्रादि अधिकारी ये खड़े हो गए पर श्रीमूत ने बड़े ही आदर के साथ दोनों हाथों से हिन्दुस्तानी रीति पर कई बार सलाम करके सबसे बैठ जाने का इशारा किया।

किसी-किसी लेख में हम उर्दू-फारसी के शब्दों की इतनी भरमार देखते हैं कि भयं समझना कठिन हो जाता है, देखिए 'खुशी' की परिभाषा वे निम्न शब्दों में करते हैं—

'हरवदिल स्वाह भ्रामूदगी को खुशी कह सकते हैं याने जो हमारे दिल की स्वाहिया हो वह कोशिश करने से या इतिफाकियः बगैर कोशिश किये वर भावे तो हमको खुशी हासिल होती है खुशी जिन्दगी के फल को कहते हैं अगर खुशी नहीं है तो जिन्दगी हराम है क्योंकि जहाँ तक स्वाल किया जाता है मालूम होता है कि इस दुनिया में भी तमाम जिन्दगी का नतीजा खुशी है।'

इस प्रकार भारतेन्दु जी की भाषा को हम पूर्ण परिमार्जित भाषा नहीं कह सकते। परन्तु इस शैली का श्रेय उन्हीं को है क्योंकि सर्वप्रथम वे ही थे जिन्होंने भाषा-संस्कार का कार्य प्रारम्भ किया। इनकी निबन्ध की भाषा का सब से बड़ा गुण है प्रवाह। शब्द हिन्दी के ही या उर्दू के, वे यथास्थान जड़े हुए से हैं और भाषा की गति में तनिक भी बाधा एव कुरूपता उपस्थित नहीं करते।

भारतेन्दु जी की नाटकीय-फला—

भारतेन्दु जी ने लगभग ८ मौलिक नाटक लिखे और ९ का अनुवाद किया। मौलिक एवं अनूदित नाटकों में दो-दो अनूदित हैं। इनके नाम पहले वरन् क्रमशः बंगला के मूल नाटक एवं संस्कृत के 'वण्डकीशिक' के आधार पर लिखे गये हैं। 'पात्रण्ड-विशंबन', 'धनंजय-विजय', 'बभ्रू' रमंजरी' और 'मुद्राराक्षस' संस्कृत में अनूदित हुये हैं तथा 'दुर्लभबन्धु' संवेजी ने।

इनसे पूर्व नाटक ब्रजभाषा में लिखे जाते थे। यहाँ तक कि इनके पिता ने नट्टय नाटक भी ब्रजभाषा में लिखा था। इनसे पूर्व केवल राजा सद्मणसिंह ने कानिदासकृत 'प्रभिमान साकुन्तल' का अनुवाद सड़ी घोषी गद्य में किया था किन्तु पद्य ब्रज में ही था। परन्तु इसका परिष्करण पञ्चवीम वर्ष तक होता रहा। सर्वप्रथम भारतेन्दु बाबू हरिदचन्द्र ने ही मौलिक नाटक सड़ी घोषी ; लिखे किन्तु पद्य भाग की भाषा ब्रज ही रची।

इनके नाटक प्राचीन नाट्य-शास्त्र के आधार पर लिखे हुए हैं। अधिकांश नाटकों में सर्वप्रथम मंगलाचरण या नान्दी है पुनः सूत्रधार एवं नटी रंगमंच पर आकर मूढम वार्तालाप द्वारा अभिनेय नाटक की सूचना देते हैं। सत्यहरिश्चन्द्र नाटक में ऐसा ही हुआ है। कुछ नाटकों में नटी के स्थान पर पारिपाश्वक है जैसे 'धनत्रय विजय व्यायोग,' 'प्रेमजोगिनी' एवं 'श्री चन्द्रावली नाटिका' में। कुछ नाटकों में मंगलाचरण तो है परन्तु सूत्रधार आदि का वार्तालाप नहीं और कुछ में न मंगलाचरण है और न सूत्रधार आदि का वार्तालाप यथा 'भारत दुर्दशा' नामक साप्तरूपक में मंगलाचरण ही है और 'नीलदेवी' नामक गीतिरूपक एवं 'अधेरनगरी' नाम के प्रहसन में दोनों ही वस्तु नहीं हैं।

कुछ नाटकों में घंटा है, कुछ में दृश्य है और कुछ में घटनाओं का उल्लेख मात्र है। 'हरिश्चन्द्र,' 'श्री चन्द्रावली,' 'मुद्राराक्षस,' 'भारत दुर्दशा' और 'अधेर नगरी' आदि नाटक घंटों में विभक्त हैं परन्तु उन में दृश्य नहीं। 'प्रेमजोगिनी' नाटिका में केवल एक ही घंटा है परन्तु उसी घंटा में चार गर्जाएँ हैं। 'नीलदेवी' में घंटा नहीं है, केवल दृश्य है। इसी प्रकार 'सती प्रताप' में भी केवल दृश्य ही है। कहीं-कहीं नाटकों में विष्णुमन्त्र एवं महावतार भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा 'चन्द्रावली नाटिका' में प्रस्तावना के पश्चात् विष्णुमन्त्र एवं 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटक के तृतीय घंटा में महावतार दिया गया है। मध्य में कहीं-कहीं स्वगत एवं आकाशभाषित भी मिलते हैं। भारतेन्दु जी ने प्राचीन परम्परा के अनुसार 'गण्य हरिश्चन्द्र,' 'चन्द्रावली' एवं 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों के अन्त में भरणवाक्य को भी स्थान दिया है।

'नीलदेवी' इनकी विशेषान्न नाटिका है।

इन्होंने अपने सभी नाटकों का गद्य भाग लक्षी बोली और पद्य भाग ब्रजभाषा में लिखा है। गद्य की भाषा अधिकांश निराली हुई नहीं है। अन्तों के उच्चारण, विंग, ध्वनन एवं वाक्य-विन्यास सम्बन्धी ध्वनिक सुन्दरी एवं सुन्दरी इनके नाटकों में मिलती हैं। ब्रज का रूप सुन्दर है। इन्होंने कविता को अधिकांश स्थान दिया है। कहीं-कहीं पर तो घंटा का घंटा कविता में ही है, यथा 'भारत दुर्दशा' का प्रथम घंटा। इसका छटा घंटा भी कविताबद्ध है। इसी प्रकार 'नीलदेवी' एवं 'सतीप्रताप' में भी प्रथम दृश्य कवितामय ही है। भाषा में आरम्य और गहन प्रवाह है। पद्य भाग अत्यन्त कहीं-कहीं कठिन हो गया है। कहीं-कहीं पर बिगो विशेष भावना के बला में होकर इन्होंने अनिष्टित विषय को भी दृष्ट को भाँति समान् स्थान दे दिया है, जैसे 'गण्य हरिश्चन्द्र' नाटक में

गंगा-वर्णन । कविता में प्रजभाषा के अतिरिक्त यत्र-तत्र संस्कृत का प्रयोग भी किया गया है । 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र में कुछ वार्त्तालाप संस्कृत श्लोकों में है ।

इनके नाटकों में रम का परिपाक अच्छा हुआ है और प्रसादगुण की प्रधानता है । 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेरनगरी चौपट राजा' आदि प्रहसनो में बड़ा नीत्र व्यंग्य और प्रबल हास भरा हुआ है । उक्तियों में बड़ी विचित्रता विन्तु नैसर्गिकता दोष पड़ती है ।

नाटक प्रायः सभी अभिनेय हैं, जिनमें से कई नाटक तो बड़ी सफलता से खेले जा चुके हैं । 'सत्य हरिश्चन्द्र,' 'भारत दुर्दशा' और 'अन्धेर नगरी' आदि तो अनेक बार अभिनीत हो चुके हैं । बाबू हरिश्चन्द्र स्वयं एक बड़े अभिनेता एवं नाट्य-शास्त्र के मर्मज्ञ थे अतः उनके नाटकों में नाटकीय कला का सुन्दर रूप हमें मिलता है । यद्यपि वह रूप प्राचीन परम्परा एवं शैली का ही परिणाम है तथापि उसमें कृत्रिमता नहीं है । यदि देखा जाय तो इन्होंने इतिवृत्तात्मक शैली को ही अपनाया है क्योंकि जितना वृत्त, घटना-चक्र एवं यमायं वर्णन को इन्होंने स्थान दिया है उतना भावों के विश्लेषण, जीवन के स्वरूप-निरूपण एवं अन्तःसौष्ट्य को मूल्य नहीं दिया है ।

मुद्राराक्षस—

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने संस्कृत के कवि विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस का हिन्दी-अनुवाद किया । नान्दी के अनन्तर नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त सामंत वटेश्वरदत्त के पुत्र और महाराज पृथु के पुत्र थे । जर्मन प्रो० हिलब्रैंट ने भारत में भ्रमण कर मुद्राराक्षस की अनेक प्रतियों को प्राप्त किया । उनमें से कुछ में ऋषि के पिता का नाम भास्करदत्त भी दिया हुआ है । प्रो० विस्सन ने इनके पिता पृथु को पिषीरा और पृथ्वीराज ही मिथ्य करने का प्रयत्न किया है और वटेश्वर दत्त के विषय में उनका कहना है कि चंद्र ने भाषा में वटेश्वर को मोमेदवर लिख दिया है । परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि पिता और पुत्र दोनों में नाम-साम्य नहीं और न विशाखदत्त नाम का पृथ्वीराज का कोई पुत्र कही लिखा है ।

अपरिलिखित नामों के अतिरिक्त नाटककार ने अपने देग-काल के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है । नाटक में भरत वाक्य के विवरण से इनका उत्तरी भारत का निवासी होना संकेतित होता है । मुद्राराक्षस की किमी-कितो हस्तलिखित प्रति के भरत वाक्य में ध्वनिवर्धन नाम आया है । इतिहास के अनुसार ध्वनिवर्धन दो हुए हैं—एक तो मौलरी राजा हुआ है जिसके पुत्र

ने हर्ष को पुत्री से विवाह किया था और दूसरा काश्मीर का राजा जिसका राजत्व काल सन् ८५५ से ८८३ ई० तक है। प्रो० जैकोबी ने लिखा है कि मुद्राराक्षस में जिस ग्रहण का वर्णन है वह ता० २ दिसम्बर सन् ८६० का ही ग्रहण है। इसी दिन राजमत्री शूर ने इस नाटक का अभिनय कराया था। म० म० हरप्रसाद-शास्त्री लिखते हैं कि इन्होंने गौड़ी रीति का प्रयोग किया है अतः वे गौड़ देश के थे।

उपर्युक्त सूक्ष्म विवेचन से यही फल निकलता है कि विद्यासदत्त महाराज पृथु के पुत्र और सामंत बटेश्वरदत्त के पौत्र थे। ये पृथु पृथ्वीराज और बटेश्वर मोमेश्वर नहीं थे वरन् कोई अन्य थे। नाटक में मंगलाचरण में प्रतीत होता है कि वे शिव-भक्त थे। नाटक की कथावस्तु एवं शैली और उद्देश्य में प्रतीत होता है कि वे इतिहास-विज्ञ, राजनीतिमर्मज्ञ, वीररसप्रिय एवं बहुधुन थे।

नाटक के निर्माण काल के विषय में सर्वप्रथम प्रो० विलसन ने खोज की और मिथ्या किया कि इसमें श्लेच्छ शब्द आया है, जिसका अर्थ भुगतमान है अतः यह अर्थ महमूद गजनवी या मुहम्मद गौरी के समय में बना होगा अतः इसका रचनाकाल ११ वीं या १२ वीं शताब्दी हो सकता है। उन्होंने जैन सायणक जीवसिद्धि नामक पात्र को भी नवीन काल की उद्भावना माना। परन्तु ए० काशीनाथ तैलम ने इसका खण्डन करने हुए इसका रचना काल दशवीं शताब्दी लिखा। उनका कहना है कि दशरूपक में मुद्राराक्षस का उल्लेख तीन बार हुआ है। दशरूपक के रचयिता धनञ्जय परमार राजा मुञ्ज के सम-कालीन थे और मुञ्ज का निधन काल सन् ६६५ के आसपास है अतः यह नाटक अवश्य ही सन् ६६५ में पूर्व बना होगा। इसके अतिरिक्त मुद्राराक्षस के आठवें अंक के तृतीय दशक का भाषा-शार्ङ्गधर में उद्धृत है और उसे मुत्ता-पीठ कृत बननाया है। मुत्तापीठ काश्मीर के राजा मनिनादित्य का ही दूसरा नाम था और उनका काल सन् ७२६ से ७५३ ई० है अतः इसका रचना काल भी यही है। नाटक की हस्तलिखित प्रति में धवन्निवर्तन का नाम आने से जैकोबी आदि विद्वानों ने विद्यासदत्त का समय ६ वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना है अतः इस नाटक का रचनाकाल भी वे यही मानते हैं।

उपर्युक्त समीक्षण से प्रतीत होता है कि इस अर्थ का निर्माण ईसा की आठवीं या नवीं शताब्दी में हुआ। नाटक में जो पाठानुसूच का वर्णन है, उगमे भी नाटक की अतिप्राचीनता ज्ञात नहीं होती।

कहा जा चुका है कि मूल नाटक गरुड में है जिसमें राजनीति के दास-देषों का चित्रण है। इसमें शृङ्गार एवं करुण रस का तो निरालंघन अभाव है।

अन्तिम अंक में चन्दनदास की स्त्री अक्षय्य रंगमंच पर भाकर कुछ करण दृश्य उपस्थित करती है परन्तु वहाँ भी करण रस अपने वास्तविक रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता । उसके वचनों में कर्तव्यपरायणता ही झलकती है अतः शोक का पूर्ण उद्भाव नहीं होता । इसके अतिरिक्त स्त्री-पात्रों का भी अभाव सा ही है । अतः इस नाटक में माधुर्य गुण कम ही है । वीर-रस-प्रधान नाटक होने से इसमें शोज गुण अपने सुन्दर रूप में मिलता है । कही-कही हास्य का पुट भी है ।

यह नाटक सात अंकों में समाप्त हुआ है । इसकी कथा इतिहास से ली गई है । इतिहास-प्रसिद्ध मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त इसके धीरोदात्त नायक हैं । नाटक का उद्देश्य नन्दवंश का सर्वनाश कर महाराज चन्द्रगुप्त को शासक बनाना एवं उनकी राज्यश्री को स्थिर करने के लिए नन्द के स्वामिभक्त मंत्री राक्षस को उनसे मिलाना है । यही आधिकारिक कथावस्तु का मूल स्रोत है । उपर्युक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रथम अंक में राक्षस की मुद्रा की अंगूठी का प्राप्त करना, शंकरदास से झूठा पत्र लिखवाकर उसे चाणक्य के घर सिद्धार्थक को सौंपना, जीवसिद्धि को देश निकाला देना और चन्दनदास का बन्दी होना वर्णित है । द्वितीय अंक में शंकरदास का सिद्धार्थक के साथ भागना, सिद्धार्थक का राक्षस की सेवा में रहना, मलयकेतु के धामूपणों को सिद्धार्थक द्वारा लेना और मुद्रा को लौटा देना तथा पर्वतक के महनों को राक्षस के हाथ बेचना वर्णित है । तृतीय अंक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य का पारस्परिक कृत्रिम कलह है । यह सब उद्देश्य की प्राप्ति के लिये यत्न हुआ है । चतुर्थ अंक में मलयकेतु का राक्षस पर शाका करना और चाणक्य के गुप्तचर भागुरायण पर विश्वास करना तथा पंचम अंक में मलयकेतु का राक्षस से विग्रह एवं पुनः बन्दी होना उद्देश्य की प्राप्त्याशा को उत्तेजित करता है । षष्ठम अंक में चन्दनदास की रक्षा के लिये चाणक्य के घर द्वारा बाध्य किये जाने पर राक्षस का चन्द्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर बाध्य-स्थान को जाना निष्ठापित है और अष्टम अंक में राक्षस का मंत्रीपद ग्रहण करना पत्न्यागम है ।

अर्थप्रकृति की दृष्टि से राक्षस को चन्द्रगुप्त का मंत्री बनाना इस नाटक का बीज है । राक्षस से मुद्रा को प्राप्त कर उसके प्रयोग द्वारा मलयकेतु को घोसा देना बिन्दु है । विरायगुप्त का राक्षस को यह बतलाना कि उसके प्रयत्न निष्फल हुए, इसमें पताका है । राक्षस को चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मिथ्या कलह का समाचार देना प्रकरो है और राक्षस का मंत्रीपद ग्रहण करना कार्य है ।

नाटक का सम्पूर्ण कथागत एक वर्ष के अन्दर का है । नाटक का आरम्भ जीवसिद्धि के विषकन्या के प्रयोग द्वारा मलयकेतु के पिता पर्वतक के

मारने के अपराध में निर्वाणित किये जाने से होता है। धनुष्यं प्रक में मलयकेतु माधुरायण और कंचुकी के ममल दीपं श्वास लेकर कहता है कि आज पिता की मृत्यु हुए दस मास हुए। मलयकेतु पिता की मृत्यु के पश्चात् हा रादास से जा मिला था और उमका उपयुक्त कथन उमी के यहाँ का है। इसके पश्चात् तीन प्रकों की कथा का समय दो मास से अधिक का नहीं अतः सम्पूर्ण कथानक केवल एक वर्ष का ही है।

प्रस्तुत अनूदित नाटक में कवितांग अत्र में है और शेष सही बोली में। अत्र सही बोली की अपेक्षा अधिक श्लेष रूप में है। क्योंकि गद्य भाग में अनेक अशुद्धियाँ एवं शुद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, यथा—शृषा विद्या, बोलीगा, एमा शंवा “बैसे ही मेरा सहपाठी मित्र विष्णुनाम नामक ब्राह्मण जो मुन्ननीति और चौसठो कला से ज्योतिष शास्त्र में बड़ा प्रवीण है, उसे मेने पहले ही योगी बनाकर... ..” आदि। पद्य भाग का अनुवाद अच्छा हुआ है, उदाहरणार्थ कुछ श्लोक अनुवाद महित नीचे दिए जाते हैं—

मूल श्लोक—

यन्या केय स्थिता ते निरसि शशिकला, चिन्नु नामंतदस्याः
नामंवास्यास्तदेतत् परिचितमपि ते त्रिस्मृतं कस्य हेतोः।
मारीं पृच्छामि ननुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
बन्ध्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरतरितं शाठ्यमव्याद्विभोषः॥

अनुवाद—

बोन है शीन पं 'खड्गकला' कहा धारो है नाम यही त्रिपुरारी।
हो यही नाम है, भूत गई तिमि जानतू तुम प्रान-नियारी।
मारीं हू पूछत खरहि, नाहि, कहे विजया जदि खंड सवारी।
यो निरिजे धनि गंग दियावन ईत हरी सब पोर मुम्हारो ॥

श्लोक—

प्राकारान् पतिः शरासनपरः शिप्रं परिःस्पनाम्।
द्वारेषु द्विरहं परद्विपघटाभेदशर्मः स्वीयनाम्।
मुक्त्वा मुचुभयं प्रहसुं मनतः शत्रोबन्ते कुबन्ते।
ते निर्वान्नु मया सहस्रमनतो देवामभोष्टं यतः॥

अनुवाद—

अज्ञो सं गरं पादु धरो दृटा बों।
धरो द्वार पं कुंबरं ज्यो घटा बों।

कहो जोधनें मृत्यु को जीति घावे ।
चले संग में छाँड़ि कै कीति पावे ॥

इन उद्धरणों में अनुवाद पर्याप्त निखरा हुआ है और शब्द-भावानुबल है। द्वितीय में तो अनुवाद और भी सुन्दर रूप में दृष्टिगोचर होता है। शब्द छोटा होते हुए भी शब्दों की योजना में भाव ज्यों का त्यों संरक्षित है।

भारतेन्दु जी का स्थान—

भारतेन्दु बाबू हरिदचन्द्र आधुनिक काल के साहित्यकारों में सर्वप्रथम हुए हैं। वर्तमान काल के चार भागों में प्रथम भाग आपके ही नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने चौतीस वर्ष के लघु जीवन में लगभग सोलह वर्ष ही साहित्य का सृजन किया। परन्तु वह इतना और बहुरंगी है कि साधारण बुद्धि का व्यक्ति तो उसका चतुर्पाश भी निर्मित न कर सकता। आप सफल प्रतिभाशाली कवि, नाटक-कार एवं निबन्धकार थे। साथ ही प्रतिष्ठित वक्ता, निडर आलोचक एवं आकर्षक अभिनेता थे। स्वयं तो साहित्य-मन्दिर के पुजारी थे ही, साथ ही प्रतापनारायण मिश्र एवं बदरीनारायण चौधरी आदि अनेक महानुभावों को भी सरस्वती का प्रगाढ़ आराधक बनाया। यद्यपि इनके समय में रीति-परम्परा के अनुसार कविता की भाषा ब्रज ही रही परन्तु गद्य में खड़ी बोली का व्यवहार होने लगा। इसकी स्थापना करने वालों में सर्वप्रथम और श्रेष्ठ होने के कारण आप का स्थान और महत्त्व वही है जो किसी भवन की नींव रखने वाले का होता है और आपकी कृतियों का भी वही मूल्य है जो नींव का होता है। आप संस्कृत, हिन्दी, (खड़ी, ब्रज, पूर्वी), फारसी, उर्दू, अंग्रेजी, पंजाबी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी और मराठी आदि अनेक भाषाओं के पण्डित थे। इस प्रकार आप बहुभाषाविद, बहुमुखी साहित्यज्ञ, भोजस्वी वक्ता, मनोहर अभिनेता, हिन्दी के परम भक्त और साहित्य के भग्धकारावृत्त उपवन में मार्ग-प्रदर्शक आदि सभी कुछ थे। आपके भावों में एक सहज भाव, भाषा में सुगति और शैली में प्रौढ़ता है। अतः तत्कालीन साहित्यकारों में तो आपका स्थान अद्वितीय है और मार्ग-प्रदर्शक होने के नाते आपका स्थान साहित्य में ही नहीं सभी के हृदयों में सदैव के लिये बन गया है।

जगन्नाथ दास रत्नाकर

ब्रजभाषा के महाकवि जगन्नाथ दास रत्नाकर का जन्म सं० १६२३ में ऋषि-संघमी के दिन काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम पुरपोत्तम दास था। इनके पूर्वज पानीपत के विनान्तगंत सफीदों ग्राम के निवासी थे, जहाँ में वे मुगल-सम्राट् अकबर के गिहामनासुद् होने पर दिल्ली चले गये थे। बहुत बाल तक वे मुगल-दरबार में प्रतिष्ठा पाते रहे किन्तु औरंगजेब के पदचान् जब मुगल-साम्राज्य क्षिप्त-मिथ्र हो गया तो इनके तत्कालीन पूर्वज जहाँदार शाह के साथ काशी चले आये। यहाँ वे हिन्दी बाने वैश्य कहलाने थे।

इनके पिता फारसी के अच्छे विद्वान् थे। भारतेन्दु बाबू हरिदचन्द्र उनके मित्रों में से थे और वे प्रायः उनके गृह पर आते-जाते थे, जहाँ कवि-गोष्ठियाँ होती रहती थी। बाबू पुरपोत्तम दास की भी हिन्दी में रचि होने लगी। उनके साथ उनके सुपुत्र रत्नाकर भी उन गोष्ठियों में जाते और कविताएँ सुनते थे। इसका उन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वास्तव में इसी समय के जमे हुए अक्षुर ने ही उनके हृदय में ऐसे विज्ञान वृक्ष का रूप धारण किया, जिसने पुष्पित होकर धार्मिक धरती सुरभि की प्रगारित किया।

इनकी निशा-दीशा काशी में ही हुई। सं० १६४८ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। इन्होंने अष्टम-बाल में फारसी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। सं० १६४७ में वे अक्षयगढ़ रियासत में एक उच्च पदाधिकारी नियुक्त हुए परन्तु स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण इन्हें दो वर्ष पश्चात् ही वह स्थान छोड़ना पड़ा। तदनन्तर अयोध्या के महाराज प्रतापनारायण सिंह ने इन्हें अरना मंत्री नियुक्त किया। इन्होंने इनकी नियुक्ता से कार्य किया कि शीघ्र ही प्रथम मंत्री बना दिये गये। महाराज के निधनोत्तरान महारानी ने भी उगी प्रकार इन्हें सम्मानित किया।

वे अक्षरी, फारसी, हिन्दी और उर्दू के उत्कृष्ट विद्वान् थे। इन्हें मस्तूज का भी अच्छा ज्ञान था क्योंकि इनके अक्षरों पर अक्षरों के अक्षरों का पर्याप्त प्रभाव

है। नौकरी करते हुए इन्होंने साहित्य की भी बड़ी सेवा की। भारतेन्दु जी की कवि-मंडली में सरदार, सेवक, हनुमान एवं नारायण आदि बड़े कलाविद कवि थे। रत्नाकर जी ने उनके सम्पर्क से अपनी प्रतिभा को और भी प्रखर किया। इन्होंने बी० ए० पास करने से पूर्व ही स० १६४६ से ब्रजभाषा में कविता करना प्रारम्भ कर दिया था और शीघ्र ही इतनी सुन्दर कविता करने लगे थे कि बड़े-बड़े कवि उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। वास्तव में ब्रजभाषा के कवियों में जगन्नाथ दास रत्नाकर अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। लगभग पैंसठ वर्ष की आयु तक दिग-दिगन्तो को मुरझित कर स० १६८६ में धापाड़ कृष्णा ३ को हरिद्वार में यह महान् विभूति भ्रसार संसार से उठ गई।

रचनाएँ—

इन्होंने अनेक रचनाएँ की, जिनमें ये प्रमुख हैं—

(१) हिडोला

(२) हरिदचन्द्र

(३) समालोचनादर्श

(पोप कविकृत 'ऐसे प्रॉन किटिसिज्म' का अनुवाद)

(४) घनाक्षरो-नियम-रत्नाकर

(५) कलकाशी

(६) अष्टक रत्नाकर

(७) गंगावतरण

(८) उद्वेग दातक

इन्होंने बिहारी सतसई की टीका भी की जो परिमार्जित खड़ी बोली में है। बिहारी सतसई पर लगभग ६० टीकाएँ मिलती हैं परन्तु वे इनकी बिहारी-रत्नाकर नामक टीका के पासंग में भी नहीं उतरती।

रत्नाकर जी के काव्यों में 'गंगावतरण' एवं 'उद्वेग दातक' ही अत्युत्तम काव्य ग्रंथ हैं। यों तो भाषा, भाव एवं कला की दृष्टि से इनके सभी काव्य श्रेष्ठ हैं परन्तु इन दो काव्य एवं उपयुक्त टीका ने ही इन्हें अमरता प्रदान की है अतः हम इन रचनाओं पर ही सूक्ष्म विचार करेंगे।

गंगावतरण—रत्नाकर जी ने गंगावतरण की रचना मत्त-भाव से की। हिन्दी में केवल पद्माकर ने 'गंगा-सहरी' लिखी थी। इसके प्रतिरिक्त यत्र-तत्र गंगा की स्तुति तो मिलती है, यथा तुलसीदास ने रामचरितमानस एवं विनयपत्रिका में तथा हरिदचन्द्र ने हरिदचन्द्र नाटक में गंगा की स्तुति की है।

परन्तु स्वतंत्र रूप से ग्रंथ किसी ने नहीं लिखा था। इस ध्रुमाव की पूति रत्नाकर जी ने की।

गंगा का माहात्म्य वैदिक काल से चला आ रहा है परन्तु वैदिक काल में इतनी प्रतिष्ठा नहीं हुई जितनी पौराणिक काल में। शिव, शक्ति एवं विष्णु की उपासनायें पुराणों में पर्याप्त लिखी गयी। कुछ पुराण तो केवल इनमें से एक की ही उपासना के लिए लिखे गये। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' एवं 'विष्णु पुराण' में विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध करते हुए उनकी धाराधना एवं पूजा पर पर्याप्त बल दिया गया। 'भागवत पुराण' में भी उन्हीं की महिमा गाई गई है। 'शिव पुराण' में शिव का माहात्म्य स्थापित किया गया है तथा 'देवी भागवत' में शक्ति की शक्ति को ही सर्वोपरि माना है। इन प्रकार भिन्न-भिन्न पुराणों में इन शक्तियों की सर्वोपरिता एवं श्रेष्ठता सिद्ध की गई है परन्तु गंगा का माहात्म्य अन्य पुराणों की भाँति इन पुराणों ने भी समान रूप से माना है। प्रारम्भिक पुराणों में गंगा को मरुत्योक्त्वाहिनी माना है। 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' ने इसे इहलोक प्रवाहिनी तो माना परन्तु इसे गोलोक की वस्तु बना दिया। इसी प्रकार धामे-धामे पुराणों में इसका माहात्म्य बढ़ता ही चला गया। यहाँ तक कि यह स्वर्ग से चमकर मरुत्योक्त में घाकर पाताल में भी पहुँची। भगवान् विष्णु के धरणा-मल से ये उत्पन्न हुई, पुनः ब्रह्मा जी के बमण्डल में धुमंड सेती रहीं और तदनन्तर शिव जी के जटापाश में धारण हो रमण करती रहीं। यह सब मन्त्रों की शाली के विभाग का परिणाम था। आदि कवि बाल्मीकि ने तो रामायण के ३५वें सर्ग में गंगा की उत्पत्ति हिमवान् और मैना से मानी है। उन्होंने लिखा है—

शंभेन्द्रो हिमवान्नाम धात्रुनामाकरो महान् ।
 तस्य जन्पाद्वयं राम रूपेणाग्रनिमं भुवि ॥
 या मेरुदुहिता राम तपोर्माता मुमक्ष्यमा ।
 माम्ना मेना मनोज्ञा धं पत्नी हिमवतः प्रिया ॥
 तस्यां गंगेयमभवत्प्रयेष्ठा हिमवतः गुना ।
 उमा नाम द्वितीयाभूत्कन्या तस्यैव राषय ॥

इसमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि गंगा हिमालय से उद्भूत एक नदी थी। रामायण में लिखा है कि देवताओं ने देवहितार्थ एवं तीनों लोकों के कल्याण के लिये हिमवान् से गंगा को स्वर्ग में से जाने की प्रार्थना की। हिमवान् ने उन्हें सहर्ष भस्त्री पुत्री समर्पित कर दी और वे गंगा को लेकर स्वर्ग चले गये—

भय ज्येष्ठां सुराः सर्वे देवकार्यचिकीर्षया ।
 शंलेन्द्रं वरयामासुर्गंगां त्रिपयगां नदीम् ॥
 ददौ धर्मैश्च हिमर्वास्तनयां लोकपावनीम् ।
 स्वच्छन्दपयगां गंगां त्रैलोक्यहितकाम्यया ॥
 प्रतिगृह्य त्रिलोककार्यं त्रिलोकहितकालिणः ।
 गंगामाहाय तेषमच्छन्दकृतार्थेनान्तरात्मना ॥

इन श्लोकों में स्पष्ट ही गंगा को नदी लिखा है परन्तु साथ ही हिमवान् की पुत्री के रूप में वर्णित किया है । उसे इतना पवित्र भी बतलाया गया है कि देवता भी उसे स्वहितार्थ एवं त्रैलोक्य-कल्याणार्थ देवलोक में चाहते थे और इषीलिये वे ले गये । भागे-भागै इसका माहात्म्य पुराणों में और भी बढ़ता गया । कहने का तात्पर्य यह है कि गंगा ने देवी का रूप धारण कर लिया, यहाँ तक कि शैवों ने शिवप्रिया मानी और वैष्णवों ने भक्ति-वापविनाशिनी कहा ।

रत्नाकर जी ने भी गंगा का माहात्म्य वर्णित करने के लिये ही इस ग्रन्थ को लिखा । इसमें १३ सर्ग हैं, जिनमें से १२ सर्गों का आधार वाल्मीकि-रामायण है । केवल चतुर्थ सर्ग ऐसा है कि जिसका आधार ब्रह्मवैवर्त पुराण एवं देवी-भागवत पुराण हैं क्योंकि उन्हीं के अनुसार इसमें गंगा की उत्पत्ति गोलोक में विष्णु से मानी गई है । ब्रह्मवैवर्त पुराण में 'श्रीकृष्णाद्भ्रसम्भूताम्' और देवी-भागवत में 'कृष्णविग्रहसम्भूतां' कहकर कृष्ण से उसकी उत्पत्ति मानी गई है ।

सोप बारह सर्गों का आधार रामायण के ३६ से ४४वें सर्ग तक छः सर्ग हैं । रामायण में कथा सूक्ष्मतः लिखी हुई है परन्तु गंगावतरण में उसे बड़ा विस्तृत कर दिया गया है । इसके नवें सर्ग से त्रयोदश सर्गों तक की कथा का आधार केवल निम्न-लिखित एक श्लोक है—

जगाम च पुनर्गङ्गा भगीरपरधातुगा ।

सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा ॥

इनकी इतना विस्तृत किया गया कि कथा में व्यर्थ न रहा, शुष्कन न हो सका वरन् रोचिस्वपूर्ण एक विभूतलता भी घागई । किन्तु प्रायः ये ही सर्ग इनके मौलिक हैं, सोप में तो अनेक रामायण के श्लोकों का ज्यों का त्यों अनुवाद अनेक स्थलों पर मिलता है । उदाहरणार्थ कुछ श्लोक एवं गंगावतरण के पद्यों को नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

रामायण—

धुमतिस्तु नरव्याघ्र गभंतुंबं व्यजायत ।
पष्टि-पुत्रसहस्राणि तुंबभेदाद्विनिसृता ॥

मंगावतरण—

धुमनि ससोनी जनी एक मूर्ध्नी घनि धद्भुत ।
निकते जासौ साठ सहस्र लघु धोज सरित सुत ॥

रामायण—

घृतपूर्णेषु कुंभेषु धाम्र्यस्तान्सनवर्षघन ।
कासेन महता सर्वे मौदनं प्रतिपेदिरे ॥

मंगावतरण—

बीरघ घृतघट घालि पालि ते पाइ बड़ाए ।
समय-सग सब धंग ह्य जोवन घषिबाए ॥

रामायण—

भगवन्मिथी सर्वा सन्यने सगराम्बर्जः ।
महबडब महात्मानो धप्यते जलचारिणः ॥

मंगावतरण—

सगर-मुवन गुल-मुवन भुवन सोढे सब झारत ।
जलचारी बहु सिद्ध सत मारे घद मारत ॥

रामायण—

ध्रुवं घनहरोजमाश्रमनेनाद्वोऽपनीयते ।
इति ते सर्वभूतानि हिसति समरात्मजाः ॥

मंगावतरण—

इहे मिथी मल-भग इहे हरि तियो सुरंगम ।
धौ कहि हिसत सबहि सहं जासौ जहं सगम ॥

इसी प्रकार घोर भी घनेर उदाहरण दिखे जा सक्ते हैं । हाँ, भाषा की दृष्टि में प्रथमाया का यह एक अनूठा रत्न है । भाषा में प्रसंगानुरूप क्लिप्तो प्रसरण एवं प्रसह इगमें क्षीण पदने हे, धन्यत्र दुर्नम है । गंगा जहाँ स्वर्ग में उतर रही है, वही घोरपूर्ण शक्तों में माताएँ गंगा गिरली सी ही प्रतीत होती है । उतरनी हुई उदाहरण गंगा के बचनों में तनिक धोर तो देतिए—

गग बह्यो उर भरि उमग ती गग सही मै ।
नित्र तरग-बत जो हर-गिरि हर-संग सही मै ।

लें सवेग विक्रम पताल पुरि तुरत सिधाऊं ।

ब्रह्मलोक कौ बहुरि पलटि कंबुक इव धाऊं ॥

उर्मंगती हुई गंगा ने ज्यों ही शिव का सुन्दर रूप देखा तो उसका उत्साह काफूर हो गया और रति भाव जाग्रत हो गया । वीर के शमनोपरान्त शृंगार की व्यंजना का कैसा सुन्दर उदाहरण निम्न पद्य में मिलता है—

भई धकित छवि धकित हेरि हर-रूप मनोहर ।

ह्वै धानहि के धान रहे तन धरे धरोहर ॥

भयो कोप कौ लोप चोप धीरे उमगाई ।

चित धिकनाई धड़ी कड़ी सब रोप-रखाई ॥

आकाश के वक्षस्थल को चीर कर उतरती हुई गंगा से विश्व धर्रा गया । भय का ऐसा संवार हुआ कि सूर्य के धोड़े चमक गए, शिव और विष्णु के वाहन भी भ्रमश हो गए, दिग्गज चिंघाड़ने लगे तथा पहाड़ों की छातियाँ धड़कने लगी :—

भरके भानु तुरंग धमकि धलि मग सौ सरके ।

हरके वाहन रकत नैकु नहिविधि हरि हर के ।

दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय धरके ।

धुनि प्रतिधुनि सौ धमकि धराधर के उर धरके ॥

शृंगार, वीर और भयानक के धतिरिक्त कर्ण का चित्रण भी उस स्थल पर बड़ा मार्मिक हुआ है जहाँ राजा सगर ने अपने मृत पुत्रों का समाचार सुना है । रानियाँ तो पछाड़ छाकर मछनी की भाँति तड़फने लगी :—

सागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी ।

मानहु माजा मज्जि तलकि सफरो धकुतानी ॥

इस प्रकार विविध रंगों की सुन्दर व्यंजना इस ग्रन्थ में हुई है । यद्यपि यह ग्रन्थ गंगा की श्रद्धा से उसके माहात्म्य के प्रतिपादनार्थ ही लिखा गया है तथापि इसमें कहीं कुछ धन्तीलता भी दृष्टिगोचर होती है जो उचित नहीं, यथा मुर-मुन्दरियों का वर्णन करते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं—

उच्चकावलि कुछ पीन खीन संकीर्ण लक्षकावलि ।

अधर दबाइ हसाइ प्रीव भंगनि लक्षकावलि ।

सस्मित भुक्तुटि-विलास करनि करि त्रिकुटि तनेनी ।

गावलि मंगल खली संग मुर-मुन्दरि-खोनी ॥

एग ग्रन्थ में यों तो धनेक धलनारों का प्रयोग हुआ है परन्तु धनुप्राय की धटा और उद्वेगा का विधान बड़े सुन्दर रूप में दीप्त पड़ते हैं । उद्वेगाएँ

लं सवेग विक्रम पताल पुरि तुरत सिघाऊं ।
 ब्रह्मलोक की बहुरि पलटि कंदुक द्वय घ्राऊं ॥
 उमंगती हुई गंगा ने ज्यों ही शिव का सुन्दर रूप देखा तो उसका उत्साह
 काफूर हो गया और रति भाव जाग्रत हो गया । वीर के धमनोपरान्त शृंगार
 की व्यंजना का कैसा सुन्दर उदाहरण निम्न पद्य में मिलता है—
 भई बकित छवि छकित हेरि हर-रूप मनोहर ।
 ह्वै ध्यानहि के प्रान रहे तन घरे घरोहर ॥
 भयो कोप की तोप घोप औरं उमगाई ।
 बित चिकनाई खड़ी कड़ी सब रोप-रुलाई ॥
 आकाश के बदास्थल को चीर कर उतरती हुई गंगा से विरव घरी
 गया । भय का ऐसा संवार हुआ कि सूर्य के पीछे चमक गए, शिव और विष्णु
 के बाहन भी भयान हो गए, दिग्गज बिधाड़ने लगे तथा पहाड़ों की छातियाँ
 धड़कने लगीं :—

भरके भानु सुरंग चमकि घलि मग सौ सरके ।
 हरके बाहन रक्त नंकु नहिविधि हरि हर के ।
 दिग्गज करि विषकार नैन फेरत नय धरके ।
 धुनि प्रतिधुनि सौ धमकि घराघर के उर धरके ॥
 शृंगार, वीर और भयानक के प्रतिरिक्त करण का चित्रण भी उस
 स्थल पर बड़ा मार्मिक हुआ है जहाँ राजा सगर ने अपने मृत पुत्रों का समाचार
 सुना है । रानियाँ तो पछाड़ लाकर मछली की भाँति तड़पने लगीं :—

सागीं खान पदाइ धाड़ मारन सब रानी ।
 मानहु माजा मज्जि तलकि सफरी अकुलानी ॥
 इस प्रकार विविध रमों की सुन्दर व्यंजना इस ग्रन्थ में हुई है । यद्यपि
 यह ग्रन्थ गंगा की श्रद्धा से उसके माहात्म्य के प्रतिपादनार्थ ही लिखा गया
 है तथापि इसमें वहीं कुछ घटतीलता भी दृष्टिगोचर होती है जो उचित नहीं,
 यथा गुर-सुन्दरियों का बर्णन करते हुए रत्नाकर जी लिखते हैं—
 उचकावति कुच पीन लीन संकहि सचकावति ।
 घयर दवाइ हसाइ प्रीव भगनि भवकावति ।
 सम्मित भ्रुकुटि-विस्मय करति करि त्रिकुटि तनेनी ।
 गावति मंगल खसी संग गुर-सुन्दरि-श्रीनी ॥
 इस ग्रन्थ में यों तो घनेक घलंकारों का प्रयोग हुआ है परन्तु अनुप्राण
 की दृष्टा और उत्प्रेक्षा का विधान बड़े सुन्दर रूप में दीप्त पड़ते हैं । उत्प्रेक्षाएँ

तो एक से एक मनोहारि है । कुछ उल्लेखों पर दृष्टि डालिए,—

नागों धान पठाइ घाड़ मारन सब गनी ।

मानहु भाडा मज्जि मयदि मरती छुनानी ॥

X X X

तैल बूद विरल चपत चुनयो तं ब्रज मै ।

चनछनि चपना मन्हु नरद धन विनय, पटन मै ॥

गान में दैग्यो हूँ रग्यो कनो हुदती है, कनो दैग्ये मरती है और कनो चुनयो नेछन भागे बट जाती है । वह ऐसी प्रतीत होती है नागों सेच शारदी मेरनाग में उद्धृत चपत गयी हो ।

एक स्थान पर गान में उद्धृत है, उपर्युक्तों के पम्पर दुप बने और पुनः वेद ने भागे ब्रह्म जाने के निः कवि ने उल्लेख की है कि मन्ग कागरी कनोती के गीत उचने हू, पम्पर दुपने और उचने हू, भागे वह छ है—

उन मी उन टकगड कहुँ उचउचन उचपन ।

पुनि मीचे गिरि गात्रि चपन उलय तरपन ।

मनु कागरी कपेन गीत के गीत उचर ।

नरि छनि ऊँचे उचरि गीति गुपि चपन म्हार ॥

वाल्मि में यह समझाने इरनाग मज्जि-कोर का एक सुन्दर रूप है, विनमें कपा की विस्मृति, नाग की प्रकृत्यता, भाव की उदात्तता एवं मीची की प्रवहनात् प्रवर्गता करने म्हुट एवं विस्मिन् रूप में दौल पगती है ।

उद्धृत श्लोक—उद्धृत मन्हु रत्नाकर की की कनो प्रीठ रचना है । इनमें मन्हु मति का माहान्य प्रदर्शित किया गया है । कन, जन और मति का प्रवचन प्रायः इन्हीं श्लोक में हुआ है । भागों के आगमन से पूर्व भारत में कल्प लीग गृहे थे । इनमें मन्हुता का विचार नहीं हुआ था और भाग्य-कर्मण्य एवं धर्म के सिद्धान्तों में वे परिचित न थे, यहाँ तक कि उनमें बौद्ध के नैतिक आचार की समझने की भी बुद्धि न थी । वे पाण्डित्य बौद्धन व्यतीत करुते थे । धर्म लीग उद भारतवर्ष में भागे तो उन्हींने इनमें जनने किया और भागती मन्हा म्हाविद की । धर्म-धर्मः उन्हींने प्रकृति के धर्मक मज्जिन्नु पदार्थ एवं मरव मज्जियों की शिवायों में प्रभावित हो उनही स्तुतिना प्रारम्भ की । वेदों में विभिन्न देवों की स्तुतिना इन्हीं मनोहरि का परिमाण है । वाल्मि में यहाँ से कर्मकाण्ड की नीव पड़ी । शारदु इन्हीं में महावि के जो गाना दिपात दिवसाई पड़ते है वे इन्ही आधार पर विभिन्न हुए थे, विन्हींने भागे चप कर बड़ा मीमरु रूप धारण किया । इन्ही कर्मकाण्ड से उद कर एवं दूसरी निम्नता

समझ कर परम तपस्वियों ने श्ररणों में जाकर ब्रह्म के निराकार स्वरूप का चिन्तन किया और उसे ज्ञानगम्य एवं ध्यानध्येय बताया। यह ज्ञान नीरस सिद्ध हुआ और अधिक काल तक चल न पा सका परन्तु कर्म और ज्ञान दोनों ही प्रतिष्ठा पाते रहे। अन्त में पौराणिक काल में देवों की पृथक् प्रतिष्ठा हुई और कर्म के साथ-साथ श्रर्चा और चर्चा ने पग बढ़ाया और यही भाव भक्ति के रूप में परिणत हो गया। भक्ति ने आराधना के स्थान पर उपासना को महत्व दिया। भागवत पुराण में भक्ति का ही माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है। दर्शन-शास्त्रियों ने भी कर्म और ज्ञान को बड़ा गौरव दिया। जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में कर्मकाण्ड के और व्यास ने उत्तर मीमांसा में ज्ञान के महत्व को स्वीकार किया। परन्तु उत्तर मीमांसा में ज्ञान की प्रधानता होती हुए भी कर्म का खण्डन नहीं था। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय हो गया किन्तु तदनन्तर भी ये तीनों किसी न किसी रूप में अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिये प्रकाश में आते ही रहे। आठवीं शताब्दी में एक और कुमारिल भट्ट ने कर्मकाण्ड का प्रसार किया, दूसरी ओर स्वामी शंकराचार्य ने ब्रह्म के प्रचार किया। इन अद्वैत ने उत्तरी भारत में भागवत धर्म को सुप्तप्राय सा कर दिया। पुनः १० वीं एवं १३ वीं शताब्दी में इसकी प्रतिक्रिया रूप त्रिनिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत एवं शुद्धाद्वैत की प्रतिस्थापना हुई। ये चारों ही भागवत धर्म थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान और भक्ति में अपनी-अपनी स्थापना के लिए पर्याप्त संघर्ष रहा है। गोपी-उद्धव-संवाद का मूलाधार भी यही है। सर्वप्रथम यह प्रकरण हमें भागवत में मिलता है, जिसमें कृष्ण का आदेश पाकर उनके परम सखा उद्धव गोपियों को जानोपदेश देने जाते हैं और साथ ही आदेश भी पाते हैं। भागवत में भ्रमर के आजाने से उद्धव को मधुकर रूप में उपात्मन्म दिये गये हैं। यह परिपाटी हमें मूरदास आदि की रचनाओं में भी मिलती है। मूरदास और नन्ददास आदि ने तो पृथक् भ्रमर गीत ही रच डाले। भागवत में हम राधा का नाम भी नहीं देखते जब कि मूरदास आदि ने राधा को पर्याप्त रूप में इस प्रकरण में चित्रित किया है। मूरदास और नन्ददास आदि के अतिरिक्त प्रायः सभी कृष्णभक्त कवियों ने राधा, गोपी एवं उद्धव के सम्भाषण को किसी न किसी रूप में लिखा ही है। रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास भी हम लोभ को सबूत न कर सकें और उन्होंने कृष्ण गीतावली में भ्रमरगीत सम्मिलित कर दिया।

सत्तों के अतिरिक्त रीतिबालीन कवियों ने भी इस प्रगण को न्यूनाधिक रूप में यत्र-तत्र विलिखित किया ही है। रहीम, मतिराम, देव, यनानन्द एवं

परमात्मा की बड़ी बड़ी कृपा न किती रूप में इनके निख हो गये हैं।

साधुनिक काल में भी मन्दरागण्य कविरत्न, हरिप्रिय एवं रत्नाकर जी की कविताओं ने इस प्रश्न को काय्य का दिग्गज बनाया है। यदि उपर्युक्त सभी रचनाओं पर हृष्टिगत किया जाए तो ज्ञात होगा कि मन्दरागण्य का अनर-गौतम धर्मोत्तम नहीं रचता। निराकार के मन्त्रन एवं कृष्णायन के मन्त्रन में संकष्टों की मधुर, व्यंग्यपूर्ण, उदात्तमननन्वित एवं उर्वरपूर्ण कविताओं को देख कर बन्धुन एव मान ही साक्षात्कृत हुए बिना नहीं रहा जाता। नागवत की गीतियाँ मठ नहीं थीं बल्कि उनमें प्रवर्द्धा नहीं। वे उद्वेग की भावपूर्णता के समस्त लक्षणों से युक्त हैं। वे उदात्तमन देने के भाव-भाष्य ईश्याँ भी प्रदर्शित करती हैं। मूर की गीतियों में भावमयता की भावना है। वे कृष्ण से इतना प्रेम करती हैं कि प्रभुत्तर एवं प्रतिदान नहीं चाहतीं। कुब्जा उन्हें अपना बना करती हैं, धर्या है परन्तु उनका दिन उन्हें क्यों भूने, वह उनका भी नहीं है। उन मन्त्र प्रवर्द्धाओं में वे शिवाँ की भावने पात्र एक भी नहीं फटकने देतीं। परन्तु नागवत की गीतियों की भावना मूर की गीतियाँ सुन्दर हैं। उद्वेग का ज्ञान बोधना है ती गीतियों का प्रेम। ज्ञान सुन्दर है, प्रेम मन्त्र, मन्त्रा शौर्य मन्त्र की कला समझना करे। मन्त्र में मन्त्रा वाग्युद्ध के अनन्तर उद्वेग की ज्ञान-गतिना जाती रही, मन्त्र रंघ भाषा और भावना का सुहृ मेकर भावने मन्त्रा के मन्त्रवच में वाकर सुहृ दिशाना। नागवत में उद्वेग की इतिहास मेवा गया है कि वे भावने महान् ज्ञान द्वारा गीतियों की समझने परन्तु मूर के अनर गौतम में ज्ञानकारी उद्वेग की मन्त्रि के माहात्म्य की शिवा मेने के विदे मेवा गया है। तुम्हारी की गीतियाँ मन्त्रवच धरिष्ठ है। नागवत की गीतियाँ धर्मोत्तम हैं, मूर की भाषा और तुम्हारी की मन्त्र। उन्हें मन्त्र तो महान् है पर संकोचवच कह नहीं सकतीं। तुम्हारी ने उद्वेग के मेवने का कारण नहीं दिया। मन्दरागण्य ने भी नहीं दिया कि उद्वेग क्यों गये वे परन्तु उनके उद्वेग है उद्वेग, मन्त्र माहात्म्य करते हैं। अनर गीतियों की सुव कर उत्तर देती हैं। यहाँ मेर की मन्त्रा मेर निना है। यहाँ न मन्त्रा है, न मन्त्रा और न संकोच; है केवल लक्ष्य और वह भी प्रवर।

संस्कृतकालीन कवियों ने अनरगौतम धर्मोत्तम नहीं दिया है बल्कि कहीं-कहीं सुन्दर छन्द है, जिनमें यह प्रकरण भाषा है। मन्दरागण्य कविरत्न ने गीत-उद्वेग-मन्त्रा न रत्नाकर मन्त्रा के द्वारा मन्त्र-मन्त्रा की कृष्ण के पास मेवा है। हरिप्रिय जी ने गीत-उद्वेग के संवाद में मन्त्रा और गीतों की भी

जोड़ दिया है। उद्धव राधा के पास स्वयं जाते हैं। वास्तव में इनकी गोपियाँ बड़ी समत हैं।

रत्नाकर जी ने सब से भिन्न एक नवीन प्रणाली को अपनाया। यद्यपि यह विषय किसी-न-किसी रूप में पर्याप्त विद्विषयित हो चुका था तथापि रत्नाकर जी की प्रखर बुद्धि की शरण पर चढ़कर इमने एक नूतन ही रूप धारण किया। इनकी गोपियाँ विचक्षण भी हैं और तार्किक भी। इन्होंने यशोदा एवं गोपों को ही नहीं राधा को भी दम प्रमग में दूर रखा है। तथा केवल गोपियों को ही उद्धव के प्रतिवादी का स्थान दिया है। वार्त्तात्माप के समय यशोदा एवं राधा थी अत्रदय क्योंकि उद्धव के जाते समय कुछ उपहार दिए हैं। इनकी गोपियों में आधुनिक नारियों का चापल्य भी दृष्टिगोचर होता है। रीति-काल का प्रभाव तो इनके 'उद्धव-राधा' पर स्पष्ट ही है क्योंकि इन्होंने छन्द भी बचित ही प्रयुक्त किया है और अलंकारों का प्रयोग भी सुल कर दिया है, विशेषत स्लेप और अनुप्रास का।

उद्धव-राधा में अमर का प्रवेश नहीं होता। सूर, तुलसी एवं नन्ददास आदि अनेक कवियों के प्रतिकूल यह एक नवीनता ही है। इममें बधाम्भ इन प्रकार हुआ है कि एक दिन कृष्ण स्नानार्थ यमुना जाते हैं। वहाँ वे एक मुरभाए कमल को बहना हुआ देखते हैं, जिमसे उन्हें विरह-व्यापिता राधा की स्मृति हो जाती है और महसा उद्विग्न हो जाते हैं। उद्धव उनकी उद्विग्नता का कारण पूछते हैं परन्तु कृष्ण कह नहीं सकते। उन्हें विरह-बीडा ने विवस कर दिया परन्तु ज्यों ही कुछ सन्तन कर वे कुछ बहना ही चाहते थे कि हृदय मुँह को भा गया, गला हँस गया और आँसू नेत्रों में टप-टप गिरने लगे—

तीनों अधिकाई तें उमगि बंठ आई भिचि ।

नोर हूँ यहन लागी बात संतियान तें ॥
तदनन्तर कृष्ण की विरह-व्यथा का चित्रण किया गया है। भक्त कवियों ने गोपियों के विरह का ही वर्णन अधिक किया है, कृष्ण के विरह का वर्णन तो सूक्ष्मत किया है परन्तु रत्नाकर जी ने कृष्ण के विरह का वर्णन भी बड़ा मार्मिक किया है। गम्भिरत, यह इमनिधे कि उन्होंने तुल्यपुराण को ही प्रदर्शित किया है। भक्तों ने भक्ति-भावना को गम्भिर रचना का और भक्त भगवान् के प्रति धृष्टा में बड़ा है, पनुराग करना है तथा सर्वस्व का समर्पण भी कर देता है। उगे निश्चय तो होता है कि उमरा भगवान् भक्त-वत्सल है परन्तु उगे अपने दुग के समझ दिनों का भाग नहीं। वह तटपा है, निरग होता है, निरह-दान हो-होकर मरणागमन तक हो जाता है और अपनी ही वेदना को

विविध प्रकार से लक्षित एवं व्यञ्जित करने का प्रयत्न करता है। मजा ही इसमें है कि प्रेमी तो तडपे परन्तु प्रियतम दयार्द्र होता हुआ भी न तडपे। प्रेम के दीवाने प्रेम पर बलि हो जाने में ही सौभाग्य समझते हैं इसीलिए तो उनकी दृष्टि में निर्दय दीपक एवं जल की अपेक्षा शलभ एवं मीन का मूल्य अधिक है। रत्नाकर जी ने भक्ति के उस आदर्श पर रचना नहीं की, उन्होंने विद्युद्ध प्रेमादर्श को अपने समक्ष रखा और इसीलिए तुल्यानुराग शिखलाया।

कृष्ण को गोकुल की गली, ग्वालिन, दूध-माखन की चोरी, नवेलियो का गाना-गवाना और नाचना-नचाना उनकी श्रमहार-मनुहार, उनके बीच मञ्जुल वांसुरी का बजाना, यशोदा का प्रेम-पगा पानना और ताड-भरा लालना, यमुना की कछार, राम-रग और वन-विहार आदि सभी बातें एक-एक करके याद आने लगी। वे उडव से बोले—ग्वाल एव ग्वालवालाघो को विरहानल में भोक कर मणिमण्डित मुकुट से हमें क्या और पट-रस व्यञ्जनो से भी क्या। हमें तो मोर-पक्षिमो का मुकुट ही अच्छा था और माखन अधिक मनभावना था। आगे व्याकुल होकर बहते हैं कि गोपाल नाम छोड़कर हम त्रिलोचनपति कहा कर भी क्या करेंगे—

प्यारो नाम गोविंद गुपाल को विहाय हाथ

ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहं कहा।

ठीक भी है जब प्रिय पास नहीं, तो पेय हेय है, खाद्य खाद के समान है और लोक शोक का शोक है। प्रेमी तो जने और प्रियतम अपने को मेके ऐसा कैसे हो सकता है। आग लगी तो उसी का नाम है जो दोनों भर लगे। गोपियाँ विवक्त हो तब फिर कृष्ण को बल कैसे पड़े। कृष्ण को उडव ने बहुत समझाया परन्तु उनके अशु बन्द न हुए। कृष्ण ने सोना इमें प्रेम का तीर लगा नहीं है, अच्छा हो यदि इसे ही भेजा जाय और शय जाकर देख आवे। यह सोचकर वे बोले—हे उडव ! तनिक एक बार तुम गोकुल तो हों आओ फिर हम तुम्हारी शिक्षा को शिरोधार्य कर लेंगे—

आवो एक बार घरि गोकुल-गली की घूरि

तब इहि नीति को प्रतीति करि लेंहं हम।

मन सौ, करेजे सौ, सखन-सिर-आंखिन सौ

ऊपव तिहारी सीव भील करि लेंहं हम ॥

ज्ञानमानी उडव अपने ज्ञान की सुरक्षा-भगवा के माथ चल पड़े, परन्तु ज्यो ही गोकुल में पहुँचे, वहाँ के चराचर जगद को विरह-रग्ध, मोहमुग्ध एवं मुग्ध-सा देखकर उनका ज्ञानाभिमान गलने लगा, योग के विधान ध्यान से टलने

लगे, शरीर रोमाञ्चित हो गया और नेत्र बरसने लगे। उद्धव के घाने का समाचार सुनकर गोपियाँ उनके चारों ओर घिर आईं और यह जान कर कि उनके चित्तचोर ने एक पाती भेजी है, उनका हृदय बल्लियों उड़लने लगा। आनुरतावश वे बोली—

हमकोँ लिलयी है कहा, हमकोँ लिलयी है कहा

हमकोँ लिलयी है कहा, कहन सभे लगों।

इन शब्दों में कितनी व्यग्रता है, कैसा सहज स्नेह व्यञ्जित हो रहा है। उद्धव देखकर ठगे-से रह गये और उनकी प्रवीणता लीन हो गई। कहते कुछ नहीं बनता था, परन्तु सम्मूह कर सम्पूर्ण धैर्य को सज्जित करके बोले—जिसे आप देनना चाहती हैं वह तो तुम्हारे हृदय में ही है, तन का क्षीण और मन को दीन किए बिना ही ज्ञान और ध्यान से तुम उसे पा सकती हो। वे तुमसे दूर नहीं हैं। गोपियाँ मुना-अनमुना करके कृष्ण के दर्शन की लालसा व्यक्त करती हैं। उद्धव भी कमर कसरार वेदान्त की मञ्जूषा खोल देते हैं—ब्रह्म तो अगोचर है, अरूप है, अव्यक्त है और व्यापक है। उसका ध्यान करना चाहिए, वह तो अलक्ष्य है, ध्यान के ही योग्य है। पर गोपियाँ कोई कच्ची गोलियों से नहीं खेली थी, भ्रमक कर बोली—अव्यक्त है, अलक्ष्य है तो फिर हाथ-पैरो के बिना गायेँ कैसे चराता था, नाचता कैसे था, मुख के बिना मांसन कैसे पाता और मुरली कैसे बजाता था। ज्ञात होता है तुम्हारा ब्रह्म कोई और है, जो रूप-रस-हीन है, उसका ध्यान करना ही क्या !

उद्धव के ज्ञान को प्रेम से धेँपठ बगलाने पर गोपियाँ बहती हैं—

प्रेम-नेम छाँड़ि ज्ञान-शेम जो बतायत सो

भीति हो नहीं तो कहा छाले रहि जाइंगी।

इसके पदचात् वे उद्धव की उक्तियों का बड़ी मुक्ति से उत्तर देती हैं। वे योग-रत्नाकर में दयास भुटाना नहीं चाहती बरन् श्रजचन्द की एक भुगकान चाहती हैं—

एक श्रजचंद - शृषा - भुगकानि ही मैं

लोक-परलोक की अन्तद जिय जानें हम।

वास्तव में भक्त की चाहिए क्या, भक्तवत्सल भगवान् की शृषा की एक मुग्ध और और वह उमों में स्वयं-भयवर्ग सभी का भुग मानना है। फिर न उसे मुक्ति चाहिए और न मुक्ति। वह तो श्रजचंद का चलोरे होना चाहता है, एगीनिए उने विरह-चिनगादियो ने विचिन्त भी भय नहीं लगता—

जब ब्रजचंद को चकोर चित्त चारु भयो

बिरह चिगारिनि सों फंरि डरिबो कहा ।

घागे बड़ी ही मामिकता से कहती है कि देखो उद्वव ! यदि ब्रह्म होने पर भी हम नारी बनी रहें तो हमें आपकी बात मानने में कोई आनाकानी नहीं, हम प्राण जाने पर भी यह अभिमान न छोड़ना चाहेंगी कि—

हम उनकी है वह प्रीतम हमारे है ।

वास्तव में अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति इसी का नाम है । रसरतान ने जिसे 'एकरस' प्रेम कहा है वह यही है कि प्रेमी ब्रह्मरूप होकर भी अपने को उसी रूप में चाहता है । भक्ति में एक झूट श्रद्धा-भाव होता है, अतः भक्त भगवान् में सायुज्य चाहता हुआ भी अभेद नहीं चाहता, अतः उसकी वाञ्छा में सान्निध्य का भाव अधिक रहता है । इसीलिए गोपियाँ उद्वव से पञ्चाग्नि तप तपने एव प्राणायाम करने का भी वचन देती हैं, यदि ऐसा करने से उनका प्रियतम मिल जाय ।

उद्वव रोकने से रकते नहीं, उनका ज्ञान-नाला गोपियों की प्रेम-सरिता से टकरा रहा था । गोपियों ने अपना रस बदला और व्यग्यपूर्वक परिहास से बोलों—उद्वव ! तुम एक बार हमारी आँसों से—प्रेमी या भक्त की आँसों से—उन बन्हेया के रूप को तनिक भी देख लेते तो ऐसा न कहते । भाई, इसमें तुम्हारा अपराध नहीं, तुम थोड़े ही बोन रहे हो, कुब्जा का तोता बोल रहा है—

मुनीं मुनीं समभों तिहारो चतुराईं जितो

कान्ह की पढ़ाईं कविताईं कुबरी की है ।

हम तो एक ही अनंग (कामदेव) की साथ से छक गई हैं, भला और दूसरे अनंग (ब्रह्म) की आराधना से क्या करेंगी । यहाँ गोपियों की वाञ्छानुरी में कितना माधुर्य है और है कितनी पटुता । घागे उद्वव को डपट कर कहती हैं—

घुप रही ऊप्यो मूषो पय मथुरा की गहो ।

वही जाधो जहाँ कुब्जा योग का पाठ पढ़ती है । यहाँ तो हमारे साथ रास रचते थे और वहाँ कुबड़ी का योग सीख गये । भला यह तो बतलाओ कि तुम उनके गुरु हो या चेला—

ये तो भए जोगी जाइ पाइ कुबरी की जोग ।

आप कहें उनके गुरु हैं शिष्यो चेला हैं ॥

इसमें कितना परिहास भरा हुआ है । 'कुबरी' शब्द से योग की कुटिलता भी व्यञ्जित हो रही है । भाई ! कुबड़ी ने तो योग कृष्ण को सिखाया और

तुम हमें मिखाने आए हो, मला तुममें गुरु कौन है ? तुम व्यर्थ ही वृष्ण का नाम बदनाम करते हो, वे तो रसिक-शिरोमणि हैं, ज्ञात होता है कि बुज्जा ने ही ऊपर से ऊपर तुम्हें भेज दिया है—

रसिक-शिरोमणि की नाम बदनाम करो

मेरो जान ऊषी कूर-कूबरी पठाए हो ।

अब उद्वेग अवाक् रह गये । वाक्चावुक की मार खाकर धीमे से बोले कि अब वृष्ण महाराज हो गये हैं । गोविन्दो ने सुनकर आर्द्र-हृदय से कहा— अच्युत फिर जाओ और कभी अबसर मिलने पर महाराज पूछें तो मुझ से कुछ न बोलना, जो कुछ तुमने देखा है उसे कराह कर, घ्राह भर कर, नेत्रों में जल भर कर और हिचकी लेकर व्यञ्जित कर देना—

औसर मिलें औ सरनाज पूछहि ती,

कहिषो फछु न दसा देखी सो दिलाइयो ।

घ्राह कैं कराहि नेन नीर अचगाहि कछु,

कहिषे कौं चाहि हिचकी सँ रहि जाइयो ॥

इन शब्दों में कितनी मामिकता है, कितनी विवशता है और कितनी दीनता है । प्रेमी का वाप्य तो प्रेम करना है और बेचारा क्या करे । यहाँ आत्म-त्याग की पराजया है, मरुत का भगवान् के लिए सर्वस्व का समर्पण है ।

उद्वेग का ज्ञान-कोप समाप्त हो चुका था, युक्तियाँ विफल हो गई थी और अभिमान मोम की भाँति गल गया था । बेचारे अपने ताम-नाम को लेकर उठ खड़े हुए । गोविन्दो बेचारी क्या करती, मोचा कुछ भेंट ही भेज दें और उन्होंने वे ही वस्तुएँ भेजी जो वृष्ण को प्यारी थी, सम्भवतः इनमें उन्हें याद आ जाय ।

बिभी ने मयूर-पक्ष भेजी तो किमी ने गुंजाएँ और किसी ने दही दिया तो किमी ने मही । नद ने पीनाम्बर और यशोदा ने नखनीत भेजा । राधा ने भी एक यस्तु दी और वह भी वृष्ण को परम प्यारी बाँसुरी । गोविन्दो ने उद्वेग को रम-सिक्त कर दिया, उनका ज्ञान-नीरम हृदय प्रेम से सरगा गया । वे नतनेत्र हुए विराग-नूमठी में प्रेम रस और ज्ञान-गूदही में अनुराग गा रत्न लिए लौट आये । जीवे जी दुखे जी होने गये थे, दूखे जी होकर लौटे । लौट कर अपने मित्र के समक्ष गद्गान होकर बोले—

ह्याए धूरि पूरि घंग घंगनि तहाँ बी जहाँ

ज्ञान गयो सतिन गुमान गिरि गाँठी सँ ।

हम गये तो ये पर पछाड़ गाकर धाये हैं, देगो घंगों में धूय मरी हुई

है, अभिमान-सहित ज्ञान भी गाँठ से खो गया है। यदि आपको भी सही बात बताने की इच्छा न होती तो सच, हम गोकुल को छोड़ कर यहाँ पैर भी न रखते—

होती बित्त-चाय जो न राखरे बित्तावन की
तजि बज-गाँव इतं पाँव धरते नहीं ।

काश ! तुम्हें भी उसी राह ले जाना था इसीलिए आया हूँ, अन्यथा यहाँ क्या काम था, वहाँ की सरस-सरिता में स्नान कर यहाँ की धूल फाँकने कीन आता !

इस प्रकार इस ग्रन्थ में भी निराकार का खडन एवं साकार का मडन है परन्तु भक्तों के प्रतिबल प्रेम की द्विपक्षी व्यञ्जना में इसकी मौलिकता है।

इस ग्रन्थ में उद्धव द्वारा जो निराकार ब्रह्म का स्वरूप वर्णित हुआ है वह उपनिषदों के ही अनुसार है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में लिखा है—

अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यक्षुः स अणोऽत्यक्षुः ।

उद्धव भी उसे अपाणिपाद एवं चक्षुर्लंघिणी कहने हैं। आगे इसी उपनिषद् में ब्रह्म को अणु से अणु और महान् से महान् बतलाकर उसे अन्तःकरण स्थित लिखा है और कहा है कि विषयभोग के सकल्प से शून्य आत्मा ही उसे पाती है—

अणोरणीयान्महतो महीया
नात्मा गुहायां निहितो ऽस्य जन्तोः ।
तमत्रतुं पश्यति बीतशोको
धातु प्रसादान्महिमानमोक्षम् ॥

इसी भाव की पूर्ण छाया हम मूर के इस पद में पाते हैं—

शुनहु गोपी हरि की संदेश ।
करि समाधि अन्तर्गति ध्यायहु यह उनको उपदेश ॥
बं अविगति अविनाशो पूरण सब घट रह्यो समाइ ।
निर्गुण ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है वेद पुराणन गाइ ॥
सगुण रूप तजि निर्गुण ध्यायो इक बित्त इक मन लाइ ।
यह उपाव करि विरह तरौ शुभ मिलै ब्रह्म तव आइ ॥

मूर ने उस भाव की तनिक व्याख्यात कर दिया है। रत्नाकर जी ने मूर के समूचे भाव को अपने शब्दों में इस प्रकार रक्खा है —

सोई कांह सोई तुम सोई सबही हें सलो
 घट-घट अन्तर अन्त स्याम धन कौ ।
 कहै रतनाकर न भेद-भायना सौ भरो
 यागिधि औ बूँद के विचारि बिलुरन कौ ॥
 अधिचल चाहत मिलाप तो बिलाप त्यागि
 जोग-जुगति करि जगावौ ज्ञान-धन कौ ।
 जीव आतमा कौ परमातमा मं लीन करो
 छोन करो तन कौ न डीन करो मन कौ ।

परन्तु यह सिद्धान्त स्याप्य नहीं है। यह तो केवल प्रतिक्रिया के लिए वर्णित है। स्याप्य विषय है सगुण का मात्रात्म्य और वह गोपियों द्वारा प्रतिपादित हुआ है। अन्त में विजय भी गोपियों की ही हुई है—प्रेम ने ज्ञान पर विजय पाई है। वास्तव में यह वृष्ण-भक्त कवियों के अनुसार ही हुआ है। इसमें बल्लभ स्वामी की अनन्य प्रेमलक्षणा भक्ति का सुन्दर स्वरूप परिलक्षित होता है। परन्तु नवीन युग में उत्पन्न होने के कारण रत्नाकर जी की लेखनी ने गोपियों में प्राधुनिक नारी का चापल्य भी भर दिया है।

इस ग्रन्थ की भाषा ब्रज है। यह तो प्रसिद्ध है ही कि रत्नाकर जी ब्रजभाषा के महान् पंडित थे। उद्धव दत्तक की भाषा भी खरी, परिभाषित एवं अलंकृत ब्रज है। इन्होंने रीतिकालीन परम्परा के अनुसार भाषा के साथ छन्द भी कवित्त ही व्यवहृत किया है परन्तु इन्होंने भूषण-देव आदि की शक्ति भाषा को बिगाड़ा नहीं है। भाषा में एक प्रवाह है। शब्दों की योजना ऐसी हुई है कि उममें अनुप्रास तो पग-पग पर है। कहीं-कहीं यमक आदि शब्दानकार भी दिखाई पड़ते हैं। कवि को श्लेष अधिक प्रिय है। कहीं-कहीं तो वह अत्यन्त दुःख हो गया है। अलंकारों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

अनुप्रास—

जमुना बघारनि की रंग-रस-रारनि की
 विदिन-विहारनि की हौत हुमनायती ।

× × ×
 सीत के प्रभाव भाव भायना भूतानी के ।
 × × ×
 साइ भरे सातन की सातव सागावती ।
 × × ×

जँहै धनि-विगरि न वारिधिता वारिधि का
 बूँदता बिलहै बूँद विदस विचारो की ।

यमक—

सोत के प्रभाव भाव..... ।

नहात जमुना में जलजात एक देख्यो जात

श्लेष—

स्याम-रंग-राँवें साँवें हिय हम वारिनि के
 जोग की भगौँहों भेष-रेख रचिहँ नहों ।

महाँ स्याम (कृष्ण, काला) और भगौँहों (भगवा रंग की, भाग
 जान वाली) में श्लेष है ।

× × ×

कहाँ-कहीं दिल्ष्ट पद्य अत्यन्त कठिन हो गये हैं, यथा—

रस के प्रयोगनि के मुखद मुजोगनि के
 जेते उपचार चारु मंजु मुखदाई है ।
 तिनके चलादन की चरबा चलावँ कौन
 देत ना मुदर्शन हूँ यो मुखि सिराई है ।
 करत उपाय ना मुभाय सखि नारिनि को
 भाय बयों धनारिनि को भरत क्यूँदाई है ।
 ह्यो तो विषमज्वर-विषोग को पड़ाई यह
 पाती कौन रोग को पठावत दवाई है ॥

इसमें विषोग को विषमज्वर बताया है अतः मुदर्शन (मुदर्शन रस,
 दर्शन), नारिनि (नाड़ियों, स्त्रियों), धनारिनि (नाडी ज्ञान से अपरिचित
 बंधों, धनाड़ियों) और पाती (पत्नी, पत्निका) दिल्ष्ट पद हैं ।

विहारी ने भी एक दोहे में विषोग को विषमज्वर बनला कर मुदर्शन
 (मुदर्शन रस तथा सुन्दर दर्शन) का प्रयोग किया है—

यह दिनमन नगू राखि कं जगत बड़ी जमु लेहू ।

जरो विषम जुर जाइये घाइ सुदरसनू देहू ॥

प्रतीत होता है कि रत्नाकर जी ने यह भाव विहारी से ही लिया है ।

रूपक—

जोग-रतनाकर में साँत घूँटि बूँड़ कौन

ऊधो हम सूधो यह जानक विचारि धुरो ।

मुक्ति-मुपत्ता को मोल माल ही बहा है जय

मोहन लता पे मन-मानिक ही धारि चुकीं ।

इसमें योग में रत्नाकर का आरोप किया गया है अतः मुक्ति में मुक्ता का और मन में मानिक का आरोप है ।

×

×

×

प्रेम-रस रुचिर विराग-तूमडी में पूरि

ज्ञान-गूदड़ी में अनुराग सौ रतन सं ।

इसमें भी रेखांकित पदों में रूपक है ।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में धलकारों की बड़ी सुन्दर योजना हुई है । कलापक्ष के साथ-साथ भावपक्ष भी इसका बड़ा उज्ज्वल है, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है ।

इस ग्रन्थ में मुख्यतः वियोग श्रृंगार का चित्रण हुआ है, जिसमें कृष्ण और गोपी दोनों के ही वियोग का वर्णन है, साथ ही उद्वेग की जानपूर्णा उक्तियों में शान्त रस भी है । कही-कही गोपियों की वक्रोक्तियों में हास्य-रस भी व्यञ्जित हो रहा है, यथा—

ये तौ भए जोगी जाइ पाइ कूबरो की जोग

प्राप कहें उनके गुरु हं किषों चेला हं ।

एक स्थान पर गोपियों के वचन में धोम की छाया भी मिलती है—

धुप रही ऊधी सूधी पय मयूरा की गहो

कहो ना कहानी जो बिबिध कहि प्राए हो ।

ग्रन्थ में रमानुजूल माधुर्य एव प्रसाद गुण की योजना भी मुचाव रूप में हुई है ।

रत्नाकर जो की काव्य कला—वाच्य के दो पक्ष हैं—कलापक्ष और भावपक्ष । कलापक्ष में भाषा एव ध्वन्यकार-योजना आती है । इनकी भाषा प्रज्ञ है जो अत्यन्त सहज, गरी और प्रवाह पूर्ण है । उसमें न दुरुहता है और न दार्ष्टिक्य प्राणायाम की साधना । अनुप्रास-छटा अथवा दृष्टिमात्र होती है जो प्रज्ञमाया के सौन्दर्य द्वारा उद्गत भावों के तरंगित उद्गारों की सहज रूप से प्रवहमान धार है । प्रज्ञमाया की शब्दावली ही ऐसी है कि उसमें स्वयं

वचने पटते चने जाते हैं, यथा—

'सनि मोरी सँगुरियन की संहरियन में कंहरियां इतभ गइं री ।

इसमें नादिका ने भाषा बना कर कही हो ऐसी बात नहीं है । वह तो

स्वतः अनुप्रासित हो गई है। यही बात इनकी भाषा में है। इनकी रचनाओं में अलंकारों की योजना बड़ी सहज रूप से हुई है। कही-कही श्लेष दुष्ट हो गया है। यो तो प्रायः सभी प्रसिद्ध अलंकार प्रयुक्त हुए हैं परन्तु अनुप्रास और यमक ही अधिक दीख पड़ते हैं।

रसानुबूल भाषा का प्रयोग इनका बड़ा शुण है अतः भाषुर्य, श्रोज और प्रसाद शुण अपने-अपने स्थान पर बड़ी सुन्दर रीति से योजित हुए हैं। भावपक्ष तो इनका बड़ा उज्ज्वल है। उदाहरणार्थ उद्धव-शतक में वियोग शृगार, हरिश्चन्द्र में हरिश्चन्द्र एवं शैब्या के वार्त्तालाप में करुण और श्मशान के वर्णन में बीभत्स, गंगावतरण में गंगा के अवतरण से भयानक रस की व्यञ्जना बड़ी सुन्दर हुई है। वास्तव में इनकी विशेषता ही भाव एवं रस की व्यञ्जना में है। रसाभिव्यक्ति में विभाव, अनुभाव एवं सञ्चारियों का विधान भी अनुबूल ही हुआ है। इनकी रचनाएँ सहज रम से अनुप्राणित हैं। इनकी एक विशेषता यह भी है कि ये वर्ण्यवस्तु एवं विहित भाव का चित्र सा सड़ा कर देते हैं। इनके वस्तु-चित्र एवं भाव-चित्र बड़े मनोहारी हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म सन् १८८४ ई० में बस्ती जिले के घग्गोला ग्राम में हुआ था। इनके पिता पं० चन्दवली शुक्ल एक फारूगो थे। उन्होंने इनकी शिक्षा का प्रबन्ध ६ बरस की आयु से ही कर दिया था। इनकी माता जी भी विदुषी थी। वे इन्हे रामायण सुनाया करती थी और कभी-कभी गूर के पद गाया करती थी, जिन्हें बालक शुक्ल बड़ी रचि से सुनता था। विद्वान् पिता भी इन्हे अनेक पुस्तकें सुनाया और पढ़ाया करते थे। विशेषतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नाटकों को सुनने में इनकी विशेष रचि थी। दुर्भाग्यवश आठ बरस की अवस्था में इनकी माता का देहान्त हो गया। उसके पदचाप ही इनके पिता मिर्जापुर चले गये, वही इनकी विद्यालय की शिक्षा प्रारम्भ हुई और सन् १९०१ में इन्होंने दशम कक्षा पास की। इन्होंने अग्रेजी और उर्दू का अध्ययन तो किया ही था, पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के सम्पर्क से इन्होंने संस्कृत भी सीती और धर्म-धर्म इनका प्रेम ससृत से बढ़ता चला गया। बाबू वासीप्रसाद जायसवाल के सम्पर्क में आने से इनके हृदय में हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत हुआ। इस प्रकार दसवीं कक्षा पास करने के समय तक इनकी रचि हिन्दी और संस्कृत की और परिवर्द्धित हो चुकी थी। इन्होंने आगे पढ़ने का भी प्रयत्न किया, परन्तु कुछ पारिवारिक विषम परिस्थितियों से पढ़ न सके, वकालत की परीक्षा भी दी, परन्तु उत्तीर्ण न हुए।

एग विद्यार्थी जीवन में इनकी एक बड़ी विशेषता यह रही कि इन्हें अध्ययन से बड़ा प्रेम था। रात्रि को बारह-एक बजे तक वे पुस्तकें पढ़ते रहते थे, जिनमें इनकी बुद्धि का अपरिमित विकास हुआ। हमने इनकी सेसन-कला को भी बल मिला और चीत्र ही वे घग्गोला प्रतिभा का परिचय देने लगे। यही तक कि 'बासी नागरी प्रचारिणी सभा' ने जब हिन्दी-योग का सम्पादन किया तो हिन्दी के पाठों के सग्रह का नाम युवा शुक्ल को ही गौना गया। तत्पश्चात् इन्होंने उसके सम्पादन में बड़ा हाथ बढ़ाया। भव्य वे बासी में ही रहने लगे

श्रीर कामी विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। अपनी अपार प्रतिभा और सक्षम योग्यता के बल पर इन्होंने सन् १९३० में हिन्दी के अव्यय-पद को सुशोभित किया।

दशम कक्षा पाम करने ने पूर्व ही ये लेखन द्वारा अपनी प्रतिभा दिखाने लगे थे। १२-१३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'हास्य-त्रिनोद' नामक छोटा सा नाटक और अनेक कविताएँ लिखी जो बाल-वाचस्पत्यस लिखी गईं और पाठ्य गईं परन्तु इनमें उनके हृदय में जमे हुए उस बीजाकुर का आभास मिलने लगा था, जो भागे चल कर सत्रय और पुष्प-फलवात् विद्याल वृक्ष बन गया। सन् १९०० में इनको 'मनोहर छटा' नाम की एक कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् तो अनेक लेख और कविताएँ इन्होंने पत्रों में दी परन्तु इनके लेखों में जितना भाव-सीधव एवं शैली का परिष्कार होता था, उतना कविताओं में नहीं। यह महावीर प्रसाद द्विवेदी का समय था जब इतिवृत्तात्मकता से धीरे-धीरे व्यञ्जनात्मक शैली की ओर लेखकों की प्रवृत्ति बढ़ रही थी।

गुप्त जी ने भागे चल कर अपने जीवन में अनेक अमर रचनाएँ लिखी। सर्वप्रथम इनका साहित्यिक जीवन निबन्ध और कविताओं से आरम्भ हुआ। पुनः इन्होंने निबन्ध, समालोचना अनुवाद, इतिहास एवं काव्य-सम्बन्धी अनेक ऐसी कृतियाँ उपस्थित की जिन्होंने हिन्दी साहित्य में एक जीवन फूँक दिया। आपकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

- | | |
|--|-----------------|
| १. चिन्तामणि भाग १, २ | (निबन्ध-संग्रह) |
| २. जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका | } समालोचना |
| ३. भ्रमर-गीत-सार की भूमिका | |
| ४. तुलसी ग्रन्थावली की भूमिका | |
| ५. रसमीमांसा | |
| ६. कल्पना का आनन्द
(Essays on the Imagination, एडिसन) | |
| ७. राज्य-प्रबन्ध-शिक्षा
(Minor Hints, सर टी माधवराव) | |
| ८. विश्वप्रपञ्च
(Riddle of the Universe, हीगल) | |

६. आदर्शजीवन

(Plain living and High thinking.
स्माइल)अंग्रेजी के
अनुवाद

१०. मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण

११. बुद्ध चरित (Light of Asia, एडविन स्नानल्ड)

१२. शशांक

१३. हिन्दी साहित्य का इतिहास

१४. फारम का प्राचीन इतिहास

(बंगला में अनुवाद)

इनके अतिरिक्त इन्होंने अनेक लेख लिखे तथा कविता और समालोचनाएँ भी लिखी, जो समय-समय पर पत्रों में प्रकाशित होती रही। इन्होंने हिन्दी-शब्द-सागर के सम्पादन में सहायता दी और बहुत काल तक वे नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के भी सम्पादक रहे।

अब इनकी प्रमुख रचनाओं पर संक्षेपतः प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

चिन्तामणि—प्राचार्य रामचन्द्र मुक्ल के निबन्ध 'चिन्तामणि' नामक पुस्तक में मगरीत है। इसके दो भाग हैं—चिन्तामणि भाग पहला और चिन्तामणि भाग दूसरा। प्रथम भाग में सत्रह निबन्ध हैं, जिनमें से प्रथम दश—भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और श्रान्ति, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध—ये मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध हैं और दोष सात निबन्धों में—कविता क्या है, वाक्य में लोक-मगल की साधनावस्था, माधारणी-करण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद एवं रमात्मक बोध के विविध रूप—ये चार सैद्धान्तिक (वाक्य-शास्त्र के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखने वाले) और तीन—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्तिमार्ग तथा मानस की धर्मभूमि—विवेचनात्मक हैं। यदि हम इन सभी निबन्धों को साहित्यिक निबन्ध बहें तो अनुचिन न होगा, क्योंकि प्रथम मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध भी उन भावों से सम्बन्ध रखते हैं जिनकी प्रकृति प्रथवा मवटना, सबल, उद्भूति, उद्रेक एवं साक्य में जन्म विष्टि की क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं में उद्गारित विचारों के मन्मन का नाम ही साहित्य है और दूसरे प्रकार के निबन्ध तो साहित्यिक सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखते ही हैं तथा दोष तीन में साहित्यिक व्यक्तियों एवं उनकी कृतियों का आलोचनात्मक विवेचन है। चिन्तामणि पुस्तक के मुद्रण पर 'विचाररामक निबन्ध' लिखा होने के कारण बर्द व्यक्ति इन निबन्धों को विवरणरामक मानते हैं और कहते हैं कि इनमें केवल विचार किया गया है। वे भ्रम में हैं,

विचारात्मक निबन्ध से तात्पर्य है विचार—मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध, अतः ये मनोवैज्ञानिक साहित्यिक निबन्ध हैं।

चिन्तामणि द्वितीय भाग में तीन निबन्ध संग्रहीत हैं—काव्य में प्राकृतिक दृश्य, काव्य में रहस्यवाद और काव्य में अभिव्यंजनावाद। ये निबन्ध भी साहित्यिक निबन्ध हैं, जिनमें बड़े विस्तार से विवेचना के साथ-साथ आलोचना भी की गई है।

शुक्ल जी ने अपने निबन्धों में समस्त शैली को अपनाया है। निबन्ध के विषय-प्रवेश में मनोविकार की परिभाषा देते हैं, पुनः उसकी व्याख्या करते हैं और तत्परिचयान् नित्यं पर पहुँचते हैं। उनकी शैली में वाक्यों का विन्यास शुष्क से युक्त होता है, उसमें शब्दों की समन्विति, विचारों का सैन्य-सटन और भावों का सूक्ष्म विस्फेपण रहता है तथा बुद्धि का भार, मस्तिष्क की सुरचना किन्तु माय ही मन्द और सीमित प्रवाह भी रहता है जो स्वयं तो इनना तरल एवं चञ्चल नहीं है परन्तु विज्ञ पाठक के मानन को अवश्य तरंगित करता है। उदाहरणार्थ कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—

‘साहमपूर्ण आनन्द की उमग का नाम उत्साह है।’

‘जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि महने का साहम अपेक्षित होता है उन सबके प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है।’

‘श्रद्धा महत्त्व को आनन्द पूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का सञ्चार है।’

‘यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी, वा बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगे, उसे सामने देख कर आदर से मिर भवाएँगे………।’

‘प्रेम में धनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।’

‘श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।’

‘जब पूज्यभाव की बुद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-नाम की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपाँ के साक्षात्कार की वासना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।’

‘वैर क्रोध का प्रचार या मुरब्बा है। जिससे हमें दुःख पहुँचा है उस पर यदि हमने क्रोध किया और वह क्रोध यदि हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह वैर कहलाता है।’

: 'हृदय की इसी मुक्ति की साधना (रमदशा की प्राप्ति) के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती घाई है उसे कविता कहते हैं।'

'धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है।'

'धर्म है ब्रह्म के- मरुत्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी प्रसीमता का आभास घटिल विश्वस्थिति में मिलता है।'

'मानसिक रूप-विधान का नाम ही कल्पना है।'

'रूप-विधान तीन प्रकार के हुए—

१. प्रत्यक्ष रूप-विधान,
२. स्मृत रूप-विधान और,
३. कल्पित रूप-विधान।'

उपरिलिखित उद्धृताओं में हमने देखा कि कोई सूत्रकार मूल लिखता है और पुनः उसे दुर्गम एवं दुरुह समझ कर उसकी स्वयं व्याख्या करता है। वास्तव में ये मूल भाव-धागर की गहराइयों में प्राप्त और पुनः शुष्क मुक्त हैं। ऐसा सूक्ष्म विवेचन हमें अल्प ही मिलता। केवल नै भवदय भावों का विश्लेषण किया है परन्तु वह इनके पासग में भी नहीं था सकता। यह गौनाखोर इतना गहरा उतरा है कि अपनी पारदर्शक दृष्टि से घतल के बहुमूल्य रत्नों को स्पष्ट देख सका और पुनः व्यक्त करने में सफल हुआ। विश्लेषण में बाल की छाल निकाल दी है। यह बात वहाँ स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है, जहाँ इन्होंने मनोविकारों में भेद बतलाया है। श्रद्धा और प्रेम का अन्तर बतलाते हुए आप लिखते हैं—'श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार'। यदि इतको यों कहा जाय कि प्रेम में प्रमादना होती है और श्रद्धा में अपेक्षाकृत पतलापन किन्तु व्यापकता सौ उचित ही होगी। वास्तव में प्रेम हृदय की यह पुञ्जीशूष प्रयात्मक अनुभूति है जो निर्जनता चाहती है अनन्यता चाहती है और चाहती है केवल एकरमता अतएव उसमें घनत्व है परन्तु श्रद्धा में एकान्त की आवश्यकता नहीं, वह तो समाज में ही अधिक घनपती है। प्रेम संकुचि होकर एक समय में दो में ही सीमित रहना चाहता है परन्तु श्रद्धा अनेक के प्रति व्यापक रूप में प्रदर्शित होती है। अतः निबन्धकार का उपयुक्त वचन शम्भ की बसोटी पर सरा उतरता है।

इसो प्रकार एक रयान पर निगते हैं—'घासोंका अनिद्रनयात्मक वृत्ति है, इसमें लज्जा की ही हो सकती है जिगसा सम्पन्न शूरों की घारणा में है। म्नाति की भासोंका नहीं हो सकती।' पुन जी की सूक्ष्म विवेचना यहाँ तितनो

गहराई पर पहुँची है। वे आशंका को निश्चयात्मक वृत्ति नहीं बतलाते। दूसरे व्यक्ति प्रायः अनिश्चयात्मक धारणा बनाते रहते हैं और उन्हीं से लज्जा की उद्भावना होती है किन्तु ग्लानि के विषय में ऐसा नहीं भ्रतः उसकी आशंका ही होती।

ऐसे सैकड़ों ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। देखिए धृष्टा और क्रोध के भेद में कौसी हिल्लोलायमान विच्छिन्ति है। वे लिखते हैं—'धृष्टा निवृत्ति का मार्ग दिखाती है और क्रोध प्रवृत्ति का।' भाव तो स्पष्ट है कि यदि कोई पुरप या स्त्री प्रेमपूर्वक आप से किसी भीपण बुराई में साभीदार होने के लिए कहते हैं तो आप धृष्टा करेंगे, दूर भागेंगे परन्तु यदि वे क्रोध करें तो आप भी क्रोध में प्रवृत्त हो जायेंगे परन्तु ऐसी सूक्ष्मता पर सूक्ष्म दृष्टि ही पहुँचती है, स्थूल नहीं।

ईर्ष्या को एक संकर भाव बतलाते हुए उसमें आलस्य, अभिमान और नैराश्रय का योग बतलाते हैं। ठीक भी है ईर्ष्यालु ईर्ष्या-मात्र की अपेक्षा सक्षम नहीं होता और उसमें उसकी अकर्मण्यता ही अधिक कारण बनती है किन्तु अपने को मिथ्याभिमान से सन्तुष्टि देता रहता है और ज्यो-ज्यो ईर्ष्या-विषय की उपलब्धि में विलम्ब होता जाता है ईर्ष्या अधिक बढ़ती जाती है।

वास्तव में शुक्ल जी की बुद्धि इतनी पैनी है कि महीन से महीन भाव को भी छील कर रस दिया है। विषय के साथ भाषा भी गभीर है परन्तु पाठक विचलित नहीं होता, वायु में उत्ताप तो है परन्तु वसन्त भी है भ्रतः रुचिकर है। काठिन्य तो है परन्तु स्पर्शमूल भी है, भला दातों के दुबल होने पर भी कोई मीठे गन्ने को छोड़ थोड़े ही देता है।

शुद्ध साहित्यिक निबन्धों में हम शुक्ल जी को सारे आलोचक के रूप में देखते हैं। उन्होंने काव्य-सिद्धान्तों का निरूपण तो रीति-काव्य शास्त्रों के आधार पर ही किया है। साधारणीकरण का यह लक्षण कि 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उस में रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है' भट्ट नायक एवं अभिनवगुप्त के अनुसार ही है। परन्तु इसकी आलोचनात्मक विवेचना में इनकी मौलिकता है। चिन्तामणि द्वितीय भाग के प्रथम निबन्ध में ही वाक्य में प्राकृतिक दृश्य के चित्रण में अतिशयोक्ति को वे एक मजाक कहते हैं। उन्होंने बड़े बड़े शब्दों में अतिशयोक्तिपूर्ण वाक्यों को अराक्त कहा है

और उनमें काव्यत्व का अभाव माना है। इसी प्रकार 'काव्य में रहस्यवाद' नामक द्वितीय तैल में आधुनिक रहस्यवादियों को अनुभूति से हीन होने के कारण आडम्बर-रचयिता कहा है तथा उनकी चेटाओं को भूँटे इगारे बतलाया है—

'जिस तथ्य का हमें ज्ञान नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय में स्पन्दन नहीं हुआ उसकी व्यंजना का आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो कोई यह कहे कि भ्रजात और अव्यक्त की अनुभूति में हम मतवाने हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकाल कर मतवालों के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।'

.....चारों ओर से वेदसल होकर छोटे-छोटे कनकीमो पर भला कविता कब तक टिक सकती है। अमीम और अनन्त की भावना के लिए भ्रजात या अव्यक्त की ओर भूँटे इगारे करने की कोई जरूरत नहीं।'

मनोविकारों को श्रेणीबद्ध करते हुए शुक्ल जी ने युद्ध की बड़ी प्रसरता दिखाई है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—'क्रोध की सब से नीची श्रेणी चिड़चिड़ाहट है, बीच की श्रेणी अमर्ष है और अन्तिम श्रेणी प्रोध है।'

उपर्युक्त विवेचन से यदि हम फलित निकालें तो हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी के विचार हृदय से तो घाए हैं परन्तु युद्ध की शाण पर चढ़ कर। बही-कही तो वे भाव-जगत के इतने गम्भीर या दुर्गम कोने में पहुँच गए हैं जहाँ से उनके दाढ़ प्रतिब्वनित से होते गुनाई पड़ते हैं परन्तु ध्वनि में स्पष्टता छिपी नहीं है। इनका अपना व्यक्तित्व उसी प्रकार मुखर है जिस प्रकार विविध वाद्यों के समष्टि वादन में मुदङ्ग मुखर होता है।

अगरा आलोचनात्मक विवेचन, उनके भेदोपभेद, मनोविकारों में परस्पर अन्तर, तथा भावोद्गति के साथ भाषा की तरंगवित मन्द चाल के गमी शुक्ल जी के व्यक्तित्व एवं पाण्डित्य के परिचायक हैं। इनके लेख कोरे ऐग ही नहीं, उनमें एक आदर्श भरा हुआ है और वह है नैतिक। वास्तव में चिन्तामणि आचार के नियमों का सूक्ति रूप में एक बृहत्कोष है और भारतीय हृदय की साक्षात् प्रदर्शनी है। यदि साहित्य के भाव-महा की इमे भूमिका बहें तो उपर्युक्त होगा।

शुक्ल जी निबन्ध की भाषा की बनीसी मानते हैं। वे बहते हैं—'भाषा की पूर्ण सचिन या विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है।' और यह ठीक भी है, निबन्ध गद्य में होते हैं और भावों का प्रवाह ने अवाय रूप में

निकलना गद्य में ही सरल होता है। ऐसी अवस्था में ही भाषा का सुष्ठु प्रयोग हो सकता है। इस दृष्टि से भी शुक्ल जी के निबन्धों का स्थान अद्वितीय है। इसमें एक बात और भी है कि शुक्ल जी ने पश्चिम से बहुत कुछ सीखा कर उसे भारतीयता में ढाल दिया है; अतएव उनके निबन्धों में कठोरता के साथ-साथ सडक-भड़क भी है। वास्तव में सोने में सुगन्ध भ्रा गई है।

जायसी प्रणवावली की भूमिका—शुक्ल जी ने जायसी के तीनों ग्रन्थ—पद्मावत, अलखरावट और आखिरी कलाम—का सम्पादन करते हुए इस विशाल भूमिका को लिखा था। यह २०२ पृष्ठों एवं २३ अध्यायों में समाप्त हुई है। इतनी बृहद् भूमिका संभवतः दूसरी नहीं है। इसमें कवि जायसी के जीवन-वृत्त पर प्रकाश डालते हुए प्रेम-गाथाओं ने पद्मावत की कथा का आधार बतलाया गया है। पुनः पद्मावत की प्रेम-पद्धति को बतलाने हुए शृंगार के वियोग और संयोग पक्ष का ग्रन्थ के उद्धरणों के ही आधार पर विशद विवेचन किया गया है। नागमती के वियोग-वर्णन को तो शुक्ल जी ने विश्व-माहित्य में उज्ज्वल एवं उत्तम बतलाया है। तदनन्तर इस रति को ईश्वरोन्मुख बतलाते हुए उन्होंने ग्रंथ की प्रबन्ध-कल्पना पर विचार किया है। पुनः वस्तु-वर्णन, भावव्यञ्जना, अलंकार एवं पात्रों के स्वभाव का चित्रण करते हुए ग्रंथ में वर्णित मत एवं मिथ्यात पर प्रकाश डाला है। सूक्तमत्त के सिद्धान्तों का सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट विवेचन करते हुए उन्होंने जायसी के रहस्यवाद को स्पष्ट किया है। अन्त में उनकी भाषा पर विचार किया है, जिसमें ब्रज एवं अरबी की विशेषता बतलाते हुए जायसी की भाषा की तुलसी की सत्कृत-गर्भित अवधी की अपेक्षा ठेठ अवधी लिखी है।

वास्तव में यह भूमिका कथा है, एक बृहत् पुस्तक ही है। इने जायसी को समझने का सही माध्यम कहे तो उपयुक्त होगा। यद्यपि शुक्ल जी जायसी को तुलसी की कोटि में तो नहीं लेते तथापि जायसी की प्रबन्धात्मकता पर वे मुग्ध हैं। जायसी का कथा-निर्वाह, वस्तु-वर्णन एवं इस पर भी रहस्यात्मकता उन्हें बड़ी अच्छी लगी है। बीच-बीच में कवि ने सूफी मिथ्यातों के जो संकेत दिए हैं उनमें लौकिक कथा के निर्वहण में भी बाधा नहीं पड़ी है और रहस्य का उद्घाटन यथावत् हुआ है। इसमें पात्रों द्वारा भाव-व्यञ्जना ने बड़ा योग दिया है। इस पर शुक्ल जी की आलोचना बुद्धि की दृष्टि पड़ी और अपनी कमीटी पर उसे बस डाला। गारी भूमिका एक कविक आलोचनात्मक निबन्ध है, जिसमें उत्तरोत्तर विषय की समझने की क्षमता है। ग्रंथ-सम्बन्धी स्यात् ही कोई बात ऐसी रही हो जो इस भूमिका में न लिखी हो। इसमें पद्मावत की

प्रेम-पद्धति, वियोग-पक्ष, ईश्वरोन्मुख प्रेम, प्रेमतत्व, भक्त और सिद्धान्त तथा जायसी का रहस्यवाद आदि अघ्रायों में विषय का प्रतिपादन बड़ी गम्भीरता एवं मार्मिकता से हुआ है। इससे शुक्ल जी के पाण्डित्य, बहुश्रुतत्व, निबन्ध-पटुत्व एवं बुद्धि-वैलक्षण्य और वैचक्षण्य पर पूरा प्रकाश पड़ता है और पाठक पूर्ण रूप से जान लेता है कि यह एक प्रखर पण्डित आलोचक की लेखनी की करामात है।

भ्रमर-गीता-सार की भूमिका—यह भूमिका ७७ पृष्ठों में समाप्त हुई है तथा इसमें विषयबद्ध अघ्राय नहीं हैं। इसमें आलोचक ने इतिवृत्तात्मक शैली को नहीं अपनाया है, अतः कवि की जीवनी एवं ऐतिहासिकता पर प्रकाश नहीं डाला है। इसमें शुद्ध अभिव्यंजनात्मक शैली को ही अपनाया गया है, अतः मूल के भावपक्ष को विशेषतः स्पष्ट किया है। जायसी ने जिस प्रेम-व्यापार का दिग्दर्शन कराया है, उसकी अपेक्षा मूल की गोपियों का प्रेम बड़ी सहज और विशद है। 'पदमावत' में शुक्ल जी उसकी रहस्यतात्मकता एवं हिन्दू लौकिक कथा में सूफी मिथान्तों की व्यञ्जना से प्रभावित हुए थे, परन्तु यहाँ गोपियों के सहज, श्रमिक एवं निरदल प्रेम पर मुख्य हैं। शक्ति, शील और सौन्दर्य को आलोचना का मापदण्ड मानने वाला आलोचक यहाँ केवल सौन्दर्य के बल पर ही चला है। कृष्ण की बाल-लीलाओं से लेकर वर्धमान प्रायु के साथ नवीन्मित प्रेमाङ्कुर में उसे ऐसी कोमलता दीख पड़ी कि वह प्रशंसा किए बिना न रहा। साथ ही इसमें बलापक्ष पर भी प्रकाश डाला गया है। शक्ति एवं दार्शनिक लेखक को भ्रमर-गीता का विषय अधिक रुचिकर हुआ होगा तथा कृष्ण के बाल-चापल्य एवं गोपियों के सहज प्रेम ने उस पर जादू किया होगा, इसीलिए उसने इस ग्रंथ के भावपक्ष को इतना मनोयोग के साथ मुख्य किया है। कलापक्ष के उद्घाटन में मूल की गीति ने अधिक योग दिया होगा।

शुक्ल जी मूल की मुख्यतः शृंगार और बाल्य का ही कवि मानते हैं, अतः उद्धरणों द्वारा इन्हीं के चित्रण के साफल्य पर उन्होंने प्रकाश डाला है। अन्त में मूल की विशेषताएँ भी बतलाई हैं।

तुलसी संवाचनी की भूमिका—पहले यह तुलसी प्रवाचनी की भूमिका के रूप में ही लिखी गई थी, परन्तु बाद में इसे प्रथम पुस्तकालय में कर दिया गया। यह ग्रंथ पीने दो ही पृष्ठों में है। इसमें तुलसी का गतिमान जीवन-वृत्त, उनकी भक्ति-पद्धति, मोक्ष-धर्म, मगनागा, सोबनीति और मर्षादावाद, शील-साधना और भक्ति, ज्ञान और भक्ति, तुलसी की वाच्य-पद्धति, तुलसी की भावुक्तता, उनकी भाषा, उक्ति-वैचित्र्य एवं चलनार तथा हिन्दी-साहित्य में

उनका स्थान और मानस की धर्मभूमि आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जायसी की आलोचना में शुक्ल जी हिन्दू लौकिक कथा में प्रवन्धात्मकता एवं रहस्यात्मकता से प्रभावित हुए हैं, भ्रमरगीत-सार की भूमिका के लिखने में गोपियों के सहज प्रगाढ़ प्रेम एवं यशोदा के वात्सल्य और सगुण की मुक्तकंठपूर्ण स्थापना ने उन्हें प्रेरित किया, परन्तु तुलसी प्रथावली की भूमिका का मूलाधार है राम की शक्ति, शील और सौन्दर्य। 'तुलसीदास' में लिखा है— 'भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी नै लोक के सम्मुख रक्ता है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों विनूत्रियों की पराकाष्ठा है। सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं, जिन पर हृदय प्रमदाः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढ़ता है। इनमें से प्रथम सोपान ऐसा सरल है कि स्त्री-पुरुष, मूर्ख-बुद्धि, राजा-रंक सब उस पर अपने हृदय को बिना प्रयास भडा देते हैं। इसकी स्थापना गोत्वामी जी ने राम के रूप-माधुर्य का अत्यन्त मनोहर चित्रण करके की है।' एक बात इस आलोचना में अवश्य विचारणीय है कि शुक्ल जी ने तुलसी को लोकमर्यादा-प्रचारक एवं सुधारक और न जाने क्या-क्या कहा है। हमारे विचार से आलोचक ने उसे अपनी, हमारी और सब की आंखों से देखा है, परन्तु तुलसी ये केवल राम के भक्त और हमसे अधिक बुद्ध नहीं। हाँ, रामचरित मानस की रचना से तुलसी में ये गुण अवश्य देखे जा सकते हैं।

रस भीमांसा—इस ग्रंथ में आठ अध्याय हैं—काव्य, काव्य के विभाग, काव्य का लक्षण, विभाव, भाव, रस, शब्दशक्ति और ध्वनि। यद्यपि ग्रंथ का नाम रस-भीमांसा है, परन्तु काव्य के लक्षण, विभाग एवं शब्दशक्ति आदि विषयों को इसलिए लिया है कि ये रस से सम्बन्धित हैं। रस काव्य की आत्मा होता है, काव्य सगुण, अदोष और सालंकार शब्दार्थ को कहते हैं और ध्वनि शब्द-शक्तियों में तृतीय शक्ति व्यञ्जना ही का नाम है। इस प्रकार ये सब विषय परस्पर सम्बन्धित हैं। रस के विवेचन के लिए इनका प्रतिपादन आवश्यक था। प्रायः शुक्ल जी ने सम्पूर्ण विवेचन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर ही किया है, परन्तु एक विशेषता है कि वे रस को आध्यात्मिक नहीं मानते और न उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहते हैं। उसे वे केवल मनसा चर्य एवं आस्वाद्य मानते हैं। इस भीमांसा में आलोचनात्मक विवेचन भी इनकी मौलिकता है।

शुक्ल जी ने काव्य को दर्शन की भाँति मुक्ति का साधन माना है। जिन प्रकार दर्शन ज्ञान को मुक्ति का साधन बताता है उसी प्रकार काव्य का सात्त्विक भाव भी मनुष्य को मुक्ति दिलाता है। दर्शन बुद्धि के पाद-पीठ पर

विराजता है तो काव्य हृदय के सिंहासन पर। एक में बठोरता है तो दूसरे में सरसता। एक में तर्क की भीषण लपटें हैं तो दूसरे में मन्द झकोरे। काव्य केवल मनोविनोद की ही वस्तु नहीं, वह आत्मचेतना का साधन भी है। इम काव्य की आत्मा रस मानो गई है। अतः इसके निरूपण के लिए काव्य का विवेचन उपयुक्त ही है। वास्तव में काव्य रसानुभूति का मूल साधन है। काव्य ही चराचर जगत् के प्रति मानव हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न कर प्रेम उत्पन्न करता है। जगत् आलम्बन है और हृदय उसके विविध चित्रों का आश्रय है, जहाँ उनका नाना भावों द्वारा मस्तिष्क की सहायता से विश्लेषण होता है। मस्तिष्क की सहायता से इसलिए कि पागल के हृदय में यह प्रक्रिया नहीं होती। पागल सगीत से तरंगित हो सकता है, काव्य से नहीं। जगत् काव्य का विषय है और काव्य में चित्रित उमी के वासना रूप में मानव-मन में रमे हुए विभिन्न रूप रसानुभूति का प्रधान कारण बनते हैं, अतः काव्य का रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

शुक्ल जी ने रसानुभूति के प्रधान कारण काव्य में कल्पना को बड़ा महत्व दिया है। काव्य में भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान चराचर जगत् जो आलम्बन या उद्दीपन के रूप में हैं, कल्पना के बल पर ही चित्रित होता है। कहा जा चुका है कि मानव-मन में विविध भाव वासना रूप में विद्यमान रहते हैं, उनमें से नौ स्याथी हैं और कुछ ऐसे हैं जो सञ्चरणशील हैं, उनकी सख्या आचार्यों ने गिनी नहीं जा सकती। मानव-हृदय के स्याथी भाव ही रसानुभव के उपादान कारण हैं, अन्य भाव निमित्त कारण हैं। रसानुभूति में शुक्ल जी ने भट्ट नायक एवं अभिनवगुप्त के साधारणीकरण को बड़ा महत्व दिया है। भट्ट तोल्नट के उत्पत्तिवाद एवं मनुक के अनुमितिवाद से वे सहमत नहीं। उन्होंने अभिनवगुप्त के अभिध्वनिवाद को ही स्वीकृत किया है, अतः इस ग्रंथ में शब्द-संविनयो एवं ध्वनि (अभिध्वंजना) का भी विवेचन किया है।

अनुवाद—पहले लिखा जा चुका है कि शुक्ल जी ने कई अंग्रेजी एवं बंगला पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में किया। उनकी तात्कालिक प्रकाशनाई जा सकती है—

अनुवाद
कल्पना का आनन्द
राज-प्रबन्ध-निशा
विदग्ध-प्रबन्ध
आदर्श जीवन

मूलग्रन्थ एवं ग्रन्थकार
एडोमन वून ऐमेज घॉन दमैजिनेशन
गर टी मापवराय वून मादरर हिट्स
हीगन-निमिन रिडिल घॉक दि यूनियन
स्माद्व-रचित ट्वेन सिविग एण्ट हार्ड सिविग

{	मेगस्थनीज का	डा० श्वानवक कृत मेगस्थनीज इण्डिया
	भारतवर्षीय विवरण	
	बुद्धचरित	एडविन आर्नल्ड कृत लाइट आफ एशिया
	शशाक	राखालदास बन्दोपाध्याय निर्मित शशाक

शुक्ल जी के अनुवादों में एक विशेषता है कि उनमें कृत्रिमता नहीं माने पाई है जैसा कि प्रायः अनुवादों में हुआ करता है। इन अनुवादों में बुद्ध-चरित एवं शशाक ही विशेषतया उल्लेखनीय हैं, अतः उन्हीं पर मूक्षमतः प्रकाश डाला जाता है।

शुक्ल जी ने 'बुद्ध-चरित' को अंग्रेजी कवि एडविन आर्नल्ड कृत 'लाइट आफ एशिया' के अनुवाद रूप में उपस्थित किया है। काव्य का काव्य में ही अनुवाद है, जो एक बड़ा विषय प्रयास है। काव्य का गद्य में अनुवाद सरल होता है क्योंकि मूलभाषों को गद्य में संचित करने का अवसर अधिक होता है परन्तु कविता में भावध्याया बड़ी बाधा डालती है और यह भी चुने हुए वर्ण एवं मात्राओं से आवद्ध छन्दों में। मूल पुस्तक एक ही छन्द—ज्यक वसंत—में है परन्तु शुक्ल जी ने कवित्त-सर्वथा आदि कई छन्दों को अपनाया है। पूर्ण भाषा का स्थापन करते हुए छन्दों में कही भी शैथिल्य नहीं आया है। भाषा तो ब्रज के पूर्ण माधुर्य के साथ छन्दों में बम बर बैठी है। पुस्तक को पढ़ कर कोई नहीं कह सकता कि यह अनुवाद है वरन् एक स्वतन्त्र काव्य के रूप में प्रतीत होती है। वास्तव में यह एक सफल प्रयास है जो अपने क्षेत्र में अनुपम है। अंग्रेजी एवं हिन्दी के उद्भूत विद्वान् होने के कारण अंग्रेजी का प्रत्येक भाव निखर तो गया है परन्तु कही भी मन्द नहीं पडा है।

आर्नल्ड साहब भगवान् बुद्ध की जीवनी से पूर्ण परिचित न थे अतः उन्हें ऐतिहासिक भूल भी कीं हैं, यथा—आर्नल्ड ने भवनोपवन में ही शालवृक्ष के नीचे बुद्ध जी का जन्म लिखा है जब कि जानकग्रन्थों के अनुसार उनका जन्म सुम्बिनी वन में हुआ था। शुक्ल जी ने जानक ग्रन्थों के अनुसार ही लिखा है। इसके अतिरिक्त वस्तु एवं भाव की व्यंजना में तो अनेक स्थलों पर शुक्ल जी आर्नल्ड ने कही आगे बढ़ गए हैं। उदाहरणार्थ एक स्थान पर आर्नल्ड ने लिखा है—

The thoughts ye cannot stay
With broken chains,
A girl's Hair lightly binds.

इसका अनुवाद युवल जी ने इस प्रकार किया है—

तौह-सीकड़ सौ नहीं जो भाव रोको जाय ।
कुटिल-कामिनि-केश सौ तो सहज ही बंधि जाय ॥

देखिए अनुवाद में कितनी नैसर्गिकता और मार्मिकता है। थ्रानेल्ड पीतल की श्रृंखलाएँ बताते हैं जबकि युवल जी लोहे की, उन्होंने लडकी के बाल लिखा है जब कि उन्होंने कामिनि के केश और वे भी कुटिल। लडकी के बालों की अपेक्षा कामिनी के केश बड़े भी होते हैं, कुटिल भी होते हैं और उनमें भावों को बांधने की शक्ति भी होती है। काले होने के नाते तौह-श्रृंखलाओं से साम्य भी ठीक बँटता है। केश हैम तो होते हैं, पित्तली नहीं। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर युवल जी थ्रानेल्ड को पीछे छोड़ गए हैं। कहीं-कहीं उन्होंने मौलिकता भी दिखाई है। ऐसा वही हुआ है जहाँ थ्रानेल्ड महोदय अज्ञानयज्ञ श्रुति कर गए हैं, जैसे उन्होंने एक स्थान पर बसत में हल जोतना लिखा है परन्तु युवल जी ने उसे खलिहान कर दिया है, जो ठीक है। सम्भवतः थ्रानेल्ड ने अपने दृष्टिकोण से लिखा है, वहाँ की स्थियों के बाल प्रायः काले नही होते हैं और सम्भवतः वहाँ बसत में हल चलते हों परन्तु युवल जी भारतीय थे, उनसे यह भूल क्षिप्त कर नहीं निकल सकती थी।

यदि हम इस अनुवाद में उनके दृष्टिकोण को देखना चाहते हैं तो इसके लिए 'बुद्धचरित' के प्रारम्भिक वक्तव्य को देखें। वे लिखते हैं—“यद्यपि ढग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिन्दी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो, पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया। दृश्य वर्णन जहाँ अत्युक्त और अर्थपूर्ण प्रतीत हुए वहाँ बहुत कुछ फेर-फार करना या बढ़ाना भी पड़ा है।”

साक्षात् रासालदाम बन्दोपाध्याय के प्रसिद्ध उपन्यास साक्षात् का अनुवाद है। अनुवाद भाव का साधय लेकर लिखा गया है, बल्कि पर इतना ध्यान नहीं दिया गया है, अतः युवल जी की भाषा में कुछ गम्भीरता भागई है परन्तु सोष्ठव ज्यों का त्यों है। एक और विशेषता करती है कि मूल उपन्यास दुःखान्त है परन्तु अनुवाद गुमान्त है। सम्भवतः युवल जी को भारतीय परम्परा के अनुसार यही मञ्छा जंचा होगा।

इतिहास—उन्होंने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' एवं 'पारंग का प्राचीन इतिहास' ये दो इतिहास लिखे। हिन्दी साहित्य का इतिहास इनकी प्रथम रचना है। ऐसा आलोचनात्मक सुचारु ढंग से लिखा गया दूसरा इतिहास

नहीं। इनका कालविभाग भी काल-प्रवृत्ति के अनुसार हुआ है अतः मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक इसलिए कि उनकी रीति पर पाश्चात्य प्रभाव पर्याप्त है। काल के प्रारम्भ में उनकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए आगे सामयिक कवियों के विषय में इतिवृत्तात्मक एवं रचनाओं के सम्बन्ध में आलोचनात्मक विवेचन बड़े मुन्दर ढंग पर हुए हैं। विषय का प्रतिपादन सूक्ष्मतः हुआ है परन्तु अन्त में पूर्ण सटन और गठन के साथ ही। आधुनिक काल को गद्यकाल बतलाते हुए उन्होंने गद्य की नाटक, उपन्यास, कहानियाँ, निबन्ध एवं समालोचना सम्बन्धी बहुमुखी प्रगति पर बड़ा उज्ज्वल प्रकाश डाला है। साथ ही कविता-मुक्तकों का भी विवरण देने हुए आधुनिक काल में उद्भूत नए वादों—ध्यायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद आदि—की भी मनोरम विवेचना की है। इनके इतिहास के विषय में अधिक कहना उचित नहीं क्योंकि उसकी महत्ता इसी में उद्घोषित हो रही है कि हिन्दी साहित्य के कवि एवं उसकी कृति पर कोई रचना ऐसी नहीं जिसमें इनके इतिहास से सहानुता न ली गई हो या न ली जाय।

कविता—बुद्ध-चरित गुप्त जी का अनूदित काव्य ग्रन्थ है। उस पर सूक्ष्मतः प्रकाश डाला जा चुका है। उनकी फुटकर कविताएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो देश, जाति एवं अपनी भाषा से सम्बन्ध रखती हैं और दूसरी वे जिनमें प्रकृति का चित्रण हुआ है। 'भारतेन्दु जयन्ती', 'हमारी हिन्दी', 'गोस्वामी जी और हमारी हिन्दू जाति', 'प्रेम-प्रथाप' और 'भारत और वनस्पति' आदि कविताएँ प्रथम वर्ग में आती हैं, कुछ उनकी प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ भी हैं। वास्तव में कवि की कला इन्हीं प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं में ही शमकी है। प्रथम प्रकार की रचनाओं में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता है परन्तु द्वितीय प्रकार की रचनाओं में अनिर्व्यञ्जना को उचित स्थान मिला है।

उदाहरणार्थ एक छन्द नीचे उद्धृत किया जाता है—

ग्राम के सीमान्त का सुहावना स्वरूप भव,
 भागता है भूमि कुछ और रंग लाता है।
 वहीं-वहीं विचित्र हेमाभ हरे खेतों पर,
 रह-रह श्वेत शक घामा सहताते है।

उमड़ी सी पीली भूरी हरी ब्रम पुञ्ज घटा,
 घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती ही जाती है ।
 उसी में विलीन एक और धरती ही मानो,
 घरों के स्वरूप में उठी सी दृष्टि भ्राती है ॥
 देखिए शब्दों में कितना मधुर सामञ्जस्य है और चित्रण
 सहज एवं सजीव है ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म सं० १९२२ (सन् १८६५ ई०) में निजामाबाद में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय और माता का नाम रविमणी देवी था। पाँच बरस की अवस्था में इनके पितृव्य पं० ब्रह्मासिंह ने गृह पर ही इनका शिक्षण प्रारम्भ किया। ब्रह्मासिंह बड़े धर्मनिष्ठ और चरित्रशील विद्वान् थे भवतः इनमें भी धर्म, चरित्र और विद्या के पवित्र और दृढ़ अंकुर जम गए। दो बरस पर्यन्त घर पर ही विद्याध्ययन कराने के परवान् उन्हें निजामाबाद के मिडिल स्कूल में प्रविष्ट कराया गया। घर में ब्रह्मासिंह जो प्रायः भागवत की कथा कहा करते थे, जिससे बालक अयोध्यासिंह के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति एक मधुर आकर्षण हो गया। घर पर उनकी संस्कृत-शिक्षा प्रारम्भ हुई, अध्यापक थे स्वयं पं० ब्रह्मासिंह। स्कूल में ये मौलवी इनाममली से फ़ारसी भी पढ़ते थे। मिडिल पाम होने पर उन्हें छात्र-वृत्ति मिली और अंग्रेजी पढ़ने के लिए नवीस कॉलेज बनारस भेजा गया। परन्तु वहाँ इनका स्वास्थ्य ठीक न रहा भवतः उन्हें घर बुला लिया गया और पुनः संस्कृत और फ़ारसी का अध्यापन प्रारम्भ हुआ। शनैः-शनैः संस्कृत और फ़ारसी का उत्कृष्ट ज्ञान इन्हें हो गया। इसी बीच इन्हें साहित्य-भोष्टियों में जाने का अवसर मिला और हिन्दी की ओर रुचि हुई। धीरे-धीरे हिन्दी का परिज्ञान भी इन्हें अधिक हो गया और हिन्दी में कविता करने लगे। निजामाबाद में सित-मन्मथदास के स्थानीय गुरु मुमैरसिंह के यहाँ कवि-समाज एकत्र होता था, उपाध्याय जी भी उसमें समस्यापूर्तियाँ पढ़ते थे। उस समय ये 'हरिऔध' के उपनाम से कविता करते थे और तभी से यह चला आ रहा है।

जब ये पन्द्रह-सोचह बरस के थे, एक बंगाली महाशय तारिणीचरण से इनका परिचय हुआ और इन्होंने बंगला का अध्ययन प्रारम्भ किया। शीघ्र ही ये बंगला को भली-भाँति समझने लगे और इन्होंने अनेक बंगला के ग्रन्थों को पढ़ा, जिनसे इन्हें बड़ी प्रेरणा मिली।

विवाहोपरान्त आजीविका की चिन्ता हुई और पं० रामवरण के प्रयत्न से निजामावाद के स्कूल में ही ये अध्यापक हो गये। सिदाविभाग के सहकारी कविताओं से बड़े प्रभावित थे। जब पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र द्वारा सम्पादित 'काशीपत्रिका' में प्रकाशित उर्दू के 'वेनिस का बाँका' और 'रिपवान विकल' नामक दो उपन्यासों को हिन्दी में अनुवाद करने का प्रश्न उठा तो उन्होंने हरिऔध जी को ही चुना। इन्होंने इसको स्वीकार किया और अनुवाद कर दिया, जो इतना सुन्दर हुआ कि सभी ने प्रशंसा की।

आजमगढ के सदर कानूनगो बाबू धनपतिलाल ने जब 'वेनिस का बाँका' की आलोचना पढ़ी तो उनका ध्यान भी इनकी ओर गया और उन्होंने इन्हें कानूनगोई की परीक्षा में बैठने के लिए प्रेरित किया। उत्तीर्ण होने के पश्चात् इन्हें कानूनगोई भी दिलवाई और लगभग ३५ वर्ष इन्होंने इस क्षेत्र में सम्मानपूर्वक कार्य किया। पुनः महामना मदनमोहन मालवीयजी के कहने से इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापन का श्रेष्ठतमिक कार्य स्वीकृत किया और सन् १९४१ (सं० १९६८) तक यही कार्य करते रहे। वहाँ से अवकाश ग्रहण करने पर ये आजमगढ में स्थायी रूप से रहे और ५ वर्ष पश्चात् सन् १९४७ में छः माँच को इस प्रसार सप्ताह को छोड़ गए।

कृतियाँ—उपाध्यायजी की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने, कविता, उपन्यास, नाटक, निबन्ध और समालोचना सभी के क्षेत्र में अत्यधिक कार्य किया। उनकी रचनाओं की तालिका विषयानुसार इस प्रकार बना सकते हैं—
काव्य-ग्रन्थ—प्रियप्रवाम, वैदेही बनवास, रमकलन, पद्यप्रसून, चोपदे, चुमते चोपदे, बोलचान, प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रसवण, प्रेमाम्बुप्रवाह, प्रेमपुष्पोपहार, प्रेम प्रपञ्च, काव्योपवन, कल्पलता, पारिजात और सतसई आदि।
उपन्यास—अनुवाद—वेनिस का बाँका, रिपवान विकल, मौलिक—डेठ

हिन्दी का टाठ, अर्घसिला पून।
नाटक—धर्मिणी परिणय और प्रद्युम्न विजय व्यायोग।

आलोचनात्मक—हिन्दी माया और साहित्य का विकास, कबीर यचनावली की आलोचना और साहित्य सदर्भ।
रचनाओं पर एक विहंगम दृष्टि—अयोध्यासिंह उपाध्याय की आत्मकथा से ही संस्कृत और फारसी की उच्च शिक्षा मिली थी, मात्र पाँच पन्नाह मापाओं के ग्रन्थों का अध्ययन ये गम्भीरता से कर सके, जिनसे इन्हें प्रत्य प्रतिभा प्रदान की। संस्कृत के परिजान एवं हिन्दी-भाषाकरण से इन्हें हिन्दी में

भी उल्टा अभिहित हो गई और जीवन से पूर्व ही कविता करने लगे। सुमेर-सिंहजी के यहाँ जो कवि-गोष्ठियाँ होती थीं, उनमें ये भाग लेते थे। उस समय डाय: ब्रजभाषा में कविता होती थी क्योंकि भारतेन्दुजी की 'शिष्य-मण्डली का दोलवाला था। उपाध्याय जी की अवस्था १५-१६ वर्ष की थी। ये भी ब्रज-भाषा में सप्तस्थापूति करने लगे, छन्द होते थे कवित्त और सर्वथा।

सत्रह वर्ष की अवस्था में इन्होंने 'श्रीकृष्ण शतक' लिखा। यह शतक सम्भवतः संस्कृत के शतकों को देखने के पश्चात् ही लिखा गया होगा, परन्तु यह कोई प्रगंसनीय कृति नहीं है, क्योंकि इसमें कवि का ध्यान भाषा को अतद्धृत करने की ओर अधिक है न कि भाव की ओर। श्रीकृष्ण के विषय में लिखा हुआ ग्रंथ है और वह भी एक किशोर द्वारा, जो न भक्त है और काव्यदृष्टि में सशक्त। ग्रंथ का क्लेवर तो है, परन्तु प्राणहीन। यह सब कुछ होते हुए भी इससे उपाध्याय जी की कवि-प्रतिभा का पता अवश्य लगता है।

बीस वर्ष की अवस्था में सन् १८८५ ई० में इन्होंने 'रत्नमाली परिणय' नामक नाटक लिखा और तीन महीने पश्चात् 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' का निर्माण किया, किन्तु इनका प्रकाशन उम्र समय न हो सका और लगभग दस वर्ष पश्चात् हुआ। ये नाटक नाट्यकला की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं है। पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इन्होंने सम्भवतः हाथ आजमाने के लिए ही इन्हें लिखा था। 'रत्नमाली-परिणय' की कथावस्तु के अनुर्य अग नियताप्ति की सहायक अवसरों संघि का विधान समुचित नहीं है। फलागम में नाटक का उद्देश्य तो पूरा हुआ है, परन्तु कथानक में शिथिलता आ गई है। शृंगार-रस की प्रधानता होने से माधुर्य तो है, परन्तु नाटकीय शैली का बलाघात नहीं। 'प्रद्युम्न-विजय व्यायोग' में कविता का आनंद अवश्य उठाया जा सकता है। इसमें पात्र बहुत थोड़े हैं और उनका बार-बार रगमंच पर घाना नवीनता का हनन कर देता है, अतः कविता भी अचाने वाली प्रतीत होती है। कविता भी प्राचीन ढंग की है। हिन्दी में सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने 'धनंजय-विजय' नामक व्यायोग लिखा था, तदनंतर उपाध्याय जी ने यह व्यायोग लिखा, इस प्रकार यह दूसरा व्यायोग है, अतः कुछ महत्व रखता है।

उपरिलिखित तीनों ही कृतियाँ भगवान् श्रीकृष्ण में सम्बन्ध रखती हैं, इनसे उपाध्याय जी का श्रीकृष्ण के प्रति आकर्षण और अनुराग विदिन होता है।

सन् १८८७ में इन्होंने 'वेनिग का वाँरा' और 'रिषवान विक्क' नामक उर्दू के दो उपाध्यायों का हिन्दी में अनुवाद किया। इन अनुवादों में रोचकता तो

है, परन्तु भ्रमुद्धिर्मा अधिक है। भाषा मुसस्कृत होती हुई भी उसमें एक गतिमान् प्रवाह नहीं है।

इनमें उल्लिखित हो सन् १८६६ (सं० १६५६) में इन्होंने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उपन्यास लिखा। और पुन सन् १६०७ (सं० १६६४) में 'अघखिता फूल' लिखा। उपर्युक्त अनुवादों में भाषा में संस्कृत का प्राबल्य था, परन्तु इन उपन्यासों में ठेठ हिन्दी को स्थान दिया। डॉ० प्रियर्सन ने 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की आलोचना में इसकी भाषा को सुन्दर और शोजपूर्ण लिखा है। 'अघखिता फूल' के विषय में भी ऐसी ही बात है। परन्तु इतना अवश्य कहना पड़ता है कि इनकी भाषा सरल और मधुर होती हुई भी अधिक सुन्दर नहीं। प्रथम उपन्यास में ग्राम्यता अधिक है और द्वितीय के पद्यों में फारसीपन। कथा-बन्ध भी उच्च-कोटि का नहीं। इनमें उपन्यास लिखने का एक प्रयत्न-सा दोष पड़ता है। हाँ, उपाध्याय जी ने जो आदर्श उपस्थित किए हैं वे अवश्य ऊँचे हैं। 'ठेठ हिन्दी के ठाठ' में देवबाला के चरित्र से एक आदर्श पत्नी का रूप चित्रित किया गया है और देवनन्दन के चरित्र से यह दर्शाया है कि विरथन जीवन से ममाज एवं देश की सेवा करना कहीं महत्वपूर्ण है। 'अघखिता फूल' में भी देवदूती और देवस्वरूप के चरित्र से भी ये ही आदर्श उपस्थित किये गए हैं। इन उपन्यासों के इन प्रधान पात्रों ने हरिमीप जी को प्रिय-प्रवास के शृष्ण और राधा के चित्रण में बड़ी सहायता दी है, यह ज्ञानव्य है।

सन् १८६६-१६०० में इनके तीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए— 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बुप्रगवण' और 'प्रेमाम्बु-प्रवाह'। इनमें श्रीकृष्ण विषयक ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह है। इन पर भारतेन्दु जी का प्रभाव स्पष्ट है। कहीं-कहीं रसगान आदि कवियों का प्रभाव भी दौर पड़ता है, यथा—

उपाध्याय जी—

भक्तु जन जदुपनि कमलानाय ।

तेस सुरेस गनेस सम्भु भज जेहि पद नाथत माप ।

रसगान—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गारें ।

इनके पश्चात् 'प्रेमप्रबंध' लिखा। उपर्युक्त 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बु-प्रगवण' और 'प्रेमाम्बुप्रवाह' तथा 'प्रेमप्रबंध' को एक ही ग्रन्थ में संकलित कर 'ब्राह्मोपवन' नाम से प्रकाशित किया।

उपाध्यायजी ने अब तक जो कुछ लिखा वह भारतेन्दु युग की कृतियाँ

कही जा सकती है क्योंकि उनमें कविता ब्रजभाषा की है तथा शैली भी प्राचीन परम्परानुगत एवं इतिवृत्तात्मक है। उनका कृष्णविषयक प्रेम भी प्राचीन परम्परा का ही सूचक है। उपन्यास एवं नाटकों में खड़ी बोली का व्यवहार किया है परन्तु भाषा में प्रवाह नहीं, यद्यपि काव्योपवन में मंत्रहीन चारों रचनाएँ द्विवेदी काल में लिखी गईं परन्तु उन पर प्राचीन प्रभाव ही अधिक है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी संस्कृत के कट्टर पक्षपाती थे अतः भाषा में वे संस्कृत पदावली को प्रोत्साहन देते थे। 'सरस्वती' के सम्पादक होने पर उन्होंने आलोचनाओं द्वारा इस कार्य को निर्भयता से सम्पादित किया। उपाध्याय जी पर भी उनका बड़ा प्रभाव पड़ा और इन्होंने संस्कृत के छन्दों में एव संस्कृत-बाहुल्य भाषा में कविता लिखना प्रारम्भ किया। इसके परिणामस्वरूप सन् १९१४ (सं० १९७१) में उनका 'प्रियप्रवास' नामक काव्य प्रकाशित हुआ। इसमें भी श्रौष्ट्य एव ब्रज-निवासियों का ही वर्णन है। यह ग्रन्थ ही इनकी अमर कृति है अतः हम इन पर अन्त में पृथक् रूप से विचार करेंगे।

प्रियप्रवास के पश्चात् इनका दूसरा महाकाव्य है 'वैदेही वनवास'। जैसा कि नाम में ही पता चल रहा है, यह एक कल्याण रस का काव्य है। काव्य उत्तम कोटि का है परन्तु उनका श्रेष्ठ नहीं बन पड़ा है जितना प्रियप्रवास।

प्रियप्रवास में तत्सम शब्दों की भरमार थी और वृत्त भी सस्त्र के थे परन्तु इसके अनन्तर उपाध्याय जी ने एक नवीन प्रणाली को अपनाया, जिसमें भाषा में चलताऊपन और मुहावरों की भरमार है। इस शैली पर लिखी गई इनकी रचनाएँ हैं—'बोले चौपदे', 'बुझते चौपदे' और 'बोलचाल'। इस शैली पर कुछ चौपदे ये 'अधविना पूव' में लिख चुके थे। स्वयं हरिऔध जी के अनुसार ये पुस्तकें चलती भाषा में मुहावरों का ठीक प्रयोग करने के लिए ही लिखी गईं। ये रचनाएँ सन् १९२४ में निर्मित हुईं। इनमें सस्त्र का मोह छूट सा गया है और विदेशीयन स्पष्ट भ्रमक रहा है, उर्दू एवं फारसी के ही ढंग पर छन्दों का प्रयोग एवं उक्ति-वैचित्र्य है। परन्तु हिन्दू-संस्कृति, जाति, धर्म और देश के प्रति श्रद्धा का और कुप्रथाओं के प्रति निन्दा का बड़ा प्रदर्शन है। वाकु बभ्रुवित्त, व्याजोक्ति एवं व्यंग्योक्तियों का बड़ा सुन्दर प्रयोग इन रचनाओं में मिलता है। जैसी चूटकियाँ इन्होंने ली हैं एवं कवियों की हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

स्वाधियों के प्रति वे लिखते हैं—

मनकों का भूत तिर पर है चड़ा,

दूरों पर निज बना टाले न श्यों।

जब गयो है फूट धाँसे भीतरी,
लोन राई धाँस में डालें न क्यों ।

हिन्दुओं के प्रति—

हरिषीय चल होते घबल बने ही रहे,
बार-बार वरियों का होता बोलबाता है ।
पाला कंसे मारें पाले पड़े हैं कचाइयों के,
हिन्दुओं के लोहू पर पड़ गया पाला है ।
हरिषीय हिन्दुओं में हिम्मत रही ही नहीं,
हार को सदा ही हार गले का बनावेंगे ।
चोटी काट-काट ये सचाई का सबूत देंगे,
घुनिटी को पाँव घाट-घाट के घचावेंगे ।

भ्रष्टों के प्रति—

जिन्हें हम छूते नहीं समझ भ्रष्ट,
जो है माने गये सदा परम पतित,
पास उनके होता क्या नहीं हृदय ?
बेदनाशों से वे होते क्या नहीं घ्यपित ?
क्या उसी से बड़ी न गंगा है ?
बल उसी के न क्या पुजे यावन ?
है घपावन भ्रष्ट तब कंसे ?
है भला कौन पाँव सा पावन ?
जाति, देश एव लोक की मेवा के विषय में—
हो न जिसमें जाति-हित का रंग कुछ,
बात वह जो में ठनी तो क्या ठनी ।
हो सकी जब देश की सेवा नहीं,
तब भला हम से बनी तो क्या बनी ।
उस कलेजे को कलेजा क्या कहें,
हो नहीं जिसमें कि हित धारें बहों ।
भाव सेवा वा सके तब जान क्या,
कर सके जब लोक की सेवा नहीं ।
देश की दुर्दशा पर—
बै न हलबे धीन तो करये न लें,
नाम कब तरु देतते जलये रहें ?

कच तलक बलवे रहेंगे देश में,
कच तलक हम चाटते तलवे रहें ?

बेमेल विवाह पर—

वंस में धुन लगा दिया उतने,
धो नई पोय की कमर तोड़ी ।
जानि को है तब्राह कर देती,
एक अन्हड़ अन्हड़ की जोड़ी ।

इन उदाहरणों से हमें 'हरिप्रोथ' जी की उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त शैली का मनी-भाँति ज्ञान हो सकता है और साथ ही देश, धर्म, जाति, लोक एवं समाज के प्रति दृष्टिकोण का भी पता लग जाता है। फारसी की मगनकियों में जो नोक-भोक और व्यंग्योक्तियाँ हमें शृंगार के क्षेत्र में मिलती हैं वे इन रचनाओं में उपर्युक्त क्षेत्रों में उपलब्ध हैं। वास्तव में ये चीपदे चोखे और चुभते ही हैं। कवि द्वारा व्यवहृत 'चोखे' और 'चुभते' शब्दों में ही इनकी मगस्त विशेषताएँ अन्तर्निहित हैं। हरिप्रोथ जी ने 'चोखे चीपदे' को बहुत ऊँचा स्थान दिया है क्योंकि इसमें भावों के भाव अलंकारों की योजना भी बड़ी सुन्दर है।

इन रचनाओं के अनन्तर मन् १६२५ में इन्होंने 'पद्यप्रसून' की रचना की। इसमें भाषा के दोनो ही रूप हमें दृष्टिगोचर होते हैं—साहित्यिक भी और बोलबाल का भी।

जिस समय हरिप्रोथ जी व्रजभाषा की कविता करते थे उस समय उन्होंने शृंगारिक रचनाएँ भी कीं। वे सभी प्रायः 'रमकलस' में रसागो के उदाहरण के रूप में संग्रहीत हैं। इस ग्रन्थ में शृंगार के अल्पगत नायिकाभेद का बड़ा विस्तार विवेचन है। इस प्रसंग में इन्होंने रीतिकानीय कवियों को तो समक्ष रखा ही है, भाव ही नई उद्भावनाएँ भी की हैं, यथा नायिका के अनेक परम्परागत भेदों में जाति-प्रेमिका, देश-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका एवं निजता-मुरागिनी आदि भेद भी सम्मिलित किए हैं। यद्यपि शृंगारिक वर्णन में भावुकता पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुई है परन्तु नग्नता नहीं माने पाई है। विपरीत रति आदि का वर्णन इन्होंने नहीं किया है। बड़े साहित्य के साथ विपक्ष-प्रतिपादन में अलंकार योजना भी सुन्दर हुई है।

काव्य-ग्रन्थों में 'कल्पलता', 'पारिजात' एवं 'सतसई' विशेष महत्व नहीं रखते।

उपरिलिखित काव्य-ग्रन्थों एवं उपन्यास-नाटकों के अतिरिक्त हरिप्रोथ जी ने कुछ निबन्धात्मक एवं आलोचनात्मक ग्रन्थ भी लिखे। अपनी रचनाओं में

से अनेकों की भूमिका में इन्होंने अपने तत्सम्बन्धी विचार प्रकट किए हैं तथा उनके प्रतिरिक्त 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास विवेचित किया है। यह ग्रन्थ इस विषय में कोष का एक रत्न अवश्य है परन्तु कोई प्रमुख विशेषता नहीं रखता। 'साहित्य-सदभं' में साहित्यिक निबन्ध हैं, जो बड़ी चटपटी मुहाबरेदार भाषा में लिखे हुए हैं। कबीर की बाणी का सम्पादन करते हुए इन्होंने उसकी भूमिका में उसकी आलोचना भी की है, जो कर्ता के जीवन के साथ उसकी कृति पर इन्होंने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस प्रकार निबन्ध एवं आलोचना के क्षेत्र में भी हरिप्रोथ जी की अमर कीर्ति का कारण है 'प्रियप्रवास' अतः अब उस पर विचार करते हैं।

प्रियप्रवास—यह काव्य खड़ी बोली का एक महाकाव्य है। खड़ी बोली में इससे पूर्व बहुत छोटे-छोटे काव्य थे। मैथिलीशरण गुप्त का 'जयद्रथ वध' ही एकमात्र काव्य था जो कुछ बड़ा था परन्तु वह भी खण्डकाव्य था और तुकान्त एक ही मात्रिक छन्द में था। हरिप्रोथ जी को यह दृष्टि ज्ञात हुई और उन्होंने संस्कृत के भिन्नतुकान्त छन्दों में इस महाकाव्य की रचना की। पहले इसका नाम 'ब्रजांगना-विलाप' रखा परन्तु यह नाम हचकर न होने के कारण इसके स्थान पर 'प्रिय-प्रवास' रख दिया। सत्तर में अन्त्यानुप्रास से युक्त कविता का आदर प्रायः सभी भाषाओं में रहा है परन्तु अन्त्यानुप्रास से युक्त कविता का कविता ही दृष्टिगोचर होती है और वह भी वर्णिक वृत्तों में। इस प्रकार की कविता सरल भी होती है परन्तु हरिप्रोथजी ने प्रियप्रवास में कविता की इस शैली का जो व्यवहार किया है वह सुगमना के लिए नहीं बल्कि इसे जनप्रिय बनाने के लिए ही लिया है। इससे पूर्व १० अम्बिकादत्त व्यास ने 'कम-वध' काव्य लिखा था परन्तु वे सफल न हुए।

यह एक महाकाव्य है, जो सत्रह सर्गों में समाप्त हुआ है। इसके नायक हैं यदुपति महाराज दृष्ट्य और नायिका है राधा। हममें श्रीदृष्ट्य के मधुरा घने जाने पर तथा उनके द्वारा प्रेरित उदय के समस्त ब्रजांगनाओं का विलाप और गीतों का दीर्घतानीन गूण-गीर्तन है। गूण-वर्णन में श्रीदृष्ट्य के बल-गराम का यथोचित चित्रण है। प्रकृति का चित्रण भी बड़ा सुन्दर हुआ है। इसका उद्देश्य है प्रेम की प्रतिष्ठा और त्याग की स्थापना। इस प्रकार यह काव्य शास्त्रीय दृष्टि से एक महाकाव्य है।

इस काव्य में चरित्रचित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। श्रीदृष्ट्य का चित्रण हममें

एक महापुरुष के रूप में दृष्टा है। हरिप्रोध जी 'प्रियप्रवास' की भूमिका में लिखते हैं—

“हम लोगों का एक संस्कार है, वह यह कि जिनको हम भवतार मानते हैं, उनका चरित्र जब कहीं दृष्टिगोचर होता है तो हम उसके प्रति पक्षि में या न्यून से न्यून उसके प्रति पृथु में ऐसे शब्द या वाक्य अवलोकन करना चाहते हैं, जिसमें उसके ब्रह्मत्व का निरूपण हो। जो सज्जन इस विचार के हों, वे मेरे प्रेमान्धुप्रश्रवण, प्रेमान्धुप्रवाह और प्रेमान्धुवारिधि नामक ग्रन्थों को देखें, उनके लिये यह ग्रन्थ नहीं रचा गया है। मैंने श्रीकृष्ण को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।”

महाभारत और श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा ईश्वरावतार के रूप में हुई है। श्रीमद्भागवत के एक प्रसंग में महाराज परोक्षित ने भी गुरुदेव मुनि से गका प्रकट की कि श्रीकृष्ण ने गोपियों से समाज-मर्त्यांश के प्रतिभूल व्यवहार किया, यह कहीं तक उचित था। तब मुनि ने उस गमा का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण में पारब्रह्मत्व बतलाया। परन्तु मात्र का व्यक्ति ऐसे समाधान से सन्तुष्ट नहीं हो सकता कि किसी को हम ब्रह्म बतलाकर अंकित करें और उसके कार्य ऐसे हो कि जिन्हें देखकर मायारण व्यक्ति भी धृष्टा करें। हरिप्रोध जी आधुनिकता से पूर्ण परिचिन थे अतः उन्होंने श्रीकृष्ण को भादनं पुरुष के रूप में ही वर्णित किया है। वे श्रीकृष्ण में आस्था रखते हैं परन्तु वह सकीरों और एकदेगीय नहीं। ब्रह्म को वे मानते हैं, जैसा कि राधा के वचनों में प्रतीत होता है—

जो घाना है न मन चित्त में जो परे बुद्धि के है।

जो भावों का दिव्य नहि है निम अथ्यक्त जो है।

हे वेदों की गति न जिनमें श्री गुणानोत जो है।

सो क्या है मैं अबुध अयना जान पाऊँ उने क्यों ?

परन्तु श्रीकृष्ण की ब्रह्मरूप में स्वीकार नहीं करते। वे मानव की सर्व-निरोमणि मानते हैं और मानवता के चरम विकास को ही ईश्वरत्व की प्राप्ति कहते हैं। उनके अनुसार यही भवतारवाद है। इसीलिए वे श्रीकृष्ण को भवतारी पुरुष कहते हैं। उनमें मानव के दया, उदारता, उच्चता, दयता, मन्वता और मनमोहकता आदि सभी उच्च गुण मिलते हैं।

श्रीकृष्ण का हृदय एक मनुष्य का हृदय था, उसमें अरार ममता, प्रेम और दया का बोध था। मथुरा में गमन करते हुए उद्वेग से वे कहते हैं—

शोभा संभ्रमशालिनी धजधरा प्रेमास्पदा गोविधा ।
माता प्रीतिमयी प्रतीति-प्रतिमा वात्सल्य घाता पिता ।
प्यारे गोपकुमार प्रेम-मणि के पायोधि से गोप थे ।
भूले हूँ न सदैव याद उनकी देतो व्यथा है महा ॥

उनका मानव हृदय भला अपने सम्बन्धियों को कैसे भूल सकता था ।
उनके हृदय में जाति, धर्म और देश के प्रति झट्ट श्रद्धा थी भतः इनके
लिए वे सदा अपने प्राण देने को उद्यत रहते थे । कातिन्दी में महान्
विपथर से प्रस्त मानव-नमाज की रक्षार्थ वे उनके विनाशार्थ ये वचन कहते हैं—

भत' कहेंगा यह कार्य मैं स्वयं,
स्वहृत् में प्राण स्वकीय को लिए ।

स्वजाति श्री जन्मधरा निमित्त मैं,
न भीत हूँगा इस पाल सपं से ॥

सदा कहेंगा अपमृत्यु सामना ।
सभीत हूँगा न गुरेन्द्र बध से ।

कभी कहेंगा अयहेलना न मैं—
प्रधान धर्माङ्ग परोपकार की ॥

इसी प्रकार अग्नि से जलते हुए गोपों को देखकर अन्य गोपों के प्रति
उदगारित उनके उत्साहवर्धक वचनों को सुनिए—

बढ़ो करो धीर स्वजाति का भला,
अपार दोनों विष साभ है एमें ।

रिया स्वकृत्य उबार जो लिया,
गुकीर्ति पायी यदि भस्म हो गये ॥

पुनः वे उनकी रक्षार्थ स्वयं अग्नि में धुग गये धीर उनका उदार विषा ।
ये सभी चरित्र उन्नत मानव के चरित्र हैं धीर ये इसी रूप में चित्रित
हूए हैं ।

कृष्ण के साथ राधा का चित्रण भी आदि काल के रूप में नहीं हुआ
है बरन् एक परम पवित्र पतिप्राणा कुमारी दादसं नारी के रूप में ही हुआ है ।
प्रियप्रशाम में विरहज्वल विगत एव वेदना का जैसा चित्रण राधा के विषय में
हुआ है वैसा अन्य का नहीं । यशोदा रानी हैं परन्तु उनका वात्सल्य ही उन्हें
छाना है । श्रीकृष्ण यशोदा का धन है, सर्वस्व है, परन्तु राधा के तो प्राण हैं ।
श्रीगद्भागवत में हम राधा का नाम तक नहीं पाते । सर्वतः पुराण में

शक्ति-भावना आश्वासन का कारण बन जाती है। जयदेव के गीतगोविन्द और विद्यापति की पदावली में राधा की नग्न वासना का चित्रण है। सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने भी राधा का चित्रण किया है परन्तु उसमें भी हम देवी-भावना की प्रतिष्ठा देखते हैं। रीतिकालीन कवियों ने तो राधा-कृष्ण को नायक-नायिका के रूप में चित्रित किया और वह भी असमय रूप में। हरिभोध जी ने राधा का चित्रण एक आदर्श वियोगिनी नारी के रूप में ही चित्रित किया है और वडे समय से।

कृष्ण को अनेक गोवियाँ प्रेम करती थी परन्तु कृष्ण राधा को सब से अधिक चाहते थे। शंशय से ही इनका गाढ परिचय हो गया था और वही दाम्पत्य प्रेम में परिणत हो गया। राधा एक अपूर्व लावण्यमयी रमणी थी—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना ।
तन्वङ्गी कलहासिनी मुरसिका श्रीङ्गा-कला पुत्तली ।
शोभा-धारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलाभयो ।
श्री राधा मद्गुभाषिणी मृगदृगो माधुर्य की मूर्ति थी ।

सौन्दर्य के अतिरिक्त वह हाव-भावों में कुशल, कटाक्ष-पात एवं भ्रू भगिमा में निपुण, नृत्य एव गान-वादन में पंडिता और आभूषणों से सज्जित युवती थी—

नाना भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता ।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू भगिमा पंडिता ।
वादित्रादि समोद वादन-परा आभूषणाभूषिता ।
राधा थी मुमुक्षी विशालनयना आनन्द-आन्दोलिता ।

ऐसी राधा पर भी भला कृष्ण मुग्ध क्यों न होते। वे नन्दकुमार थे तो ये भी वृषभानुजा थी। आकर्षण के समुचित कारण थे। शलभ दीपक की ली को ही चाहता है।

इन दैहिक गुणों के अतिरिक्त राधा में अनेक आत्मिक गुण भी थे। श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव के प्रति कहे हुए निम्न शब्दों में राधा को दिव्यांगना तथा व्रज-वसुंधरा, स्त्री-जाति और वश की शोभा कहा गया है—

जो राधा वृषभानु-भूप-तनया स्वर्गीय दिव्यांगना ।
शोभा है व्रज-प्रान्त की धरनि की स्त्रीजाति की वंश की ।
होगी हा ! यह देवि मग्न अति ही मेरे वियोगाधि में ।
जो हो सम्भय तात पीत बत के तो त्राण देना उते ॥

इन शब्दों से उनकी दिव्य-गुण-सम्पन्नता एव परम अनुरक्ति व्यंजित है।

उनकी अनुरक्ति में संयति है, मर्यादा है, यह बात उन्हीं के शब्दों से ज्ञात होती है—

निलिप्ता और यदपि अति ही संयता निरप मे हूँ ।

तो भी होती व्यथित अति हूँ श्याम की याद आते ।

राधा कृष्ण को प्रेम करती है परन्तु स्वयं प्रेम से वञ्चित है इसी से यदि वे सयत भी विकल हो जाते हैं तो आश्चर्य नहीं—

मं नारी हूँ सरल उर हूँ प्यार से वञ्चिता हूँ ।

जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त वञ्चिष्य क्या है ?

नारी का—प्यार से वञ्चित नारी का—पति-विषोग होने पर विकल रहना स्वाभाविक है—

आवेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है ।

हाँ ज्ञानी और विबुध जन में मुह्यता है न होती ।

राधा ज्ञानभरी योगिनी नहीं थी, वे तो प्रेमभरी एक नारी थी ।

प्रेम के अतिरिक्त राधा में उदारता और परोपकारशीलता का भाव भी उत्कट रूप में था । प्रेम ने उनकी आत्मा में इन गुणों को अपने समुग्म्वन रूप में विकसित कर दिया था—

वे दयायी थीं सुजन शिर को शासिका थीं एतों की ।

कंगारों की परमनिधि थीं औषधी पीड़ितों की ।

दोनों की थीं भक्ति जननी थीं अनायाधितों की ।

आराध्या थी अरुणि अज की प्रेमिका विद्वत् की थीं ।

प्रेम की मूर्ति राधा रोगी और वृद्ध जनों की सेवा में लीन, सच्चास्त्रों के ज्ञान में युक्त और स्त्रीजाति की रत्न थी—

रोगी-वृद्ध जनोपकार-निरता सच्चास्त्र-चिन्ता-परा ।

रामा थीं सुमुली विशाल-हृदया स्त्रीजाति-रत्नोपमा ।

इस प्रकार सब प्रकार के हम राधा को श्रीकृष्ण के अनुरूप एक आदर्श नारी के रूप में देखते हैं ।

इन शब्दों में यशोदा का चरित्र भी बड़ा सुन्दर रूप में चित्रित हुआ है । यशोदा केवल माँ के रूप में ही दीख पड़ती है । मधुरा जाने समय वे अपने दोनों बालकों के खाने-पीने आदि के प्रबन्ध का समुचित ध्यान दिलाती हैं और अपने जाने पर उनकी स्मृति में एक माँ की भाँति ही बातें करती हैं । उदय के साथ हुए वातावरण में भी हम उन्हें वे ही मोली वातावरण भरी बातें करते देखाते हैं ।

हरिप्रोष जो प्रकृति के बड़े प्रेमी थे । उन्होंने अपनी जीवनी में निरता

है—“घनपटल का बरुँ-बँचिन्ध, रास्य श्यामला घरित्री, पावस की प्रमोदमयी सुपमा, विविध विटपावली, कोकिल का कलरव, पञ्जिकुल का कल निनाद, शरदसु' की शोभा, दिशाओं की समुञ्ज्वलता, श्रुतु-परिवर्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक शौन्दर्य, नाना प्रकार के चित्र, विविध वाद्य, मधुर गान, ज्योत्स्ना-रजित यामिनी, तारक-मण्डित-नील नभोमण्डल, मुचिन्तित विहंगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्पचय मेरे आनन्द की अत्यन्त प्रिय सामग्री है।”

उससे प्रतीत होता है कि अयोध्यासिंह जी प्रकृति को अत्यधिक प्रेम करते हैं। उन्होंने प्रिय-प्रवास में प्रकृति का चित्रण अनेक प्रकार से किया है। वहाँ तो कवि के हृदय को प्रकृति प्रिय होने के कारण स्वभावतः चित्रण हुआ है, कहीं उद्दीपन के रूप में हुआ है और कहीं प्रकृति में मात्र-प्रकाशन के बहाने। काव्य के आरम्भ में ही हम धूलि-वेला का कंसा नैमगिक चित्रण देखते हैं—

दिवस का अवसान समीप था ।
गगन था क्षुब्ध लोहित हो चला ।
तरु-शिला पर थी ध्रुव राजती ।
कमलिनो-कुल-वस्त्रम की प्रभा ॥
विपिन बीच विहंगम-वृन्द का ।
कलनिनाद विवर्द्धित था हुआ ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली ।
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी ॥
अचल के शिलारों पर जा पड़ी ।
किरण पादप-शोश-विहारिणी ।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला ।
गगन-मण्डल-मध्य शनैः शनैः ।

जब उद्वेग वृन्दावन के निकट पहुँचते हैं तो उन्हें गोवर्धन पर्वत दृष्टि-गोचर होता है। वह उन्नत मस्तक किए मानो ब्रजभूमि का मानदण्ड ही सदा था—

ऊँचा शोश सृष्टि शैल करके था देखता ध्योम की ।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता रूप में ।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में ।
में हूँ सुन्दर मानदण्ड ब्रज की शोभामयी भूमि का ॥

इस पर्यंत पर वृन्दाटवी भी अनेक पुष्पफलों से युक्त वृक्षों से सुशोभित थी, जहाँ पर—

जम्बू शम्भु कदम्ब निम्ब फलता जम्बीर श्री शबिला ।
 लीची दाड़िम नारिकेल इमली श्री शिशापा इंगुदी ।
 नारङ्गी शमरुद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी ।
 श्रेणीवद्ध तमाल ताल बदलो श्री शारमली ये पड़े ॥

वृन्दाटवी के बरगंज में अनेक वृक्ष एवं तताओं का बरगंज बड़ा मनो-
 मुग्धकारी है, देखिए पारिजात एवं माघवी लता का बरगंज कितना सरस है—

विमुग्धकारी मित-पीत वर्ण के ।
 मुग्धशाली बहुशः सु-दुष्प से ।
 अस्तस्य पत्रावलि की हरीनिम्बा ।
 सुरंगिता थी प्रिय पारिजात की ॥
 स्व-सेन-आभामय दिव्य पुष्प से ।
 यत्सुधरा में अति-मुक्त-संज्ञका ।
 विराजती थी यन में विनोदिता ।
 महान-मोघाघिनि-भाषणी लता ॥

कल्लोलिन कालिन्दी का भी एक कलित विन शबलीकिए—

स-सुवयूवा फेनघृता सु-शश्विता ।
 अनंत-आवर्त्त-मयी प्रफुल्लिता ।
 अपूर्वता अंकित थी प्रदाहिता ।
 तरंगपालाकुलिता कन्दिन्दीना ॥

इस प्रकार हम अनेक स्थलों पर प्रकृति का विचित्र नैसर्गिक रूप में हुमा
 देखते हैं । इन बरगंजों में महाकाव्य के कलेवर का अलंकृत करना ही कवि का
 ध्येय होता है । ये विचित्र नयनाभिराम और चित्ताकर्षक होते हैं । मानव प्रकृति
 का एक अंग है अतः प्रकृतिविचित्रण में महज रूप से ही उसे मानन्द मिलता है
 यतएव कवि काव्य में ऐसे मुग्धवर्णों को हाथ में नहीं लेना देना, जहाँ वह
 परलना से प्रकृति का विचित्र कर सकता है । इस काव्य में वन्यत का बरगंज
 भी बड़ा भरण और मनोहारी है । जिनका पहला छन्द कवीकरण-ता कर
 देना है—

विमुग्धकारी मधु मंजु माल था ।
 यत्सुधरा थी कमवीपनामयी ।

विचित्रता साथ विराजिता रही ।

वसंत वासंतिरता वनांत में ॥

इसके अतिरिक्त इस काव्य में प्रकृति चित्रण उद्दीपन के लिए भी हुआ है । विरह में प्रकृति प्रायः हृदयगत रति, शोक एवं उत्साह आदि भावों को उद्दीप्त करती रहती है । यह प्रसिद्ध ही है कि शीतल चन्द्रमा भी विरहहिणियों को सन्ताप देता है और दाक्षिणात्य पवन भी झुनसाता है । विरही तडपने में ही मजा लेता है अतः उसे शीतल पदार्थ रचिकर नहीं होते । तुच्छ से तुच्छ वस्तु भी प्रिय की याद दिलाती है और विकलता उत्पन्न कर देती है । गगन में उड़ते हुए पक्षी से उत्कण्ठित राधा का मनश्चित्र देखिए—

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ ।

तो उत्कण्ठा-विवश चित्त में भ्राज भी सोचती हूँ ।

होते मेरे निबल तन में पक्ष जो पक्षियो से ।

तो यों ही मैं समुद्र उड़ती श्याम के पास जाती ॥

पुष्पित नीप को डालों को देखकर गोपियो को श्याम की मूर्ति याद आ जाती है—

फूली शलें सकुसुम-मयो नीप को देख आँखों ।

आ जाती है हृदयघन की मोहिनी मूर्ति भागे ॥

कही-नही पर प्रकृति में अपने हृदयगत भाव भी दृष्टिगोचर होते हैं । मनुष्य अपनी आँखों से देखता है और अपने मुँह से बोलता है अतः जैसा उसे दीखता या भासित होता है वैसा ही कहता है । सुखियों को चाँद-तारे सुख देते हैं और वियोगियों को दुःख तथा पीड़ितों को उपहास-मा करते दृष्टिगोचर होते हैं । जब कृष्ण मथुरा के लिए प्रस्थान कर जाते हैं तब अन्यमनस्क राधा को पृथ्वी, आकाश और तारे सभी अपने साथ दुखी दिखाई देते हैं—

भवति अति दुखी सो क्यों हमें है दिखती ।

नभ पर दुःख-धामापात क्यों हो रहा है ॥

राध नभ तल तारे जो उगे दीखते हैं ।

यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े है ॥

वज-बुध तलके हो क्या हुए हैं बुझारी ।

कुछ व्यथित घने से या हमें देखते है ॥

प्रियप्रयास में इस प्रकार प्रकृति ने उसकी वस्तु एवं भाव-स्यंजना में

पूर्ण योग दिया है। 'वायु-दूत' द्वारा भी राधा ने अपने ही भावों का व्यक्तीकरण किया है।

अब हम इस काव्य की काव्यकला पर विचार करते हुए इसके भाव पक्ष पर दृष्टिपात करते हैं। हरिप्रौष जी की इसमें पूर्वं कृतियों को देखने से ज्ञात होता है कि वे राधाकृष्ण के भक्त रहे हैं। 'कृष्णपातक', 'प्रेमाम्बुवारिधि', 'प्रेमाम्बुप्रखवण' और 'प्रेमाम्बुप्रवाह' में कृष्ण ब्रह्म के रूप में चित्रित हुए हैं, जैसा कि हमें निम्न पक्तियों से विदित होता है—

नमत निगुण निरलेप अज, निराकार निरद्वन्द्व ।
माया रहित विकार बिन, कृष्ण सच्चिदानन्द ॥

× × ×
अकल अनादि अज अजित अरूप अलि-
तेस जग भूष ज्योति अगम जगंया को ।
तीन लोक विदित अजादि वन्दनीय विभु,
सन्त जन-काज नाना बगुण धरंया को ।
हरिप्रौष ताप उपतापहि हरंया महा—
पातक कदन पापी पुंजन तरंया को ।
जन बरदंया सुखदंया करधंया काज,
मे तो जानौं एक बलराम जू के भंया को ॥

इनमें से प्रथम में ब्रह्म की निर्गुण ब्रह्मा है और दूसरे में अकल कह : पुनः समल का मा वरुण किया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि प्रथम हरिप्रौष जी ब्रह्म को निर्गुण रूप में ही देखते थे परन्तु परचाप वह राखर ब्रह्म मधुसूता धारण करता गया। दूसरे पद्य में वह निर्गुण-सगुण रूप में ही वर्णित हुआ है। और 'प्रियप्रवाम' में वह कृष्ण ब्रह्म आदर में गुण के रूप में चित्रित हुआ है क्योंकि हरिप्रौष जी जिसमें पूर्ण गुण के महत्तम गुण देखते हैं उसे अवतारी पुरुष मानते हैं। प्रियप्रवाम के कृष्ण प्रेमी हैं, सुगुण हैं, समाज-सौख-सौखक हैं और हैं महान् त्यागी। इसी प्रकार राधा भी कृष्णपुत्रता, सर्वगुण-सामग्रा और परहित-संताना हैं। राधा-कृष्ण का चरित्र पहले चित्रित किया जा चुका है।

उद्देश्य भी मानव जीवन का चित्रण करने हुए प्रिय के विभोग में मानसिक एवं धारीरिख दशाओं का मार्मिक वर्णन करना है तथा साथ ही प्रेम, सेवा और त्याग की महत्ता को प्रतिस्थापित करना है और अगम हरिप्रौष की पूर्णतः गहन हुए हैं। विरह वर्णन तो बड़ा ही मार्मिक है।

मरण के अतिरिक्त विरह की प्रायः सभी दशाओं का इसमें चित्रण है। इसी प्रकार यशोदा का विलाप एवं वात्मत्य भी अत्यन्त हृदय-विदारक और नैसर्गिक हैं। विरह-विकला राधा एक दिन मलिन सी बैठी है, सहसा वायु की सरसराहट सुनती है और उससे अपने प्रिय के पास सदैव से जाने के लिए कहती है—

मेरे प्यारे नव जन्म से कंज से नेत्र वाले ।

जाके धामे न मधुवन से ओ न भेजा संवेसा ।

मं रो-रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ ।

जा के मेरी सत्र दुख-कया श्याम को तू सुनादे ।

इन शब्दों में कितनी व्यथा है और कितनी विवशता है। राधा का यह 'वायु-दूत' इस कृति का सुन्दरतम अंश है। कानिदाम के 'मेघदूत' के आधार पर निमित्त यह दूत हिन्दी में अनुपम स्थान रखता है। इसकी अनेक भाषिक उत्तियो में दैन्य, आशांका, व्रीडा और उत्कण्ठा आदि भावों की बड़ी अनुठी व्यंजना हुई है। इसी प्रकार इसके समस्त सम्वादों में भावाभिव्यजना अत्यन्त उत्कृष्ट है।

इसका कलापक्ष भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। समूचा काव्य संस्कृत शब्दों से भरा पड़ा है। यदि कहा जाय कि क्रिया-भेदों के अतिरिक्त संस्कृत-शब्दावली का ही बोलबाला है तो उचित होगा। परन्तु मेरे मतानुसार यह काव्य का दोष नहीं बना है। शब्दों का ऐसा मञ्जुल, पेदाल एवं मधुर मेल किया है कि काव्य में सर्वत्र श्रुति-प्रियता, मनोहारिता और आत्म-विस्मृतता आदि गुण ध्यान्त हो गए हैं। संस्कृत वृत्तों की गेयता ने इसमें चार चाँद लगा दिए हैं। ऐसे उत्कृष्ट कुछ छन्द नीचे दिए जाते हैं—

राधा-श्रीन्दर्यं—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-विम्बानना ।

तन्वंगो कलहासिनी सुरमिका श्रीङ्गा-कला-पुतलो ।

शोभा-वारिषि की समूह्य मल्लिमी लावण्य-सीला-मयी ।

यो राधा मृदु भाषिणी मृगदृगी माधुर्यं की भूति यो ॥

देव-प्रगल्भता—

कान्ते कुल्लित कोट का कुमुम में कोई नहीं काम था ।

काँटे से कमनीय कंज कृति में क्या है न कोई कमी ।

पोरों में क्या ईश की विपुलता है प्रणियों की भली ।

हा । बुद्ध-प्रगल्भते ! अपट्टा तू ने फर्हा की नहीं ॥

मुरली-माधुर्य—

किस तपोवत से किस काल में ।
सच बता मुरली फलनादिनी ।
अपनि में तुम्हको इतनी मिली ।
मदिरता, मृदुता, मधुमानता ॥

वसन्त-वर्णन—

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने,
प्रदान की थी अतिकान्त भाव से ।
यसुंपरा को, पिक को, मिलिन्द को ।
मनोजता, मादकता, मदाघता ॥

यसोदा-विलाप—

मेरे प्यारे सज्जुसल सुखी घोर सानन्द तो हूँ ?
कोई बिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ?
उषो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो ?
हो जाती है हृदय तल में तो नहीं वेदनायें ?

ये तो केवल कुछ उदाहरण दिए गये हैं, ऐसे तो संकड़ो ही छन्द दग काव्य में विद्यमान हैं ।

हरिऔध जी ने इस काव्य में कोमल-वान्त पदावली की योजना में समाप्त शैली को अपनाया है अतः वहीं-वहीं टुकड़ता घा गई है । यथा—स्व-निम्बता-भावित-वृषा-निम्ब, सदम्बु-निम्बू-तरु घोर पट-पीत-गोरवी आदि । कहीं-कहीं संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों ने भी विनष्टता ला दी है । वृन्दाटवी में वृष, पुष्प, फल एव लतामो का वर्णन करते हुए कुछ ऐसे ही शब्दों का प्रयोग हुआ है, यथा—नितापा, इंद्रुदी, जम्बानिनि, रोदगी, उपस्कर आदि । वहीं-वहीं सांकेतिक एवं साधारणिक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, यथा मूर्ख के लिए 'बमलिनी-मुल-वल्गम', घनूर के लिए 'सूफन्क-मुल' और यमुना के लिए 'कनिन्द-नन्दिनी' आदि ।

काव्य-क्रमें गद्य-लेखन से वहीं बटिन है । गद्य में भाव-प्रकाशन मरत होता है परन्तु पद्य में यह याव नहीं । अनेक स्थलों पर छन्द-निर्माणा के लिए उपयुक्त शब्दों की आवश्यकता होती है परन्तु वे मिलने नहीं और ऐसे स्थानों पर अन्य शब्द तोड़-मरोड़ कर डालने पड़ते हैं अथवा अनुचित-गुण, गूढपदशब् या अर्थव्यपदेश्य आदि दोषों की बाधा का मय रहता है । हरिऔध जी ने शब्दों की तोड़-मरोड़ को बहुत कुछ दूर रखा है परन्तु फिर भी कुछ शब्दों में अशुभ

एवं व्याकरणोपेक्षा दृष्टिगोचर होती है, यथा छन्द, भाग, पदान, यदपि आदि । परन्तु इनके व्यवहार में कवि ने सरलता ही कारण बतलाई है । कहीं-कहीं ऐसी क्रियाओं का प्रयोग भी मिलता है, जिनका प्रयोग अनेक विद्वान् सही बोली में पसन्द नहीं करते, यथा—निरखना, निहारना, घहरना, लमना, सोहना, गहना, तजना आदि । किसी-किसी म्यान पर ब्रज के शब्द भी दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे—यक, बिलग, टान, वगर, सुधि आदि । इनके अतिरिक्त याद, कलेजा आदि शब्दों के शब्दों का प्रयोग भी दृष्टा है । परन्तु सम्पूर्ण काव्य का पर्यालोचन करके त्रिदिन होना है कि तक्षम शब्दों ने भिन्न शब्दों का प्रयोग उतना ही दृष्टा है, जितना दाल में नमक अतः काव्य-नौष्ठक में बाधा नहीं पड़ी है ।

काव्य में आलंकारिक सौन्दर्य भी पर्याप्त है । अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार एव उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकार अपनी पूर्ण भाभा के साथ व्यवहृत हुए हैं, यथा—

अनुप्रास—

काले पुत्तित बोट का कुमुम में कोई नहीं काम था ।

× × ×

प्रफुल्लितों सा फलवान फावता ।

× × ×

अलिङ्गल भति सोरो कुन्तलो कान्तिशाली ।

यमक—

स्व-मानतायोवन पेड़ आत का ।

× × ×

कुमोदिनी मानस-गोदिनी बहों ।

× × ×

प्रिया-भमा मंजु प्रियाल-मंजरी ।

उपमा—

हरीनिमा का सुविशाल सिन्धु सा ।

× × ×

द्वि-रता बनिता सब यों दनों ।

उपल-निमित्त पुत्तलिका श्या ।

× × ×

बहुभ-शोभित गोरज शोच से ।

निवृत्ते शत्र-वस्तभ यों सने ।

कदन ज्यों करके दिशि कालिमा ।

बिलसता नभ में नलिनीश है ॥

उत्प्रेक्षा—

नयन की ललके यह दीनता,

सकुचने सरसीरह भी लगे ।

इलेप—

स्वकीर्ष-वंचांग प्रभाव से सदा ।

सदंश नीरोग वनान्त को बना ।

किसी गुणो-बंध समान था लड़ा ।

स्वनिश्चयता-गवित-वृक्ष-निम्ब का ॥

इस काव्य में विशेषतः वियोग शृंगार, वात्सल्य और करुण का चित्रण हुआ है । अतः माधुर्य और प्रसाद गुणों की योजना भी रसानुकूल ही है । इस काव्य में सौन्दर्य और माधुर्य का तो साम्राज्य है ।

उपमूर्त्त पर्यालोचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि यह काव्य मधुरता की सुधा-वापी है, प्रेम-भीमूप का प्रसाद है और है हिन्दी-साहित्य-निधि का एक अमूल्य रत्न ।

प्रेमचन्द

मुंशी प्रेमचन्द (पूर्व नाम घनपतराय) का जन्म सन् १८८० ई० (सं० १९३७) में बनारस त्रिनाथगंज तमहो ग्राम में हुआ था। इनके पिता भवापदलाल डाकभुंशी थे और २०) वेतन पाते थे जो बढ़ते-बढ़ते ४०) तक पहुँचा। घनः आर्थिक सङ्कट में इनका पालन-पोषण हुआ। माता का देहान्त इनकी सात वर्ष की अवस्था में ही हो गया और पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई, एक मौलवी साहब इन्हें उर्दू पढ़ाते थे। पुनः ये काशी के नवीन कॉलेज में प्रविष्ट हुए। जब ये पन्द्रह वर्ष के थे, इनका विवाह कर दिया गया परन्तु स्त्री बुराया थी अतः इन्होंने उसे मादके में ही रक्खा और उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध कर दिया। विवाह के एक वर्ष उपरान्त इनके पिता का देहान्त हो गया और इन्हें अपनी स्त्री, विमाता एवं दो सौत्रिले भाइयों का निर्वाह करना पड़ा। घर में पूँजी नहीं थी अतः कॉलेज छोड़कर एक बकौल साहब के यहाँ ५) का ट्यूशन कर लिया और उसके लिए पाँच मील चलकर जाते थे। कई वर्ष तक इनका अध्ययन रूठा रहा। एक दिन एक दुकान पर पुरानी पुस्तक बेचते समय एक महाशय ने परिचय हुआ जो एक छोटे स्कूल के प्रधानाध्यापक थे। उन्होंने इन्हें १८) मासिक वेतन पर अपने यहाँ अध्यापक रख लिया। यह घटना सन् १८९९ की है। पुनः इन्होंने सन् १९०४ में मैट्रिक की परीक्षा पास की और हिन्दू कॉलेज में प्रविष्ट हुए। बहूत प्रयत्न करने पर भी फीस से मुक्ति न मिली और बड़ी कठिनाता से पढ़े परन्तु एक० ए० में गणित में कई बार अनुत्तीर्ण हुए। सन् १९०८ ई० में ये सब-टिप्टी इन्स्पेक्टर हो गये और व्यक्तिगत अध्ययन द्वारा सन् १९१४ में एक० ए० की परीक्षा पास की। तत्पश्चात् बी० ए० उत्तीर्ण किया।

सन् १९०५ में इन्होंने पूर्व पत्नी के होने हुए भी शिवरात्री नाम्नी एक कालविधवा के साथ पाणिग्रहण कर लिया, जिसने इनके जीवन में सुख ही

प्रदान नहीं किया प्रत्युत प्रेरणा भी दी। जब ये डिप्टी इंसपेक्टर थे, उस समय देश में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था। महायुद्ध के पश्चात् अंग्रेजी सरकार ने कांग्रेस में की प्रतिज्ञा को पूर्ण नहीं किया अतः विरोध उग्र रूप से प्रारम्भ हुआ। सन् १९२० में महात्मा गांधी गोरखपुर पधारे, उन्होंने एक मापण दिया, जिसका प्रभाव प्रेमचन्द जी पर अत्यधिक रूप में पड़ा और इन्होंने १७५) ६० की नौकरी पर लात मारकर देश एवं साहित्य की सेवा का प्रण लिया।

आर्थिक स्थिति अच्छी न होने के कारण इन्होंने पुन कानपुर के एक मारवाडी विद्यालय में प्रधानाध्यापक का भी कार्य किया परन्तु वहाँ भी न पटी। कुछ समय तक उदरपूर्ति के लिए चरखे बना कर भी बेचे। पुनः ये बनारस चले गये और 'मयादा' में कार्य किया परन्तु वहाँ भी निर्राह न हुआ और काशी विद्यापीठ के विद्यालय में प्रधानाध्यापकत्व स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् इने भी त्याग कर गाँव चले आए। सन् १९२४ में 'माधुरी' के सम्पादन-विभाग में सखनऊ चले गये। मात वर्ष काम करने के पश्चात् सन् १९३१ में ये पुनः बनारस चले गये और तदनन्तर एक प्रेम लोना जिसने 'दुम' नामक मासिक और 'जागरण' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले। परन्तु दुर्दैव ने गाय न छोड़ा। अन्त में गिनेमा-समार में पदापेण किया किन्तु पूत भावना में झोतप्रोत मनस्वी भक्त उस दूषित वातावरण में कैसे टिकता और कैसे अपनी इच्छा के विरुद्ध निम्न स्तर की गहानियाँ लिखता, निदान उसे भी छोड़ा और साहित्य-मेवा में ही मन लगाया।

साहित्य के प्रति इनकी रचि बाल्यकाल से ही रही। जब इनकी भवस्या केवल तेरह वर्ष की थी, इन्होंने एक नाटक लिखा था जिसे इन्होंने अपने मामा के चमारी-प्रेम का उपहाम किया था। उस समय ये हिन्दी नहीं जानते थे और उर्दू-उपन्यास पढ़ने का इन्हें अत्यधिक शौक था। इन्होंने अपनी सरकारीन रचि को इस प्रकार विवित किया है—

“मौलाना सरर, १० रतननाथ सरनार, मिर्जा रमजा, मौनवी मुहम्मद अपनी (हरदोई निवासी) उस वक्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थी, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक गमाप्त करके ही दम लेता था। उन जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की भूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद घड़ाघट निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकने थे। मैं भी उनका आनिक था। हजरत रियाज ने, जो उर्दू के प्रतिष्ठ रचि हैं और जिनका हान में देहान्त हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमगरा' के नाम से किया था। उमी जमाने में सखनऊ के साप्ताहिक 'भवपर्व' के

सम्पादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य-रस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के एक दूसरे उपन्यास का अनुवाद 'घोखा' या 'तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मने उसी जमाने में पढ़ी और ५० रतननाथ सरदार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनाएँ मने पढ़ डाली।"

[मेरी पहली रचना]

दो-तीन वर्ष में इन्होंने सैकड़ों उपन्यास पढ़ डाले। जब उपन्यास शेष न रहे तो नवल किशोर प्रेस से प्रकाशित पुराणों के उर्दू अनुवादों को पढ़ा। तदनन्तर 'तिलस्मी होशखवा' नामक एक तिलस्मी ग्रन्थ के कई भाग भी पढ़े, जिनमें से प्रत्येक में दो-दो हजार पृष्ठों से कम न थे।

इनकी साहित्य-साधना का समय सन् १९०० से प्रारम्भ होता है। इन्होंने श्री रवीन्द्रनाथ की अनेक अप्रंजी गल्पों का अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया। इनकी सर्वप्रथम मौलिक कहानी 'संसार का सबसे अनमोल रत्न' थी, जो १९०० ई० में 'जमाने' में छपी। इसी वर्ष इन्होंने 'कृष्णा' नामक उपन्यास भी लिखा। सन् १९०२ में 'वरदान' उपन्यास प्रकाशित हुआ और १९०५ में 'प्रेमा' का प्रकाशन हुआ। सन् १९०६ में 'प्रतिज्ञा' उपन्यास लिखा। तदनन्तर १९०८ ई० में जमाना प्रेस से पांच कहानियों का एक संग्रह 'सोजे यतन' नाम से निकला। इसमें सरकार की आलोचना होने के कारण इसकी समस्त प्रतियाँ अग्नि की भेंट करदी गईं। सन् १९१४ तक इन्होंने उर्दू में ही साहित्य स्रजन किया। तदनन्तर हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया और सन् १९१६ में 'सेवामदन' नामक प्रसिद्ध उपन्यास लिखा। तत्पश्चात् सन् १९२२ में 'प्रेमाश्रम', सन् १९२३ में 'निर्मला', १९२४-२५ में 'रंगभूमि', १९२८ में 'कायाकल्प', १९३१ में 'गवन', १९३२ में 'कर्मभूमि', १९३६ में 'गोदान' और इसी वर्ष 'मंगलमूत्र' (अपूर्णा) नामक उपन्यासों का निर्माण किया। १९३६ में इस महान् कलाकार का स्वर्गरोहण हुआ अतः मंगलमूत्र समाप्त न हो सका।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त इन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं, जो अनेक संग्रहों में संकलित हैं। इन्होंने कुछ नाटक और निबन्ध भी लिखे तथा कुछ ग्रन्थों का अनुवाद भी किया। इनकी समस्त हिन्दी रचनाओं की सारिका इस प्रकार बनाई जा सकती है—

उपन्यास—वरदान, प्रेमा, प्रतिज्ञा, सेवामदन, प्रेमाश्रम, निर्मला, रंगभूमि, कायाकल्प, गवन, कर्मभूमि, गोदान और मंगलमूत्र (अपूर्णा)।

कहानी संग्रह—(अ) सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपचीसी, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमदादनी, प्रेमतीर्थ, पाँच फूल, प्रेमप्रसून, प्रेरणा, मानसरोवर (चार भाग), कफन, समरयात्रा, अग्निसमाधि, ग्राम्यजीवन और नारी-जीवन की कहानियाँ।

(ब) बालोपयोगी कहानियाँ—टालस्टाय की कहानियाँ, जंगल की कहानियाँ, बुत्ते की कहानी, मनमोदक, दुर्गादास आदि।

नाटक—प्रेम की वेदी, कविता, सग्राम और मजदूर (सिनेमा-नाटक)।

निबन्ध—मौ० दोखसादी, कुछ विचार, तलवार, कलम, त्याग और 'हम' की सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

अनुवाद—सृष्टि का भारम्भ, फिसाने काजाद, झंकार, मुखदास, हडताल, चाँदी की डिबिया और न्याय।

इनके कथा-साहित्य की पृष्ठभूमि—
पारिवारिक-जीवन—प्रेमचन्द के पिता एक डाकमुंठी थे अतः बाल्य-

काल में इनकी माँ को डाकमुंठी, डाकिया एवं डाक ही के चित्र सिखते रहे होंगे, यही कारण है कि इनकी अनेक कहानियों में तरसम्बन्धी अनेक प्रसंग आए हैं। 'कप्तान साहब' कहानी में जगतसिंह के पिता भर्तासिंह के परिचय द्वारा वे अपने पिता का ही मानो परिचय देते हैं—

“उसके पिता भर्तासिंह अपने बसवे के डाकखाने के मुनी थे। अफसरों ने उन्हें पर का डाकखाना बड़ी दौड़-धूप करने पर दिया था, परन्तु भर्तासिंह जिन इरादों से यहाँ आये थे उनमें से एक भी पूरा न हुआ। जल्दी हानि यह हुई कि देहातो में जो भाजी-भाग उपले-इंधन मुफ्त मिल जाते थे, वे अब यहाँ बन्द हो गये।”

इनके पिता भी कमवे के डाकखाने में मुनी थे, उन्हें भी वहाँ देहात की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं।

'कडाकी' नामक कहानी में भी कडाकी के द्वारा अपने दाजिये का वे स्मरण करते हैं।

इनके पिता का वेतन बहुत थोड़ा था अतः खाने-पीने एवं पहनने की भी कठिनाई थी। प्रेमचन्द इसी प्रायिक संघट में पले। उन्हें पहनने के लिए कपड़े भी कम ही मिलते थे और वे भी चार आने गज से अधिक मूल्य के नहीं। पैरों में जूता भी बारह आने से अधिक का नहीं होता था। उन्होंने स्वयं लिखा है—

“भैंसरा के पुत्र का पमरोया जूता मैंने बहुत दिन तक पहना है। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए चारह आने से ज्यादा का जूता बनी नहीं मरीदा।”

इनके पिता डेढ़ रुपये मासिक किराये के घर में रहते थे। इससे इन्हें ऐसे स्थानों पर रहने का पूरा अनुभव था। 'बोरी' कहानी में वे अपने परिवार के आर्थिक सकट को ही निम्न शब्दों में सींचते हैं—

“हाय बचपन ! तेरी याद नहीं भूलती। वह कच्चा टूटा घर, वह पुवाल का बिछोना, वह नंगे बदन, नंगे पांव खेतों में घूमना; आम के पेड़ों पर चढ़ना—मारी बातें भाँखों के सामने फिर रही हैं।”

इन्हें बचपन में खाने-पीने के लिए स्वादिष्ट वस्तुएँ कम ही मिलती थीं। जब ये आठ वर्ष के थे तब इनकी माँ रोगग्रस्त हुई और छः मास तक गय्या-शायिनी रही। ये उसके पास बैठते परन्तु जब वह सो जाती तो ये उसके पास रखी बोतल में से शक्कर खा लेते थे। इस अभाव के कारण ये अक्सर ही मिष्टान्नों के बायवी चित्र खींचते होंगे, जिनका आनास अनेक स्थलों पर हमें मिलता है। 'बूढ़ी काकी' नामक कहानी में काकी का पक्वान्नों पर टूट पड़ना और 'निर्मला' उपन्यास में मोटेराम शास्त्री का हलवाई की दुकान पर उत्साह से मिष्टान्न खाने जाना इनके इसी अभाव के चित्र हैं।

इनकी माता का देहान्त इनकी नौ वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गया था। उसकी मधुर स्मृति इन्हें प्रायः आया करती थी। 'कर्मभूमि' उपन्यास के नायक अमरकान्त के द्वारा इन्होंने अपने ही मातृ-स्नेह-हीन जीवन का चित्रण किया है—“अमरकान्त ने अपने जीवन में माता-स्नेह का मुक्त न देखा था। जब उसकी माता का अवमान हुआ, तब वह बड़न छोटा था। उस दूर अतीत की कुछ घुँघली-भी और इगलिये अत्यन्त मनाहर और मुग्ध स्मृतियाँ शेष थीं।”

आगे चलकर इन्हीं उपन्यास-मं के लिखते हैं—“दुनियाँ में सब से बदनसीब वह है, जिनकी माँ बचपन में मर गई हो।”

ये सब इनके हृदय से निकले शब्द हैं। माता की मृत्यु के पश्चात् इनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। सौतेली माँ आई परन्तु वह विमाता का अपवाद न हो सकी। इन्हें माता का प्यार सर्व के लिए सुलभ-सा दीख पड़ा। 'सौतेली माँ' नामक कहानी में इन्होंने आत्मकथा ही लिखी है। 'अलगपोभा' कहानी में विमाता के आतंक से सहमे हुए रघू की कथा से वे अपने जीवन की भाँखी इस प्रकार कराने हैं—

“भोला कहता ने पहली स्त्री मर जाने पर दूसरी सगाई की तो उसके सहके रघू के लिए बुरे दिन आ गये। रघू की उम्र उस समय केवल दस वर्ष की थी। खेन से गाँव में कुन्सी-बड़ा खेतता फिरता था। माँ के मरते ही चरबी में खुलना पड़ा। पन्ना रुबती स्त्री थी और रूप और गर्व में खोनी-दामन का नाता

है। वह अपने हमों से कोई मोटा काम न करती। गोबर रघू निवालता, बेलो को सानी रघू देता। रघू बूटे बरतन मौजता। भोला की भाँखें कुछ ऐसी फिरीं कि उमे भय रघू में घुराड़याँ ही घुराड़याँ नजर आती। पन्ना की बातों को वह प्राचीन मर्यादानुसार भाँखें बन्द करके मान लेता था। रघू की शिकायतों की जरा भी परवाह न करता था।

प्रेमचन्द के पिता ने इतना दुर्व्यवहार तो नहीं किया परन्तु विमाता का व्यवहार भवदय बटु था। वे एक स्थान पर लिखते हैं—

"पिता जी डाकसाने से जो भी चीज खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे खुद खा जायें। वे उनकी लाई हुई चीजों को पिता के सामने रखती तो पिता जी बोलते—'भे ये चीजें बच्चों के लिए लाता हूँ।' जब चाची न मानती तो पिता जी झुल्ला कर बाहर चले जाते।"

'निर्मला' उपन्यास में भी निर्मला एवं उसके सौतेले तीन पुत्रों का चित्रण भी आत्म-कथा पर ही आधारित दृष्टिगोचर होता है। 'कर्मभूमि' में भी वे विमाता के दुर्व्यवहार का प्रकट इस प्रकार करते हैं—

"भ्रमरकान्त की माता का उसके बचपन ही में देहान्त हो गया। समरकान्त ने मित्रों के कहने-सुनने से दूरगम विवाह कर लिया था। उस गत साल के बालक ने नई माँ का बड़े प्रेम से स्वागत किया, लेकिन उमे जल्द मालूम हो गया कि उसकी नई माता उसकी जिद और शरारतों को उस दामा-दृष्टि से नहीं देखती, जैसे उसकी माँ देखती थी।"

एक बात इस प्रसंग में और विचारणीय है कि इन्होंने विमाता के भागमन का जहाँ भी वर्णन किया है, वहाँ बालक की सात, घाट या दग वर्षों की भवस्था में ही किया है। प्रेमचन्द की प्रायु भी इनकी विमाता के भागमन के समय लगभग नौ वर्ष की थी।

प्रेमचन्द जो बाल्यकाल में गुल्ली-डंडा भी खेलते थे। वे अपने बाल्यकाल के विषय में माता की मृत्यु के परचाय का वृत्तान्त लिखते हैं—".....पीच घः महीने के बाद मेरे पिता भी बीमार पड़े। वे समझी घाये। मैं भी घाया। मेरा काम मौनवी साहब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईत तोड़ कर पूगना और मटर की फनी तोड़कर खाना—बतने सगा।" इनमे उनकी गुल्ली-डंडा-प्रियता का पता लगता है, जिसकी अभिव्यक्ति हम 'सतगोभ्य' कहानी में रघू के चरित्र में देखते हैं—

"रघू की उम्र उम समय केवन दग वर्ष की थी। घेन से गाँव में गुल्ली डंडा खेलना फिरना था।"

'कुट्ट बिचार' नामक निबन्ध-ग्रन्थ में 'कहानी-कला' लेख में वे अपने इस प्रेम को इस प्रकार व्यक्त करते हैं—“हर एक बालक को अपने बचपन की वे कहानियाँ याद होंगी जो उसने अपनी माँ या बहिन से सुनी थीं। कहानियाँ सुनने की वह कितना तालावित रहता था, कहानी शुरू होते ही किस तरह सब कुट्ट झूलकर सुनने में तन्मय हो जाता था, कुत्ते और बिल्लियों की कहानियाँ सुनकर वह कितना प्रसन्न होता था—इसे शायद वह कभी नहीं भूल सकता।” इन्हें बचपन में कुत्ते-बिल्ली की कहानियों से अत्यधिक प्रेम था। 'जंगल की कहानियाँ' और 'कुत्ते की कहानी' आदि जो बालोपयोगी कहानियाँ इन्होंने लिखी हैं वे इसी अभिरुचि का परिणाम हैं।

प्रेमचन्द जी ने एक बार ५) का दूरान किया था जिसमें से वे प्राये रुपये घर पर भेजते थे और प्राये में अपना खर्च चलाते थे। पुनः इन्हें १८) मानिक बेनन पर एक छोटे से स्कूल में अध्यापन का कार्य मिल गया था और उसमें से भी अधिकतर धर पर ही खर्च होता था। 'लाटरी' नामक कहानी में अपनी इस दशा को वे इस प्रकार परोक्षतः व्यक्त करते हैं—

“ये उन दिनों स्कूल मास्टर था। बीम रुपये मिलते थे। दस धर भेज देता था। इसमें लस्टम-गस्टम अपना गुजारा करता था।”

प्रेमचन्द जी इस छोटी नौकरी से प्रसन्न नहीं थे भूतः उन्होंने इसे कभी धरदान नहीं माना। इसने मुक्ति पाने के लिए वे छटपटाने रहते थे और इस चिन्ता में रहने से कि किसी प्रकार कोई धन्दा ऊँचा कार्य मिले। 'बोम्ब' नामक कहानी में उनकी इस विवशता का एक चित्र देखिए—

'पठित चन्द्रधर ने एक धर प्राइमरी मुर्दारिनी तो करली थी, किन्तु मदा पद्यताया करने से कि कहीं से इस जंजाल में घा फँसे। यदि किसी अन्य विभाग में नौकर होने तो धर तक हाथ में चार पैसे होते, धाराम से जीवन व्यतीत होता। यहाँ तो महीने भर प्रतीक्षा करने के पीछे कही पन्द्रह रुपये देखने मिलते हैं। वह भी धर प्राये, उधर गये। न खाने का मुन, न पहनने का मुन।’

प्रारम्भ में इनका मन अध्वयन में नहीं लगता था। मौनवी साहब के यहाँ पढ़ते थे, प्रायः अनुसन्धित ही रहने से और धर-उधर घूमा करते थे। शिरोरावस्था में भी दुर्भाग्यवश अध्वयन रका रहा पुनः मण्डित बना बन मदा और एक ० ० में कई बार अनुत्तीर्ण हुए। उत्तीर्ण होने के पश्चात् नी निर्वाह-व्यवस्था ठीक न हो सकी भूतः निराग हो उनका मन शिशा के प्रति थडामूरुं न रहा। 'प्रेरणा' कहानी में वे निरक्षते हैं—

"यै अनुभव से कह सकता हूँ कि युवावस्था में हम जितना ज्ञान एक महीने में प्राप्त कर सकते हैं उतना बाल्यावस्था में तीन साल में भी नहीं कर सकते, फिर तामस्वाह बच्चों को मदरसे में कैद करने से क्या लाभ ? मदरसे के बाहर रहकर उसे स्वच्छ वायु तो मिलती, प्राकृतिक अनुभव तो होते ।"

'कर्मभूमि' उपन्यास के नायक अमरकान्त के दासों में तो स्पष्ट ही वे इस अरुचि को व्यक्त करते हैं—

"मैं जब तक व्यर्थ ही शिक्षा के पीछे पड़ा रहा । स्कूल और कॉलेज से अलग रह कर भी आदमी बहुत-बुद्ध सीख सकता है ।"

प्रेमचन्द जी प्रारम्भ में ही स्पष्टवादी रहे हैं । 'जीवन सार' एवं 'पहली रचना' आदि आत्मकथा-सम्बन्धी विषयों में इनकी यह स्पष्टवादिता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । अपनी दुर्दशा, अध्ययन-अरुचि स्त्री-कुरूपता, विमाता का दुर्व्यवहार और जीवन की विचित्रता आदि के वास्तविक चित्र खींचे हैं । 'पहली रचना' में अपने मामा के अमारी-प्रेम और उनकी अमारों द्वारा अरम्भ का बड़ा रोचक वर्णन है ।

परन्तु यह ज्ञात नहीं कि अपनी कुरूप स्त्री को मायके भेजकर इन्होंने एक रखेली से प्रेम क्यों किया । सम्भवतः यह इनके मामा का रोग था जो संक्रमित हो गया था या फिर यौवन के उन्माद का परिणाम था । तत्पश्चात् इन्होंने शिवरानी नामक बालविधवा से विवाह किया । प्रेम का नशा इनमें अत्यधिक मात्रा में था । इसीलिए ये विधवा-विवाह के पक्षपाती थे । इस विवाह से पूर्व इन्होंने 'प्रेमा' उपन्यास लिख लिया था, जगमें विधवा-विवाह का समर्थन किया भी है । पिता ने स्त्री के मर जाने पर पुनर्विवाह किया था और मामा ने विवाह न होने पर अमारी से प्रेम किया था । इन्होंने स्त्री के रहते दोनों ही कार्य किये, रत्नल भी रखी और पुनर्विवाह भी किया । ऐसा करने में मनो-वैज्ञानिक कारण था । प्रथम स्त्री इनको कुरूप थी कि वे उसे देख भी नहीं सकते थे । प्रथम दर्शन की प्रतिक्रिया उन्हीं के दासों में देखिए—"जब मैंने उनकी मूर्त देखी, तो मेरा लून मूच गया ।"

'उनकी' शब्द में स्त्रियों के प्रति इनका सम्मान व्यक्त होता है । और उमीतिपूर्वक संस्मरण से उगवा वालन-गोपण करते रहे ।

इस प्रकार इनका परिवार ही मारी-मगसया का एक विशाल केन्द्र था । यह पुनर्विवाह, विधवा-विवाह, अनमेल-विवाह और छुड़ा-प्रेम का एक मशीन बनाने का था । इन्हें बहुत-बुद्ध मामापी तो अपने उपन्यास एवं कहानियों के लिए अपने परिवार एवं स्वकीय जीवन से ही मिलीं । 'वरदान' और

'निर्मला' में अनमेल विवाह के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं, 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह की समस्या पर विचार है, 'सेवासदन' में स्त्री और पुरुष के वैपत्य पर प्रकाश डाला गया है, 'कर्मभूमि' एवं 'निर्मला' में द्वितीय-विवाह के फलस्वरूप आई विमाता के व्यवहार से सन्तान की दुर्दशा का चित्रण है और 'कायाकल्प' में स्त्री-सम्बन्धी प्रायः सभी समस्याएँ गुलझाई गई हैं।

अनेक कहानियों में भी बेमेल विवाह आदि ऐसे ही विषयों पर प्रकाश डाला गया है। 'नया-विवाह' कहानी में भी ऐसी ही समस्या है। नया-विवाह इसी लिए किया गया है कि पहली स्त्री से मन नहीं भरता परन्तु दूसरी से इसलिए सकोच है कि वह अत्यधिक छोटी है, ऊँट और बिल्ली में मेल ही क्या ! किन्तु प्रेमचन्द विवाह को एक ऊँचा आदर्श मानते हैं। 'दो सखियाँ' नामक कहानी में विनोद के शब्दों को सुनिए—“विवाह का उद्देश्य यही है और केवल यही है, कि स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को आत्मोन्नति में सहायक हो !” 'कर्मभूमि' के नायक अमरकान्त से भी वे यही शब्द कहलाते हैं—‘मैं एक नये जीवन का सूत्रपात करने जा रहा हूँ—जहाँ स्त्री, पति को केवल नीचे नहीं घसीटती, उसे पतन की ओर नहीं ले जाती, बल्कि उसके जीवन में आनन्द और प्रकाश का मंचार करती है।”

सामाजिक स्थिति—प्रेमचन्द जी ने जब साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया तो उस समय आर्य-समाज का सुधार-कार्य प्रबलता से चल रहा था। विधवा-विवाह के पक्ष में एवं बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह और दहेज आदि के विपक्ष में आन्दोलन हो रहे थे। प्रेमचन्द जी इन से प्रभावित हुए और उन्होंने इन विषयों को अपनी अनेक कहानियों एवं उपन्यासों के लिए चुना। विधवा-विवाह की समस्या 'पिक्कार' और 'बालक' कहानियों में विप्रित हुई है। वृद्ध-विवाह पर व्यंग्य हमें 'नरक का मार्ग' नामक कहानी में मिलता है। अछूतों की समस्या को लेकर उन्होंने 'मन्दिर', 'नदगति' एवं 'ठाकुर का कुंभा' आदि कहानियाँ लिखीं। 'अन्ध-विश्राम' के विरोध-स्वरूप भी उन्होंने 'भूत', 'सुहाग का साड़ी' आदि अनेक कहानियों की रचना की। उपन्यासों में तो प्रायः सभी में इन एवं और भी सामाजिक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। 'सेवासदन', 'निर्मला' एवं 'शवन' आदि में ये समस्याएँ बड़े विवट रूप में दिखलाई देनी हैं।

हमारी समाज में प्राचीन परम्पराओं के नाय पारिवारिक जीवन के जितने भी रूप थे या फिर पादचार्य सम्मता से उनमें जो भी परिवर्तन हुए थे सब हमें इनके उपन्यासों में मिलते हैं। ग्रामीण एवं नागरिक समाज का

जीवन नैसर्गिक रूप में प्रकृत हुआ है। ग्रामीण समाज की प्रशिक्षा, धर्म-विश्वास-प्रियता, कलह, कुशथा-प्रसता एवं शत्रुता का बड़ा मानिक विवरण हमें उनमें मिलता है। स्थियों की भारतीय समाज में जो कुछ स्थिति है उसका चित्रण तो बड़ा ही स्पष्ट है। नागरिक समाज का दग्ध, खोखलापन, अवास्तविक जीवन, विलासानुराग एवं वाक्पटुत्व भी अपने वास्तविक रूप में प्रकृत हुए हैं। विशेषतः इन्होंने वैवाहिक समस्याओं को लिया है परन्तु उनका कोई निश्चित हल प्रस्तुत नहीं किया है।

उन्होंने समाज में डोग फैलाने वाली की बड़ी खिल्ली उड़ाई है। 'प्रेमाश्रम' में धार्मिक सम्मेलन का उल्लेख करते हुए धर्म के टेकेदारों एवं तिलकधारी पंडितों का बड़ा उपहास किया है। 'सेवा-सदन' में भी मुमन के कोठे पर ऐसे ही दम्भियों पर व्यंग्य कमे गए हैं। 'निमज्जण' कहानी में एक पेद्रू ब्राह्मण की हंसी की गई है।

राजनैतिक स्थिति—प्रेमचन्द के साहित्यिक जीवन में एवं उससे कुछ पूर्व से देश में राजनैतिक स्थिति विशुद्ध थी। कारण या कांग्रेस द्वारा प्रचारित स्वातंत्र्य-आन्दोलन। लार्ड कर्जन ने बंग-भंग का प्रस्ताव रक्खा जिससे देश में, विशेषतः बंगाल में एक भाग-सी लग गई। उस समय बंग-भंग तो न हुआ परन्तु मिण्टो मार्ले के मुखारो ने बिगाड़ का रूढ़ धारण कर लिया। हिन्दू-मुसलमानों के विभाजन की नींव पड़ गई। देश में शासन का विरोध उग्रता से होने लगा। सन् १९१२ में लार्ड हार्डिंग पर पोला फैजा गया, पुनः बम्बारन के विमानों का संबट दूर करने के लिए महात्मा जी के नेतृत्व में सत्याग्रह हुआ।

सन् १९१४-१५ तक महापुढ हुआ। मुढ की समाप्ति पर सरकार ने रोलट ऐक्ट पास किया, जो नेताओं की मान्य न हुआ। मुखारों के प्रति अमान्य प्रकट करने के लिए देश में आन्दोलन हुआ, जिसके नेता थे गान्धी जी। इस आन्दोलन में विदेशी मान्य का बहिष्कार हुआ। १९१६ में जलियाँवाले बाग का हत्याकाण्ड हुआ जिससे दग्ध आन्दोलन को और भी उत्तेजना मिली। सरकार ने बड़ी कठोरता से व्यवहार किया परन्तु गान्धी जी ने मारा आन्दोलन अहिंसात्मक ढंग से ही चलाया। परन्तु सन् १९२१ में धीरो-धीरो के काण्ड के पश्चात् महात्मा जी ने इसे स्थगित कर दिया। प्रेमचन्द जी ने इस आन्दोलन में नौकरी छोड़ी थी।

सन् १९२२ में कर न देने का आन्दोलन दिड़ा। कुछ समय पश्चात् धर्मियों की भेदनीति ने हिन्दू-मुस्लिम दग्ध भी होने लगे। १९३० में पुनः असाहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। नमक कानून तोड़ा गया, विदेशी मान्य का

बहिष्कार भी किया गया और शराब पर विबेकिंग हुए। सरकार ने इस आन्दोलन को समाप्त कराने के लिए बड़ी कठोरता का व्यवहार किया। कराँची और वानपुर में साम्प्रदायिक भगड़े भी कराए।

अन्त में गान्धो-शरविन ममझौता हुआ। गान्धी जी इंग्लैंड गये। जब देश लौटे तो स्थिति और भी दिगड़ी पाई। लार्ड विलिंगटन ने अछूतों की हिन्दुओं से पृथक् करने की योजना बनाई जिसमें महात्मा जी को आजन्म अनशन व्रत करना पड़ा। इससे घबराकर सरकार ने पूना-पेक्ट किया तब महात्मा जी ने व्रत तोड़ा। सन् १९३५ में भारतीय शासन-विधान निर्मित हुआ।

यह भी राजनैतिक स्थिति जिसके मध्य प्रेमचन्द जी रहे। कहा जा चुका है वे भी इस स्वातंत्र्य-संग्राम में कूद पड़े। उनकी स्त्री तो जेल भी गई। यही कारण है कि उन्होंने अपने उपन्यासों एवं अनेक कहानियों में इस राजनैतिक वातावरण का चित्रण किया है। 'प्रेमाश्रम', 'रगभूमि' और 'कर्मभूमि' में इस राजनैतिक स्थिति का बड़ा विशद विवेचन है। 'मर्यादा', 'भाड़े का टट्टू' एवं 'मोटोराम शास्त्री' आदि कहानियाँ भी राजनैतिक विषयों से ही सम्बन्ध रखती हैं।

प्रेमचन्द की कहानी-कला—

प्रेमचन्द जी ने 'कहानी' नामक लेख में लिखा है कि—

"वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विद्वेषण और जीवन के पदार्थ और स्वाभाविक चित्रण को घनता ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

इससे स्पष्ट है कि वे कहानी को जीवन का चित्रण मानते हैं, जिसमें मनोवैज्ञानिक विद्वेषण तथा कल्पना की अपेक्षा अनुभूति का प्राधान्य हो। सबसे उत्तम कहानी वे उन्हीं को मानते हैं 'जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।' इसीलिए उनके अनुसार कहानी में किसी समस्या का होना आवश्यक है। वे कहानी को एक मनोरञ्जन की ही वस्तु नहीं समझे वरन् उसे अन्तःसौन्दर्य को व्यक्त करने का एक साधन समझते हैं। अतएव कहानी का आधार घटना नहीं वरन् अनुभूति है। वे निम्नलिखित हैं—"कहानी का आधार घब घटना नहीं, अनुभूति है। आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्पूज सौन्दर्य नहीं है, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की कल्पना हो और उसके द्वारा वह पाठकों की सुन्दर भावनाओं को स्पष्ट कर सके।"

उपन्यास को भी कहानी मानते हुए तथा उनमें एवं प्राधुनिक छोटी कहानी (भाष्यायिका) में भेद बतलाते हुए वे लिखते हैं कि "उपन्यास घटनाओं, पात्रों और चरित्रों का समूह है। भाष्यायिका एक घटना है। अन्य बातें सब उसी घटना के अन्तर्गत होती हैं।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आज की कहानी जीवन की एक घटना का चित्रण है। परन्तु इससे हमें यह नहीं समझना चाहिए कि कहानी घटना-प्रधान होनी चाहिए। घटना-प्रधान कहानी होती है परन्तु उनसे चरित्र-प्रधान कहानियाँ श्रेष्ठ होती हैं।

प्राधुनिक कहानी का स्वरूप प्रेमचन्द जी के ही पादों में इस प्रकार है—
"कहानी जीवन के बहुत निकट आ गई है। उसकी जमीन घब उतनी सम्बन्धी-बोड़ी नहीं है। उसमें कई चरित्रों और कई रसों, कई घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा। वह अब केवल एक प्रसंग की आत्मा की एक झलक का सजीव हृदयस्पर्शी चित्रण है। इस एक तथ्यता ने उसमें प्रभाव, भावस्मिता और तीव्रता भर दी है। अब उसमें व्याख्या का अंश कम, संवेदना का अंश अधिक रहता है। उसकी धौली भी अब प्रवाहमयी हो गई है।"

यह कथन व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। प्रेमचन्द जी ने इसी सिद्धान्त को अपनी कहानी-कला का आधार बनाया है। वे अपनी कहानी-रचना-कला के विषय में 'भैं कहानी कैसे लिखता हूँ' नामक लेख में लिखते हैं—

"मेरे किसी प्रायः किसी न किसी प्रेरणा, प्रयत्न अनुभव पर आधारित होते हैं, उसमें नाटक का रंग भरने की कोशिश करता हूँ। मगर घटना मात्र को वर्णन करने के लिये मैं कहानियाँ नहीं लिखता। मैं उसमें किसी दार्शनिक और भावनात्मक सत्य को प्रकट करना चाहता हूँ। जब तक इस प्रकार का कोई आधार नहीं मिलता, मेरी कलम ही नहीं उठती। आधार मिल जाने पर मैं पात्रों का निर्माण करता हूँ। कई बार इतिहास के अध्ययन से भी प्लॉट मिल जाते हैं। लेकिन कोई घटना कहानी नहीं होती, जब तक कि वह किसी नैतिक सत्य को व्यक्त न करे।"

इस पर्यालोचन में स्पष्ट हो जाना है कि कहानी जीवन की किसी घटना का चित्रण है, उसके किसी एक अंग की व्याख्या है जिसमें अनुभूति के बल पर किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का व्यक्तीकरण होता है। यह वह कला है जो मध्यम न होनी हुई भी यथायं जैसी प्रतीत होती है और वास्तविक ध्यान देने से स्वरूप है।

प्रेमचन्द जी के इस सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि उनका

दृष्टिकोण आदर्शवादी है। उन्हे सत्य बिना साहित्य प्रिय नहीं। वे यथार्थ को भी तभी ग्राह्य समझते हैं जब वह आदर्शोन्मुख हो। अतः उनका कहानी-साहित्य प्राचीन भारतीय कहानी-साहित्य की भाँति आदर्श से पूर्ण है। यद्यपि वे आधुनिक कहानी को उपन्यास की भाँति पश्चिम की देन मानते हैं तथापि वे वहाँ के नग्न यथार्थ के पक्षपती नहीं।

प्रेमचन्द जी की प्रारम्भिक कहानियों में समाज-सुधार की भावना विशेष पाई जाती है। उनमें सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन है और किसी मनोवैज्ञानिक सत्य का व्यक्तीकरण नहीं। इनका सम्बन्ध नागरिक जीवन से है। पुनः इन्होंने सर्वाधिक ग्रामीण जीवन को चित्रित किया। इन कहानियों में हम उन्हे सच्चा कहानी-लेखक देखते हैं। यहाँ वे ग्रामीण कृषक, श्रमिक, जमींदार, महाजन और भ्रष्टारों की मानसिक दशा एव स्थिति का विरलेपण करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। कृषक इन सब में महान् है, जो इन नर-पशुओं की मार भी सहता रहा है और प्रकृति की चोट भो, जो बिट-बिटकर कुन्दन होता रहा है और संसार का पेट पालता रहा है। उनकी दृष्टि गाँव के आदर्श और आदर्श गाँव की स्थापना पर लगी रहती थी अतः ग्रामीण जीवन में अनेक बुराइयों के होने पर भी वे उसे नागरिक जीवन से कहीं विशुद्ध और प्राकृतिक समझते थे। गाँव ही तो भारत की विभूति है। भारत के राजा-महाराजा, पंजीपति और उद्योगपति सभी इसी किसान और विचारे मजदूर की कमाई से ही तो विशाल भट्टालिकाओं में विलास करते रहे हैं। इसीलिए किसान और मजदूर के प्रति उनका बड़ा सहानुभूतिपूर्ण रस रहा है। कुछ कहानियों में इन्होंने ग्रामीणों के अन्ध-विश्वासों का भी अंकन किया है।

इस प्रकार की कहानियों के अतिरिक्त प्रेमचन्द जी ने कुछ इतिहास-विषयक कहानियाँ भी लिखीं, जिनमें भारतीय सस्कृति का माहात्म्य चित्रित किया है। इन कहानियों में वीर एवं वीरान्नामों के बड़े मुन्दर चित्र हमें देखने को मिलते हैं। कुछ में मुगलमानी समय की विलासिता के चित्र भी खींचे हैं।

प्रेमचन्द जी ने लगभग तीस सौ कहानियाँ लिखीं, जिनमें कुछ घटना-प्रधान हैं और अधिकांश चरित्र-प्रधान। उन्होंने अपनी कहानियों के लिए विषय ढूँढने के लिए कि कोई विशेष विभाजन नहीं किया जा सकता। हम इस प्रकार वर्गीकरण करते हैं—

[१] सामाजिक—प्रेमचन्द जी ने कुछ समाज से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ लिखीं। जिनमें कुछ विषया से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ हैं, यथा—'पिक्कार', 'बालक'।

कुछ ग्रन्थ-विश्वासों से सम्बन्ध रखती है, यथा—'भूत', 'मुहाग की साठी', 'भूतक भोज' आदि ।

कुछ में अद्भुत-समस्या को लिया गया है, जैसे—'मन्दिर', 'ठाकुर का कूँआ', 'सद्गति' आदि ।

कुछ सामाजिक व्यंग्य एवं प्रयागों से सम्बन्ध रखती है, जैसे—'मनुष्य का परम धर्म', 'बाला जी का भोग', 'खून सफेद', 'दो बर्रें', 'दहेज' आदि ।

[२] राजनीति सम्बन्धी—'सत्याग्रह', 'भाड़े का टट्टा', 'पण्डित मोटेराम वास्त्री', 'नशा', 'होली का उपहार' आदि ।

[३] धार्मिक एवं नैतिक कहानियाँ भी उन्होंने पर्याप्त मात्रा में लिखीं, यथा—'क्षमा', 'दुर्गा का मन्दिर', 'मुक्तिपथ', 'मुक्तिमार्ग', 'विश्वास', 'दो बहनें', 'सर्चाई का उपहार', 'मंत्र', 'उद्धार', 'गरीब की हाथ' और 'माले की घड़ी' एवं 'दुस्माहम' आदि ।

[४] आदर्श उपस्थित करने वाली कहानियाँ—कुछ ऐसी कहानियाँ हैं जिनमें स्त्री-रक्षा के लिए वीरता का आदर्श उपस्थित किया गया है, जैसे—'राजा हरदोल', 'जुगनू की चमक', 'बहिष्कार' आदि ।

कतिपय कहानियों में स्त्रियों का ही नौर्य प्रदर्शित हुआ है, जैसे—'रानी सारंग्रा', 'मर्यादा की वेदी', 'सती' आदि ।

मातृभूमि के प्रति प्रेम का आदर्श 'माँ' कहानी में अत्युत्तम रूप में दृष्टि-गोचर होता है ।

'धर्मगण्ट' कहानी में गम्भिरता का आदर्श है ।

जाति-भेद का आदर्श 'कानूनी कुमार' आदि में देखा जा सकता है ।

[५] स्त्री-पुरुष सम्बन्धी कहानियाँ तो अनेक हैं, यथा—'दिन की रानी' में बतलाया गया है कि ग्राहम ने प्रेम पर भी विजय पाई जा सकती है । 'वेदया' में दिखाया गया है कि वेदया भी प्रेम पाकर पुरुष की मन्वी गह्वरी हो सकती है । 'विद्वाम' कहानी में विद्वाम को प्रेम का कारण गिद्ध किया गया है । प्रायुक्तिक प्रेम का चित्र 'विन पदमा' में मिलता है ।

रंग गम्बन्ध में 'हार की जीत', 'सैना', 'निर्कार', 'धर्मगण्ट', 'मातृनि' आदि सुन्दर कहानियाँ हैं ।

इनके अनिश्चित अनेक विषयों का उत्तर भी अनेक कहानियाँ हैं, यथा—'दृष्ट विवाह' में गम्बन्ध रंगने वाली 'नरक का मार्ग' है ।

'बूढ़ी काकी' में एक बूढ़ा को रसना-लोलुपता एवं उसकी विवगता का चित्र है।

स्त्री को आभूषण कितने प्रिय होते हैं यह बात 'आभूषण' कहानी में मिलती है।

कृपक का वास्तविक चित्रण 'सवामेर गेहूँ' और 'पूस की रात' में हुआ है।

'शतरंज के खिलाड़ी' में नवाब्री सामन्तशाही की विलासप्रियता के दर्शन होते हैं।

'ममता' में माना का भ्रमत्व देखने को मिलता है।

'प्रारब्ध' और 'नीभाग्य के कोड़े' आदि में भाग्य की महिमा गाई गई है। 'साटरी', 'स्वर्ग की देवी' आदि में मनोदशा का चित्रण हुआ है। कुछ कहानियाँ पशुओं से सम्बन्ध रखती हैं, यथा—'दो बैलों की ब्या', 'अधिकार चिन्ता' आदि।

इस प्रकार प्रेमचन्द जी ने मँकड़ों ही कहानियाँ विविध विषयों पर लिखी। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में घटना-प्रधानता होने से अनुभूति का अंश कम है और न उनमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही शुद्ध रूप से हुआ है। उनकी श्रेष्ठ कहानियों की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं।

प्रेमचन्द जी प्राचीन सभृति के पुजारी थे अतः अनेक कहानियों में उन्होंने अतीत के गुन्दर चित्र खींचे हैं। परन्तु अन्धविश्वास से वे रहित थे और कुप्रथाओं के पक्षपाती न थे अतः उनकी कहानियों में हम अन्धविश्वास एवं कुप्रथाओं पर स्पष्ट देखते हैं। ग्राम एवं नगर के सामाजिक, धार्मिक और नैतिक जीवन का चित्रण करते हुए उन्होंने जो चित्र अंकित किये हैं वे बड़े स्वामाविक हैं। नागरिक जीवन का खोलनापन और दम्भपूर्ण व्यवहार भी दर्शनीय है। इन कहानियों में भावों का विश्लेषण बड़े मुन्दर रूप में हुआ है। पाश्चात्य शिक्षा में दृष्टी में एक वैज्ञानिक सीखाने का गना था अतः उसने विषे बिना कोई भी विषय बच नहीं सकता था। वे उसे अपनी शाय पर चढ़ाकर सरादने से और ऐसा चित्रण रूप देते थे कि पाठक को वहाँ भी गुरदरानन का (विषमता का) आभास नहीं मिलता है।

प्रेमचन्द गुफारवादी थे अतः वस्तु का चित्रण यथार्थ में करते हुए भी आदर्श उपस्थित करने की उनकी अभिलाषा रहती थी अतएव उनकी सभी कहानियाँ किसी न किसी उच्च ध्येय को लेकर लिखी गई हैं। वे स्वर्ग-अपवर्ग की अपेक्षा मानव-जीवन को विशेष महत्त्व देने से और वे मनुष्य को ही मनुष्य

रूप में देखना चाहते थे, भतः उन्होंने मानव का चित्रण उसके भले-बुरे रूपों के द्वारा मानव-भ्रमाज के गुधार के लिए ही किया है। न वे उसे नाटकीय रूप में देख सके हैं और न दैवी रूप ही दे सके हैं।

उन्होंने निम्नता पसन्द नहीं की भतः बड़ी सचाई के साथ उन्होंने घन्याय का विरोध किया है, समाज की बुराइयाँ दिखलाई हैं और बुनासत का भण्डा-फोड़ किया है। पारस्परिक सम्बन्ध की कहानियों में कर्तव्य को ही प्राधान्य दिया है और मानव-प्रकृति का चित्रण बड़ी गम्भीरता से किया है।

प्रेमचन्द जी की कहानियों की कथावस्तु प्रायः घटनाओं से सम्बन्ध रखती हैं परन्तु उन्होंने केवल गुन्दर घीली से गतिपूर्ण शब्दावली द्वारा उन्हें सजाकर कहानी का रूप नहीं दिया है प्रत्युत उनमें मनोवैज्ञानिक क्लासिक्स (उत्तरोत्कर्ष) लाने का सफल प्रयत्न किया है। इनके पात्रों के चरित्र-चित्रण में एक नैसर्गिकता है और कथनोपकथनों में नाटकीय दृश्यों का भ्रानन्द प्राप्त होता है। देश-काल का समुचित ध्यान भी इनकी एक बड़ी विशेषता है। उद्देश्य की प्राप्ति तक पहुँचने में पाठक को विषय भूमि पर पग नहीं रखने पड़ते परन्तु कहानी-प्रवाद के साथ उसका मन स्वतः तरलता को प्राप्त हो कर उसके साथ-साथ सदैव तक पहुँच जाता है।

इन्हीं गुणों के आधार पर प्रेमचन्द जी को हम कहानी-सम्राट् कहते हैं। प्रेमचन्द की औपन्यासिक कला— प्रेमचन्द जी ने 'उपन्यास' नामक लेख में लिखा है—“मेरे उपन्यास को मानव-जीवन का चित्रमात्र समझना है। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।” इस प्रकार वे उपन्यास को मानव-जीवन की व्याख्या मानते हैं और साहित्य की वास्तविक परिभाषा भी यही है एवं उपन्यास साहित्य का ही भग है। साथ ही उनी उपन्यास की ये स्थायिता स्वीकार करते हैं जो अनुभूति की आधार-शिला पर खड़ा हो।

प्रेमचन्द जी ने अपने इस सिद्धान्त को भूमतः भारत से घनत तक निभाया है। उनके 'बदलाव' ने लेकर 'गोदान' तक सभी उपन्यास अनुभूति पर ही आधारित हैं। भारतीय समाज और सामन में उन्होंने जो कुछ देखा वह चित्रित किया है। अग्रणी सामन में राजनैतिक एवं सामाजिक ढाँचे में डले हुए मनुष्य का जो भी सट्टन या विष्टरूप उनके दृष्टिपथ में आया उमका विनय एवं वास्तविक चित्रण वे कर गए हैं। वे साहित्य का मुख्य अंश साहित्य में उपयोगितावाद के पक्षपाती हैं। वे साहित्य का मुख्य

उद्देश्य आनन्द मानते हैं परन्तु उसकी उपयोगिता की महत्ता को भी स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि, "साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है।" जो साहित्यकार उपयोगिता को दृष्टि में रखकर साहित्य में उठे अन्त-निहित नहीं कर सकता वह उपदेशक बनकर अपना उपहास कराता है। इस उपयोगिता से तात्पर्य वे पाठक के जीवन में एक अन्त सौन्दर्य-प्राप्ति से ही लेते हैं अतः वे यथार्थ में भी आदर्श को ही महत्व देते हैं। वे 'कायाकल्प' उपन्यास में चक्रवर्त के मुख से कहलाते हैं—यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थता धृष्ट है।" इस भाव को हम उनके 'उपन्यास' नामक लेख में व्याख्यात हुआ इस प्रकार देखते हैं—"वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की मव से बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की मृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्बिचार से पाठक को मोहित कर लें।" इस प्रकार साहित्य में वे उमी यथार्थवाद की महत्ता स्वीकार करते हैं जो नग्न नहीं है—जो आदर्शोन्मुख है।

वे साहित्य को केवल मनोरञ्जन की ही वस्तु नहीं समझे। यह तो भाटो और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे बहुत ऊँचा बतलाते हुए वे लिखते हैं कि—"वह हमारा पय-प्रदर्शक होना है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करना है, हमारी दृष्टि को फैलाना है—कम से कम उमका यही उद्देश्य होना चाहिए।" 'कम से कम' कहकर वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि साहित्यकार का उद्देश्य इससे भी बही ऊँचा होना चाहिए। इस प्रकार हम जान सकते हैं कि साहित्य में प्रेमचन्द जी यथार्थ की अपेक्षा आदर्श को कितना ऊँचा स्थान देने थे। इसीलिए उनके सभी उपन्यासों में तात्कालिक सामाजिक एवं राजनैतिक चित्रण होने हुए भी छोटे-बड़े सभी चरित्रों द्वारा कुछ-न-कुछ आदर्श उपस्थित करने का ही प्रयत्न किया है।

प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के विषय सामाजिक एवं राजनैतिक अनुभूत समस्याओं से सम्बन्ध रखते हैं। अतः उनके सभी उपन्यास समस्याप्रधान हैं। उन्होंने ग्राम और नगर की समाज का वास्तविक रूप अपनी भाँखी से देखा था। ग्रामीण लोगों के गुण-धवगुणों को वे जानते थे। देहाती घापस में विभ प्रचार सहते-भगडते, रूपाँ रखते, परस्पर हानि पहुँचाते, तुच्छ बातवचरण में जीवन बिताते हैं तथा अन्ध-विश्वासों में डूबे हुए वे किस प्रकार प्राचीन परम्पराओं

के अनुमर्त्ता होते हैं और दूसरो से प्रेरित होते हैं, हमे उन्होने अपनी मातो से देखा था। द्विज वर्ण ब्रह्मूतो से किस प्रकार दुर्व्यवहार करते हैं यह भी उनसे छिपा नही था। ग्राम के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यो के प्रतिरिक्त उन्होने डोम, चमार, कजर आदि निम्न वर्ग के लोगो का चित्रण भी किया है। गांव के खेत, नहर, ताताब, कुएँ और बाग भी हमें उनके उपन्यासों में दृष्टिगोचर होते हैं। इन सब के प्रतिरिक्त हमें उनके त्योहार, उत्सव, विवाह एव मनोरञ्जन के साधन स्वांग आदि भी देखने को मिलते हैं। महाजनो से ऋण लेना, पुनः जीवन भर ब्याज देते रहना और मूल वा'न चुकना, जमींदार और पटवारियो के जाल में फँसे रहना, हाकिमो की भिडकियाँ और मार सहना और भ्रत में कचहरियो के चक्कर लगाना आदि दृश्य भी हमारे सम्मुख आते हैं। तात्पर्य यह है कि ग्रामीणों की सभी जीवन-समस्याएँ चित्रित हुई हैं।

ग्राम की भाँति प्रेमचन्द नगर से भी पूर्ण परिचित थे। वहाँ के जीवन का योग्यतापन भी वे अच्छी तरह देव चुके थे। नागरिकों में पारस्परिक प्रेम नही होता, वे स्वार्थरत होते हैं, उनमें दम्भ की मात्रा अधिक होती है, कृत्रिमता के वे पुजारी होने हैं, वे ग्रामीणों को ठगने में कुशल होते हैं, नागरिक स्त्रियाँ कारखानों के विरुद्ध विनासप्रिय और प्रतिघ्न बित्त होती हैं, नगरों में कल-वास्तविक जीवन को नष्ट कर उनमें अनेक बुराईयाँ भर देते हैं, वे सब बातें उन्हें अनुभूत थी। जमींदार, सेठ-साहूकार और घफगर नागरिक होते हैं या फिर नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, मजदूरों की कुरीतियो के और साय-साय उन पर हुए भ्रष्टाचारो के दर्शन नगर में ही होते हैं, बोली नागरिक धर्म के नाम पर कितनी बुराईयाँ करते हैं, वैश्या-जीवन भी इन्ही की करतूतो का परिणाम है, आदि बातें प्रेमचन्द जी से छिपी नहीं थी।

दुख भारतीय समाज को दीपंचाल से जर्जित करता रहा है। वे थी बाल-विवाह, ठेकेदारों का घादर, निर्धनता विन्नु नाक का प्रस्न आदि। प्रेमचन्द जो इन सभी सामाजिक समस्याओं से परिचित थे। इनके प्रतिरिक्त कुछ राजनीतिक समस्याओं भी थी, जिनका भीपरलतप ने सम्बन्ध रगनी थी। अमेजी शासन में घोवरु को योग्य मिला था। अमेजों को यहाँ के मनुष्य ने इतनी भी महानुभूति नहीं थी, इतनी घपने कुतो ने होनी है, घनः यहाँ के जमींदार, सेठ-साहूकार, हाकिम, पूजीपति, उद्योगपति, अधिपारी

सभी स्वार्थ-प्रधान हो गए थे। वे धन के पीछे जान लेना भी बुरी बात नहीं समझते थे। उनकी शिकार के विषय दो थे—किसान और मजदूर। किसान जमींदार, महाजन, पटवारो और हाकिमों की मार सहता था। लगान न देने पर उसकी खड़ी खेती कटवाली जाती थी, खलिहान उड़वा लिया जाता था और मार खाता था वह अलग। ऋण न चुकाने पर भी यही दुर्गति होती थी। कभी-कभी उनकी स्त्रियों की भी दुर्गति हो जाती थी। वह मूक प्राणी सब कुछ सहता था। जमींदार और महाजनों के इन दुर्ज्वहारों में पटवारी और हाकिम हर प्रकार में सहायता देते थे। यदि किसान विरोध करता या सामूहिक रूप से सत्याग्रह करता तो उसे जेल जाना पड़ता था, फिर न कोई खबर-बेबा और न पानी-देवा। ये लोग किसानों की परस्पर भी लड़ाते रहते थे, जो एक दूसरे के खेत में घाग लगा देने थे या पशुओं को मार देते थे।

ग्रामों में इस राजनीतिक हलचल के अनिश्चित नगरों में भी इसका भीषण रूप देख पड़ता था। वहाँ अधिकतर मिल-मालिको एव मजदूरों का संघर्ष रहता था, म्युनिसिपैलिटी एवं उनके निम्नवर्गीय कार्यकर्ताओं में झगड़ रहते थे तथा नगर के अनेक मामलों पर विवाद हो जाते थे जिनमें स्वास्थ्य, शिक्षा तथा बेधमा और अछूतों के विषय प्रधान होते थे और कभी-कभी देश के स्वातंत्र्य-आन्दोलन में अधिकारियों और जनता के मध्य संघर्ष भी हो जाता था। कभी सुधार कार्य में भी यह संघर्ष दृष्टिगोचर होता था। नगरों में यदा-वदा हिन्दू-मुस्लिम समस्या भी भीषण रूप धारण कर लेती थी। चुनाव भी अपने समय पर चहल-पहल के कारण होते थे।

स्वतन्त्रता के युद्ध ने भी नगर और ग्राम में राजनीति का खासा चक्र चलाया था। परन्तु गान्धी जी की अहिंसात्मक नीति से आन्दोलन एव सत्याग्रह आदि में विशेष संघर्ष नहीं होता था। नमक कानून-भंग आदि में पकड़-पकड़ अवश्य होती थी। सन् १९२०-२१ एवं ३०-३१ के सत्याग्रह में स्थान-स्थान पर संघर्ष हुए परन्तु वे इतने भीषण न थे और यों तो इस आन्दोलन में बिटवर अधिकारी सर्वत्र अन्याय पर तुल गये थे जिनसे जमींदारों, पूँजीपतियों और उद्योगपतियों के तनिक से संकेत पर निरीह जनता पर पाशविक अन्यायकार टाना उनका नियम-प्रति का बर्भट हो गया था। उन लोगों में भ्रष्टाचार का भी दौर-दौरा था। पूंग का बाजार गर्म था, भेंटें प्राप्त की जाती थी, बेगार ली जाती थी, बदमानों को प्रोत्साहन दिया जाता था, नगर्य के दौर उड़ते थे, महकियेँ जमती थीं और भी सब कुछ होता था और वह भी इरीबों के पैसों पर। राजानवालों के यहाँ तो भंफेर नगरी बनी हुई थी।

ये थीं ग्रामीण और नागरिक सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याएँ जो प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में चित्रित की हैं। अब हम सूक्ष्मतः इनके उपन्यासों में इन समस्याओं का विश्लेषण करते हैं क्योंकि इसके पश्चात् हम कुछ विस्तार से इनके प्रमुख उपन्यासों की संक्षिप्त कथा सहित समीक्षा करेंगे। जब प्रेमचन्द जी ने उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था तो उस समय ग्रामीणता का सुधार-कार्य प्रबलता से चल रहा था। 'वरदान' में धर्ममेल विवाह, 'प्रतिज्ञा' में विधवा विवाह, एवं 'मेवासदन' में बेव्याधों की समस्या का विवेचन उसी का परिणाम है। 'जीवन में साहित्य का स्थान' नामक लेख में वे लिखते हैं कि "साहित्यकार बहुधा अपने देहात्म से प्रभावित होता है।" प्रेमचन्द भी विधवाओं के मुक-क्रन्दन, विधवाता और घोटन से एवं बेव्याधों के समाज के प्रति व्यापक जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। अछूतों की दुर्दशा भी उन्हें रलानी थी। 'कर्मभूमि' में अछूतोंका का प्रश्न एक ऐसी ही समस्या है, जिसमें गुरदा आदि को सत्याग्रह तक करना पड़ता है। 'निर्मला' में दहेज के कारण एवं 'गहन' में पुत्री-विवाह पर व्यय की समस्या में जो कुपरिणाम हमें देखने को मिलते हैं वे प्रायः नित्य-प्रति की ही घटनाएँ हैं। विदेश जान पर 'प्रेमाश्रम' में प्रेमप्रकार का बहिष्कार आदि कुरीतियों का परिचय भी हमें होता है। 'कायाकल्प' में हमें सामाजिक व्यवहार के दर्शन होने हैं।

वरदान, प्रतिज्ञा, मेवासदन, निर्मला, गहन और मोदान सामाजिक उपन्यास हैं, प्रेमाश्रम राजनीतिक और रंगभूमि एवं कर्मभूमि दोनों ही समस्याओं से श्रोतप्रोत्ते हैं। 'कायाकल्प' मूलतः सामाजिक है परन्तु उसमें कुछ अन्तर्मनान्तर सम्बन्धी विलक्षण बातें भी हैं। ये तो सभी उपन्यासों में राजनीतिक हस्तचल विधो न विधो रूप में दीप्त पड़ती है परन्तु 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' में जमींदार-सिंघान, उद्योगपति एवं मजदूर तथा शायक और शायित का मध्यम सम-नाम-विक ऐसी समस्याएँ हैं जो अपने नाम रूप में चित्रित हुई हैं।

प्रेमचन्द प्रगतिवादी लेखक थे अतः वे दल-धर्म, जाति-पाति के भेद को दुराग्रह रूप में नहीं मानते थे, सुधार के पक्षपाती थे और मानव-जीवन से कष्ट का निवारण करना ही सच्ची सेवा समझते थे। इसीलिए हम उन्हें 'मेवासदन' में मेवासदन और 'प्रेमाश्रम' में प्रेमाश्रम की स्थापना करता हुआ देखते हैं। यद्यपि उनके प्रारम्भिक उपन्यास आदर्शवाद में श्रोतप्रोत्ते हैं और यद्यपि मेवासदन के पश्चात् उन्हें हम अर्थार्थ एवं अर्थुवाद की ओर पल रगता देखते हैं तथापि ये आदर्शों की कहीं भी नहीं भुजा गये हैं। 'गभूमि' में गुरदा का परिचय एक महत्तम आदर्श चरित्र है। ऐसा चरित्र विद्व-नया-साहित्य में दुर्लभ है। एका

में यद्यपि वस्तुस्थिति का ही अंकन है परन्तु रमानाय की अन्तिम चेष्टा सुधार की ओर है। यहाँ तक कि जोहरा भी वेद्यावृत्ति छोड़कर उसकी सहचरी बन जाती है। 'कर्मभूमि' में भी कर्म की महत्ता स्वीकार की गई है परन्तु अमर, सुखदा दोनो के जीवन में ही कुछ न कुछ आदर्श उपस्थित किया ही गया है। अमर हृदय में दुर्बल अवश्य है परन्तु उसका मेवा का आदर्श प्रबल है। 'गोदान' तो प्रेमचन्द का श्रेष्ठ उपन्यास है ही। उसमें होरी का चरित्र तो एक आदर्श कृपक एव अमिक का ही चरित्र है।

प्रेम और विवाह-सम्बन्धी समस्याओं का चित्रण करते हुए स्त्रियों के प्रति बड़ी महानुभूति से कार्य किया गया है। उनके चित्रण में बड़ी मयत्ता है।

इनके उपन्यासों में उच्छ्वसना नहीं। वस्तु का महज अंकन है। कथानक में एकमूर्तता है। 'गोदान' आदि में कही-कही दो कथाओं का साथ-साथ आभाम भी होता है तो वे पृथक् नहीं, परस्पर सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं कथनोपकथन में दीर्घ सम्भाषण अखरते हैं परन्तु प्रवाह की बमी नहीं होने पाई है। चरित्र-चित्रण में तो प्रेमचन्द जो मिद्धस्त हैं परन्तु कही-कही यह चिन्त्य है यथा 'कर्मभूमि' में प्रबल गान्धीवादी सुरदास के मुख से अन्न में पराजय का स्वीकार कराना समझ में नहीं आता। सकलनप्रय का भी प्रेमचन्द जी ने समुचित ध्यान रक्खा है। और शैली में तो एक ऐसी सम्मोहनी है कि माधुर्य और प्रसाद गुण पाठक को अपनी गति के साथ प्रवाहित किए चलने हैं और उसे चलचित्र का सा आनन्द देने हैं। भाषा सरल और गतिमान है। कही-कही जाति और वर्ग के अनुसार भी भाषा का प्रयोग हुआ है यथा 'सेवामदन' में वेद्या की महामित्र में उर्दू और 'कर्मभूमि' में चमार बस्ती में ग्रामीण भाषा का प्रयोग।

प्रेमचन्द जी इन समस्त गुणों के आधार पर हिन्दी के उपन्यास-सम्राट् कहनाते हैं। हिन्दी-साहित्य में श्रेष्ठ मौनिक उपन्यासकार प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद, विद्वत्भरनाथ शर्मा कौशिक, बृन्दावनलाल वर्मा, चतुरमेन शास्त्री, जैनेन्द्रकुमार एव वैचन शर्मा उग्र हैं। इनमें से प्रेमचन्द का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। प्रसाद जी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के मक्त से अतः मुसलमानों के प्रति उनका उपेक्षानाव दिखाई देता है। प्रेमचन्द जाति-वर्ग आदि में परे थे। प्रसाद जी को भाषा भी उतनी प्रवरहपूर्ण नहीं अितनी इनकी। प्रसाद जी का 'तितनी' उपन्यास श्रेष्ठ है परन्तु 'प्रेमाश्रम' एव 'कर्मभूमि' आदि को नहीं पा सकता। कौशिक जी के 'भियारिणी' एवं 'मा' नामक उपन्यासों में भी हम वह वस्तु-विषय, चरित्र-चित्रण एव शैली का सौन्दर्य नहीं देखते जो प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में मिलता

है। वर्मा जी के उपन्यास 'गढ़ कुंडार' में यह गुण बहुत कुछ मिलता है परन्तु उसमें इनका सा विविध स्वात्मक जीवन-चित्रण नहीं। शास्त्री जी के 'हृदय की प्यास' और 'हृदय की परख' उपन्यासों में ताप विशेष है, सौन्दर्य तो है पर शीतल नहीं। उग्र जी भी कुछ ऐसे ही हैं। उनकी उभता 'चन्द्र हसीनो के सुनृत' और 'दिल्ली का दमाल' में देखिए। इनकी समाज की कुरेदने की प्रवृत्ति वातावरण को मलिन बना देती है। प्रेमचन्द में एक सयत भाव रहता है, उनकी उभता पाठक में व्यपत्ता पैदा नहीं करती। समाज के पापाचार सम्बन्धी स्थलों में भी एक विदोभहीनता है अतः वे सहानुभूति के उद्भावनक हैं न कि विद्रोह के उत्तेजक। जैनेन्द्र जी का 'परख' उपन्यास श्रेष्ठतम उपन्यासों में से है परन्तु उसमें हृदयगत वेदना का गम्भीर चित्रण है जो सुन्दर होता हुआ भी सूक्ष्म है अतः मध्यम बुद्धि के लिए कुछ डुरुह है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में मस्तिष्क सुरक्षित की वही भी आवश्यकता नहीं पड़ती। वे दार्शनिकता से परे थे, वे बुद्धि के अनुचर नहीं थे, हृदय के उपासक थे।

इस प्रकार प्रेमचन्द सम्पूर्ण हिन्दी-कथा-साहित्य—उपन्यास और कहानी-साहित्य—में सर्वोच्च स्थान रखते हैं।

अब हम उनके उपन्यासों पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं।

सेवासदन

संक्षिप्त-कथा—शृणुचन्द्र एक पानेदार थे, उनकी स्त्री का नाम गंगाजली था और दो पुत्रियों के नाम थे क्रमशः मुमन और दान्ता। शृणुचन्द्र बड़े ईमानदार थे परन्तु जब मुमन के विवाह का प्रदन थापा और घर में रुपये का अभाव देखा तो उन्होंने घूम लेने का मकल्प किया। इसी समय रामदास उपनाम बकिबिहारी लाल नामक महंत के कुछ मुस्टरों ने यज्ञ के लिए चन्दा न देने पर चित्तु को इतना मारा कि उसकी मृगु हो गई। शृणुचन्द्र ने घूम लेकर मामले को समाप्त कर दिया परन्तु गांधियों के साथ बंटवारे के प्रदन पर झगडा हो गया और बान गुल गई। शृणुचन्द्र कारागृह भेज दिए गये। गंगाजली ने धरने भाई उपनाम के प्रयत्न से मुमन का पाण्डित्य १५) मासिक के बाबू दूत्रिया मन्नापर के साथ कर दिया।

मुमन शांति-पीते घर में एक ऐसे घर में पहुँची जहाँ जीवन की आवा-दपक बस्तुएँ अपने आपारण रूप में भी दुर्लभ थीं अतः वह अत्रगत्र रहने लगी। मन्नापर भी गिरमन हो गया और इस प्रकार पारम्परिक काम की नीव पड़ी। मुमन के घर के मन्ना भी नी नाम की एक वेदया रहती थी, जो वेदया होती

हुई भी नमी ने समाहत थी और मुमन सम्मानित घर की होती हुई भी धनम्मानित थी। इस प्रतिक्रिया ने मुमन को भनसा माधवी के सिंहासन से वासना के गर्त में धकेल दिया। गजाघर मुजरा में जाने लगा था, मुमन भी मन बहाने नौली के पास बैठने लगी। एक दिन एक बाग में बैठने पर चौकीदार ने धरने को धनमानित और दो वेदपाशों को सम्मानित देखकर वह चौकीदार से झगड़ रही थी कि इसी समय मुमन के ही मोहल्लेदार वकील पद्मसिंह और उनकी पत्नी मुमन की बग्यी भाकर वहाँ रकी। वे झगड़े की समाप्त कर मुमन को धरने साथ ले धाये। मुमन मुमन के यहाँ धाने-जाने लगी। गजाघर को यह बात और भी दुरी लगी। एक दिन वकील साहब ने म्युनिसिपल कमेट्री के चुनाव में विजयी होने पर मुजरा किया, मुमन भी वहाँ गई और रात के दो बजे आई। गजाघर जला बटा था, उसने मुमन को घर में निकाल दिया। मुमन मुमन के यहाँ चली गई परन्तु जब पद्मसिंह के विरोधियों ने उँगलियाँ उठानी प्रारम्भ कीं तो वकील साहब ने भी उसे जवाब दे दिया। सब धोर से धनहान हो वह नौली के धाधन में चली गई। गजाघर विरक्त होकर संन्यासी हो गया और धनना नाम गजानन्द रख लिया।

पद्मसिंह के बड़े भाई मदनसिंह का पुत्र मदन धरने चाचा के यहाँ रहता था, वह मुमन के यहाँ धाने-जाने लगा और पुत्र रूप में धनेक उरहार ले जाने लगा। परन्तु मुमन ने मुमन में यह बात न कही। समाज-मुधारक विद्वत्तदान ने पद्मसिंह की महापत्नी ने मुमन का उद्धार करना चाहा, वे उसके मित्रे और ममन्त्र-बुनाकर धरने विषवाधम में ले धाये।

उधर पद्मसिंह सपरिवार गाँव में भाई के पास चले गये और सदन का नाता एक स्थान पर पक्का कर दिया। लडकी थी मुमन की बहिन शान्ता। जब बरात वहाँ पहुँची तो यह बात पता चली, सदन के निजा ने नाता धस्वीकृत कर दिया और बरात लौटा लाए। पद्मसिंह की एक न चली।

शृष्णचन्द्र जैन ने लौट धाए थे, धर से बरात के लौट जाने पर वे ग्तानि से गगा में डूब मरे। शान्ता—निस्महाय शान्ता—ने सदन की मन से धरना धर चुन लिया और पद्मसिंह को एक पत्र इस धागय का डाना। पद्मसिंह ने भाई को समनाया परन्तु वह राजी न हुए। धन में उन्हींने शान्ता की बुनाकर मुमन के साथ विषवाधम में ही रख दिया। कुछ सोच पहले से ही मुमन के विषवाधम में धाने में धाशय कर रहे थे, धब उनका विरोध और भी उध हो गया।

मुमन दुरी रहने लगी, गजानन्द से उसकी भेंट भी हुई परन्तु वह उसे

अपनाने पर उद्यत न हुआ। साथ ही वह एक वेदना ले गया, जिसके फलस्वरूप उमने सेवा में मन लगाया। उधर सदन मल्लाही करने लगा था और एक कुटिया में रहना था। विरोध बढ़ता हुआ देखकर गुमन शान्ता को लेकर विधवाश्रम से निकल पड़ी परन्तु गंगा-किशारे सदन से साधारणकार हो गया। सदन ने शान्ता को पत्नी रूप में ग्रहण कर लिया और गुमन को भी वही कुटिया में स्थान दिया। पदमसिंह ने सदन का विवाह शान्ता से कर दिया। कुछ दिन पश्चात् सदन शान्ता से ऊबने लगा, शान्ता को गुमन पर सन्देह हुआ परन्तु शान्ता गर्भवती थी अतः गुमन ने गृह-त्याग नहीं किया। बानक होने पर सदन और पदमसिंह का प्रेम हो गया तो गुमन त्रुपके में धामिहत्या के लिए निकल पड़ी। मार्ग में गजानन्द ने उमकी भेंट हुई, उसने इसे सेवा करने का उपदेश दिया। गजानन्द ने वेम्पा-कन्याशो के उद्धारार्थ एक अनायालय खोल रक्खा था, गुमन को उमकी सप्यथा बना दिया। गुमन ने अपने पाप का प्रायश्चित्त करने का यह उचित विधान समझा और उसे स्वीकार कर लिया। इस अनायालय का नाम था 'सेवामदन'।

समीक्षा—सेवामदन एक समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है। इसमें ईमानदारी से रहने वाले पुरुषों की दुर्दशाओं, महन्तों की कुचेष्टाओं एवं भनाचारों, वेदव्यवृत्ति के मूल कारणों एवं समाज में प्रतिष्ठित दम्बियों के विचित्र रण-विरते रूपों पर प्रकाश डाला गया है।

कृष्णचन्द्र एक ईमानदार व्यक्ति थे परन्तु अपनी पुत्री के विवाह के समय वे अपने को निर्धन पाते हैं और धूम ले बैठते हैं, जिसके परिणामस्वरूप जेब जाते हैं। धूम लेना बुरा है परन्तु रिवाज भी भारतीय समाज में पर्याप्त घन बिना नहीं हो सकता, इसी का परिणाम कृष्णचन्द्र की भ्रुणतना पड़ा। समाज का यह दोष स्पष्ट रूप से हमारे सामने धारा है, जिसमें पुत्री के विवाह में दहेज के लिए पिता घन विमी-न-विमी प्रचार जुटाता है।

भारतीय समाज में धर्मस्थानों के अधिपति कुछ महन्त होते हैं, जिनके चतुर्दिक कुछ फारूक, कुछ मुस्टफे, कुछ चिन्मर्षी, कुछ गेंजडी और भगडी पड़े रहते हैं और हलवा मंडे उठाने रहते हैं। ये लेन-देन भी करते हैं और धरने क्षेत्र में शागर ही होने हैं। ये मनमाना व्यवहार अपने प्रणामियों में करते हैं। गुरा और प्रमदा का भी दोर-दौरा इनके नकनों में रहना है। ये तुल्य को भी बटाते रहते हैं। बकि बिहारीलाल भी इनमें से एक है, चेतू उमगी गेंगी ही कुचेष्टाओं का शिकार होता है। इन लोगों के पनाचारों का बड़ा मनोरम और सध्यपूर्ण चित्र दग उपन्यास में खीचा गया है।

इसमें सब से बड़ी समस्या है वेदप्रावृत्ति । समाज में लड़कियों का विवाह किस प्रकार अनेक परिस्थितियों में अनुचित ढंग में हो जाता है, किस प्रकार लड़कियाँ अनमेल कुटुम्बों में जा फँसती हैं, पिता कैसे विवश होता है, पुत्री का जीवन किस प्रकार पशुप्रापेक्षी एवं अल्प-श्याश्रित हो जाता है, किस प्रकार कभी-कभी यह अनुपयुक्तता दाम्पत्य-जावन में विपत्तिका सा देती है और नारियों के विनाश एवं अध-पतन का कारण बनती है तथा इसमें धर्मध्वज किस प्रकार अपने दम्भपूर्ण कापों में सहयोग देते हैं, इन सब समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है । कृष्णचन्द्र की जैन यात्रा के पश्चात् मुमन का मामा उनका विवाह (१५) के बाबू में कर देता है और वह भी दूजिया । अच्छे घर की लड़की बना इन बाबू के साथ कैसे मनुष्य रहती । उधर वह भी पंगान, नवेली को प्राभूषित कर मनुष्य देखना चाहे पान्तु विवश । भारतीय समाज में घर की सती-साध्वी नारियों से बाग-हलनाओं का सम्मान अधिक होता रहा है । घर में घरवासी तो बहनाती है परन्तु घर तो क्या, उमका कचेवर भी उमका नहीं । वह एक दामी है, लौड़ी है और समय घाने पर वह भी नहीं और उच्छिष्ट रोटी की भाँति बाहर फेंक दी जाती है । भोनादाई का सम्मान मुमन की चञ्चलता का कारण हुआ और पुनः मुमन के यहाँ आना-जाना । दुर्बलहृदय गजाधर इसे सहन न कर सका और सम्बन्ध विच्छेद में परिणत हो गया । मुमन वेदया हो गई । किन लिए ? इसलिए कि पिता घनानाश में उचित घर में विवाह न कर सका, इसलिए कि उमका विवाह एक सम्नाशन अनुभव दुर्बलहृदय भोगभुक्त से हुआ और इसलिए कि बुद्ध धर्म के टेकेदार प्रतिष्ठित नागरिक अपनी काम-लिप्ता वग इम वृत्ति को प्रोत्साहन देने थे । अनेक कुरीतियों के साथ बैठ चिम्पननाश, पं० दीनानाथ, अधुनवता और बड़े-बड़े महत्त्व इसके लिए उत्तरदायी हैं । म्युनिनिर्दिष्टी में जब वेदया-बाजार को नगर के मध्य में हटाने का प्रयत्न आता है तो ये ही महानुभाव उमका विरोध करने हैं क्योंकि ये निःशय-प्रति बोडों पर जाते थे, मुजुरों का संबानन करने थे ।

वेदप्रावृत्ति पर प्रकाश डालते हुए प्रेमचन्द जी की आदर्शवादिता मुख्यतः दृष्टिगोचर होती है । वे इसकी नीपणना पर प्रकाश नहीं डालते, मुमन का अध-पतन भी मानसिक ही कराते हैं और वह भी बुद्ध धर्म के लिए । वे भी मुमन को पयध्रष्ट हुआ देगकर किट्टलनाथ की भाँति छपटाते में प्रतीत होते हैं और उमका उदार करने तक हम नहीं लेते ।

समाज में स्त्रियों के दो ही रूप दृष्टिगोचर होते हैं, एक तो दुर्बल्या से विवशित पयध्रष्ट हुआ और दूसरा दृढ़ चट्टान की भाँति अदृग । मुमन

प्रथम की प्रतिमूर्ति है और उसकी बहिन शान्ता द्वितीय की। वह विलासप्रियता के कारण वेदयावृत्ति तक ग्रहण कर लेती है और वह बरात के लौट जाने पर भी सदन को मनसा घर लेती है। एक भवन्ता की मूर्ति है तो दूसरी सबलता की प्रतिमा।

इस उपन्यास के प्रधान कथानक में शान्ता-सदन का प्रसङ्ग भादर्श उपस्थित करने के लिए रखा गया है। प्रेमचन्द ने दोनों कथानकों को तराजू पर रखना है और सुरता दिललाई है अतएव अन्त में वे सुमन को पथ पर लगाकर 'भेदासदन' की अल्पज्ञा बना देते हैं। इसके लिए वे एक दुर्बल हृदय गजापर को सन्यासी गजानन्द बना कर इतना दृढ़ बनाते हैं कि सुमन से मिल कर भी वह घाट्रं नहीं होता वरन् उसका उद्धार करता है और यह भी सेवा-पथ पर लगा कर।

प्रेमचन्द भादर्शवादी रहे हैं अतः वे अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण उसी दृष्टि से करते हैं। कृष्णचन्द्र एक घादर्श की मूर्ति थे, वे बड़े गम्भीर, विचारशील और अच्यवृत्त व्यक्ति थे परन्तु जेन होने पर वे दम भी लगाने लगे थे। और यासनापूर्ण विचार भी करने लगे थे—उनमें मनुष्य पनु हो गया था। पुनः वे ही कृष्णचन्द्र छोटी पुत्री शान्ता की बरात पर मे लौट जाने पर और उममें सुमन की वेदयावृत्ति ही मुख्य कारण होने पर पूणा और लज्जा-वशा गङ्गा में डूब मरते हैं।

सुमन का अच्य एव वामनापूर्ण मन उमें पतिव्रता करा देता है परन्तु फिर भी प्रेमचन्द उमें चरमसीमा तक नहीं गिराते। सदन के द्वारा उपहारीदृष्ट बंगन को यह सुभद्रा को लौटा देनी है, मिनने वाले व्यक्तियों को यह दोगी समझनी है और अपने को नागोरिक रूप से गिरने नहीं देनी। यह प्रेमचन्द की ही गहानुभूति का परिणाम है। पुनः उमें विषवाश्रम में भेजे देने हैं और सत्यदान उस ऊँचा उठाते हुए सेवा-सदन की अल्पज्ञा बना देने हैं। जिस वेदयावृत्ति का उन्होंने चित्रण किया है, उसकी भीषणता हम नहीं देन पाते और न सुमन का पतन ही इतनी मात्रा तक होना है कि हमारा हृदय उम पथे से विरक्त हो जाय। हाँ, हम वृत्ति के महायक व्यक्तियों का चित्रण अल्पज्ञा हूमा है। गजापर एक दुर्बल व्यक्ति है परन्तु सुमन के वेदया हो जाने पर उसका गंयामी हो जाना एक गमस्या है। ऐसी अवस्था में विरक्त हो जाना महज है परन्तु गजापर के विषय में, उम गजापर के विषय में जो स्वयं मुज्रों में जात्रा रदिन होना विचित्र पटा है। और अन्त में बहो सुमन को मानै है। गम्भवन. सेमक मही बहना चाहता है कि पति स्त्री का गर्वस्व

है, उसी की दो भाँखें अपनी सहचरी को डूबता देख कर सजब हाँ जाती है और फिर उसी की दोनों बाहुएँ उसका उद्धार करती हैं।

पद्मसिंह एक भीम मुघारक है। मुमन को आश्रय तो देने हैं परन्तु जब रँगली उठती है तो जवाब दे देते हैं। पुनः बँग्या हो जाने पर उसका उद्धार भी करते हैं। भतोत्रे की बरात लौटने पर भाई को समझते हैं परन्तु बरात की रोक नहीं मक्ते। इस पर भी हैं वे एक सुचरित्र, धर्मशील व्यक्ति। मुमन के उद्धार में उनका अधिक हाथ है। सदन से शान्ता का विवाह भी वे ही कराते हैं।

विट्ठलदास एक हड़ मन्त्रे मुघारक है। परन्तु राजनीति उन्हें भी निम्नस्तर पर ला देती है। पद्मसिंह के घर में मुमन का रहना उन्हें ही भ्रमरा था, कुप्रचार भी उन्होंने किया था परन्तु मुमन के पति हो जाने पर वे अपने को दोषी टहराते हैं और पद्मसिंह के साथ उसका उद्धार करते हैं। अपने ही विधवाश्रम में उन्होंने उसको स्थान दिया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द के सभी पात्र आदर्श की ओर मुड़े हैं। कृष्णचन्द्र एवं विट्ठलदास का चरित्र-चित्रण इसमें स्वभाविक हुआ है। इस उपन्यास में मनोवैज्ञानिक विस्लेषण उनना नहीं है जितना सामाजिक चित्रण। प्रेमचन्द जी ने समाज में जैसा देखा, उसका बँसा ही चित्रण करने का प्रयत्न किया।

यह इनको स्थाति दिलाने वाला सर्वप्रथम उपन्यास था। माया और भाव की दृष्टि में भी श्रेष्ठ है। वेद्यालयों में उर्दू-प्रेमियों में उर्दू का सम्नायुक्त बड़ा रोचक हुआ है। शैली तो प्रेमचन्द जी की अपनी है ही—प्रसादकुण्डली।

धन में इतना भ्रष्ट रहना पड़ता है कि इसका उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। समस्या का सुलभत्व न होने से वह ज्यों-की-दरों उनसी हुई है। समाज में एक-दो वेदार्थों को आश्रमों में भेज देने में ही यह प्रश्न हल नहीं हो जाता। उपन्यास में हम इसका कोई समुचित समाधान नहीं देखते।

प्रेमाश्रम

संक्षिप्त कथा—जनगुरु ग्राम में ज्ञानगुरु एवं प्रभाकर की जमीन-दारी थी। प्रभाकर ज्ञानगुरु के चाचा थे, वे ही सब कृष्ण करते थे। ज्ञानगुरु के भाई प्रेमगुरु घर में खने गए थे धन: उनकी पत्नी थड़ा बड़े दुःख से किन्तु शान्त जीवन बिताती थी। प्रभाकर के तीन पुत्र थे जिनमें सब से बड़ा दयागुरु पुतिश-दुःखेकर था। ज्ञानगुरु की स्त्री विद्यावती पति के

प्रतिकूल धार्मिक विचार की थी। इनके दो सन्तान थी—एक पुत्र और एक पुत्री।

ज्ञानशंकर एक स्वार्थी व्यक्ति था, यह किसानों को सताता था, चाचा से जसता था, और भाई का हिस्सा भी वेना चाहता तथा समुराल को जमीन भी हथियाना चाहता था। इसमें वह पुलिस और कारिन्दा की पूरी महायता सेता था।

एक बार जमींदार के भाई के यहाँ बरसी थी, किसानों से भी माँग गया परन्तु किसान मनोहर ने देना स्वीकार न किया। उसका पुत्र बलराज भी बहुत विगडा। मिर्सा कादिर ने मनोहर को र्थी बिलासी को भी लेकर कारिन्दा गोमर्दा के पास भेजा परन्तु वह अत्यन्त अग्रमत्त था अतः उसने भी न लिया बरन् ज्ञानशंकर ने मनोहर और बलराज को उद्ण्डता के विषय में कहा। जब कादिर मनोहर को ज्ञानशंकर के पास ले गया तो उसने भी अग्रमान किया। मनोहर चला आया। अब कारिन्दा का अत्याचार अत्यधिक बढ़ गया।

बुद्ध समय परवान् डिप्टी ज्वालामिह गाँव में भाते हैं, उनके लिए बेतार माँगी जाती है। इस समय भी बलराज पकड़ जाता है परन्तु जब डिप्टी साहब के समक्ष लाया जाता है तो डिप्टी साहब स्वयं सज्जित होते हैं और बेगार बन्द कर देते हैं। इससे चणामी और कारिन्दा और भी जल जाने हैं। गाँव में एक बारदात हो जाती है, जिसमें श्पाशंकर छानबीन करने हैं और बलराज पकड़ा जाता है। गाँव वाले उसके विरुद्ध साधो नहीं देने, गोमर्दा उन्हें घूस देता है परन्तु कादिर के समझाने-बुझाने में वे ऐसा नहीं करते अतः बलराज छूट जाता है। अब गोमर्दा जलकर ज्ञानशंकर को भटकाना है और डिप्टी ज्वालामिह से मिलकर किसानों पर सगान में द्रुआपा करना चाहता है परन्तु अर्थात् में वे जीत जाते हैं। इसमें प्रेमशंकर भी सहायक होते हैं, जो अमरीका ने गहना धा जाते हैं और ज्ञानशंकर के इन व्यवहारों से अमन्तुष्ट होने हैं। क्योंकि वे एक नये विचार के कर्मठ व्यक्ति थे। ज्ञानशंकर प्रेमशंकर और ज्वालामिह दोनों ने जल जाना है। गोमर्दा र्थियों में जमींदार के तात्वाव का पानी बन्द कर देना है, जिनसे पशु प्यासे मरने लगते हैं। पुनः किसान आया करने हैं और जीन जाने हैं।

एक बार महामोमदार साहब सतनपुर पधारें। बडा अमला माप था। बेगार बट्टन हुई और जिनसे भी नून-ब (धानाबाबी) की उगी को मास-नीटा। नमन दुभरन भी इस अत्याचार का गिराव बना। एक दिन परानाह में पशु पराती हुई मनोहर की र्थी बिलासी के पशुर्था को कारिन्दा कात्रीहोत्र भिजवा देता है और किसानों को पकड़ा देकर गिरा देता है। मनोहर और बलराज

को जब यह ज्ञात होता है तो वे एक रात को गोंपनी की हत्या कर देते हैं। सारा गाँव पकड़ा जाता है तो मनोहर अचरित स्वीकृत कर नेता है। जेल में मनोहर आत्म-हत्या कर लेता है परन्तु मुकद्दमा चलने पर प्रेमगकर के प्रयत्न से सब छूट जाते हैं।

ज्ञानगकर प्रनागकर से बँटवारा चाहते थे अतः उनमें जलता है। एक बार दयागकर जब धूसखोरी में पकड़ा जाता है तो ज्ञानगकर को बड़ी प्रसन्नता होती है और अपने मित्र ज्वानामिह ने उसे दण्ड दिलवाना चाहता है परन्तु वह बरी हो जाता है। इससे कुटकर बर प्रनागकर से बँटवारा करा लेता है।

एक दिन ज्ञानगकर को तार मिला कि उसका नामा मर गया है। वह समुरात गया परन्तु ऊपरी थोक प्रकट करने के साथ-साथ वह प्रसन्न भी हुआ कि अब स्वमुर के कोई पुत्र न होने से उनकी जमींदारी उसे मिल जायगी। वहीं उनकी छोटी साली गायत्री रहती थी, जो विधवा थी और जिसकी गोरखपुर में बड़ी जमींदारी थी। वह एक धार्मिक विचार की स्त्री थी। इनसे यह माँचकर कि यदि यह मेरे से प्रेम करने लगे तो इनके पुत्र मायागकर को मैं गोद लेकर इसकी सारी जमींदारी अपने नाम कर लूँगा, उसे अपने प्रेम-जान में पँना लिया। जब इसकी पत्नी विद्या को पता चला तो उनसे आत्म-हत्या कर ली, उधर गायत्री को भी अपनी मूल प्रतीत हुई और आत्मगानि-वग जमींदारी को मायागकर के नाम कराकर आत्म-हत्या करली।

इसके कुछ समय पदचातु ज्ञानगकर को पता चला कि उनका स्वमुर दूसरा विवाह करना चाहता है तो बहुत छटपटाया क्योंकि फिर उनकी जमींदारी नहीं मिलेगी। किन्तु जब उन्होंने स्मृत कर दिया कि वे दूसरे विवाह की इच्छा नहीं रखते तो इसे चैन पढा परन्तु कटि को मार्ग से हटाने के लिए इनसे उन्हें विप दे दिया जिसे वे योगसक्ति में पचा गये।

प्रेमगकर किनारों की दुर्दशा को देखकर अच्युत दुखी हुए और उन्होंने जन-सेवा के लिए प्रेमाश्रम खोला। मायागकर भी इसमें सम्मिलित हो गया। ज्ञानगकर इन बातों से बड़ा प्रभावित हुआ और लज्जा एवं ग्वानि-वग गंगा में डूब मरा।

ज्वानामिह भी नौकरी छोड़कर प्रेमाश्रम में आ गए। इन सबने सप्त-पुर को एक धार्मिक गाँव बना दिया, जिसमें प्रत्येक कृषक के पास एक-एक अच्छा घर था और बानसों के लिए मूँन तथा जतना के लिए एक पुष्पवाचन भी था।

समीक्षा—प्रेमाश्रम का रचनाकाल सन् १९२२ है। सेवानुन में प्रेम-चन्द ने सामाजिक समस्याएँ सी थीं, इससे हम उन्हें एक नवीन मार्ग प्रहृण

करता हुआ देखते हैं। यह राजनैतिक उपन्यास है। देश में जन-जागृति का आन्दोलन प्रथम महायुद्ध से पूर्व ही चल रहा था। सबसे अधिक पीड़ित कृषक और श्रमिक ही थे। महात्मा गांधी ने इन्हीं लोगों की दुरवस्था को देखकर फकीरी रूप धारण कर लिया था और इन्हीं के लिए वे भारत में स्वतन्त्रता चाहते थे। महायुद्ध से पूर्व सरकार ने आवासन दिया था कि युद्ध के पश्चात् स्वतन्त्रता देने की ओर प्रथम पग बढ़ाया जायगा परन्तु युद्ध की समाप्ति पर इसके विपरीत आत्याचार प्रारम्भ हुआ, जलियाँ वाले बाग का नारकीय काण्ड हुआ। महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आन्दोलन चलाने के लिए स्थान-स्थान पर जाकर भाषण देने प्रारम्भ किए। वे १९२० ई० में गोरखपुर गए और एक भाषण दिया, जिससे प्रभावित हो प्रेमचन्द ने भी नौकरी छोड़ दी और जन-सेवा में लगे।

प्रेमचन्द गाँव-निवासी थे अतः वे नित्यप्रति मरकारी भ्रमणों के निरीक्षितानों एवं मजदूरों पर आत्याचार देखते थे। प्रथम केन्द्र थे जमींदार। जमींदार लगान वसूल करते थे, जमा चाहते थे आत्याचार करते थे और विरोध होने पर भ्रमणों की सहायता लेकर उन्हें दण्ड दिववाने थे। जमींदार और साहूकारों के कारिन्दे एवं गुमास्ते उन्हें बड़ा बटु देने थे। मरकारी बमंचारी बेगार लेते थे, बिना कुछ दिए माल खाते थे और घौस दिवते थे। बिचारा क्रिमान कर क्या सकता था, अपनी खून-गमीने की गाड़ी कमाई को मूकभाव से देने के प्रतिरिक्त और क्या कर सकता था। सर उठाना तो कुचल दिया जाता था। जमींदार और भ्रमणों से लटकर बनना नदी में रहकर मगर से बैर करना था। उनकी सही फसलें बटवा ली जाती थी, मवेशी बलान् हाँक ली जाती थी और पदों तक की स्त्रियों या भ्रमण भी कर दिया जाता था। यदि कमी कोई माहमी पुण्य जान पर खेनकर सामना करना था तो सारे गाँव की ही भावन था जानी थी।

प्रेमचन्द जी इन सम्पूर्ण आनावरण से परिचित थे। उपर रुम में विमानों की सफ़र कान्ति हुई थी, जिसमें क्रिमान और मजदूर विजयी हुए थे। प्रेमचन्द जी ने यह भी गुला और गुना था। इन सब कारणों से उनमें इन आत्याचार के विकृत प्रतिश्रिया का होना स्वाभाविक था। अतः जिन प्रेमचन्द ने एतः वर्यं पूर्व मेवागदन में नारी-विवाह, प्रेम, व्यभिचार, येश्यावृत्ति आदि विषयों को लेकर गमात्र का बुलियन रूप हमारे गमना रचना था, उन्होंने ने अब बोट खाकर गमात्र को छोड़ राजनैतिक क्षेत्र में चैर रचना और बहा बटु धनुनन किया, जिससे परिणामस्वरूप यह उपन्यास लिखा गया। अर्थात् मेवागदन में भी

ये श्रत्याचार दृष्टिगोचर होते हैं परन्तु वहाँ लेखक का ध्येय राजनैतिक घटनाओं को चित्रित करना नहीं ।

इस उपन्यास में ज्ञानशंकर द्वारा एक स्वार्थी, प्रथंलोलुप एव कामी जमींदार का चरित्र चित्रित हुआ है, जो लोभ से ग्रन्था हुआ चाचा से भी भगडता है, भाई को भी हानि पहुँचाता है, स्वमुर की विय देता है, माली को भ्रष्ट करता है, भ्रफसरो को धूस देता है और काम न बनने पर उनसे भी चिड जाता है और किसानों को तो बूटता और चूमता ही रहता है । इन जमींदार और साहूकारों के कारिन्दे कैमे होते हैं तथा उनके साथ कैमे गुण्डे रहते हैं यह बात गीसराँ और सुवलू चौधरी के चरित्र से ज्ञात होती है । पटवारी भी एक जोख है जो किसान का खून चूमता रहता है, मौजीलाल उमी का प्रतीक है ।

प्रभाशंकर के चरित्र से एक प्राचीन एव धर्मभीह व्यक्ति का चित्रण हुआ है, जो ज्ञानशंकर जैसे नये युवक की कुचेष्टाओं से सम्मिलित परिवार की भित्ति में दरैर नहीं माने देना चाहता ।

प्रेमशंकर—धमरीरू में शिक्षाप्राप्त प्रेमशंकर—नवीनता के पक्षपाती हैं और प्राचीन रूढ़ियों के विरोधी हैं । प्रथंलोलुप नहीं अतः भाई की दुर्भागना को जानकर वे किसानों की सहायता में दत्तचित्त हो जाते हैं । इन्हीं के अथक प्रयत्न से जमींदार एव भ्रफसरो के सभी कुचक विफल हुए हैं और अन्त में लखनपुर एक आदर्श गाँव बन जाता है । प्रेमाश्रम की स्थापना और मायाशंकर को भी सन्मार्ग दिखाना तथा डिप्टी ज्वालासिंह का अपनी और भ्राष्ट्र करना उन्हीं के अथक और उदार प्रयत्न का परिणाम है । मायाशंकर भी एक माधु युवक है—स्वायंहीन और जनसेवक । वास्तव में ये ही दो व्यक्ति लेखक के आदर्श के प्रतीक हैं ।

मनोहर और बलराज अन्वय के विरुद्ध उठती हुई भावना से पूर्ण विमानों के प्रतिनिधि हैं । दोनों में अन्तर बुद्ध नहीं, केवल आयु ही उनके स्वभाव में अन्तर का कारण है । मनोहर भी उग्र है परन्तु बुद्ध मोचता है, बलराज उग्र भी है और व्यग्र भी ।

इस उपन्यास में जमींदार, कारिन्दो, भ्रफसरो आदि के दाव-पेंच, हथ-कण्डे एव कुचेष्टाओं का वास्तविक चित्र खींचा गया है और इसी प्रकार विमानों की दुर्देशा, पारस्परिक बलह-विग्रह एवं कष्टों का चित्रण हुआ है । प्राचीण-जीवन का चित्रण इसमें बड़ा ही स्वाभाविक है ।

इसमें स्पष्ट ही ज्ञानशंकर और प्रेमशंकर मनुष्य के जनसः अभव्य और भव्य रूप का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं । ज्ञानशंकर लखनपुर के उजाड़ने में

कारण होता है और प्रेमशरकर उसका पुनर्निर्माण करने में और वह भी आदर्श रूप में। अन्त में प्रेमाश्रम की स्थापना और ज्ञानशरकर का आत्महत्या कर लेना प्रेमचन्द जी की आदर्शवादिता को दिखलाते हैं जो उपन्यास में छाई हुई है। गायत्री का भूल को पहचानना और ग्लानिवश आत्महत्या कर लेना भी तो इसी का फल है।

कथा का मूल ही इतना है कि जमींदार और भ्रफसर ग्राम एव ग्रामीण का विनाश कर उसे ध्वमावदीप रूप में ला देते हैं जो प्रभुवित है अतः ग्राम का निर्माण आदर्श रूप में होना चाहिए और किमान को भी सुखी जीवन बिताने का अधिकार होना चाहिए। ध्वस के पदचाल सखनपुर का निर्माण इसी भावना का चित्रण है।

इसमें किमानो की भाषा में महज गरलता प्रेक्षणीय है।

निर्मला

संक्षिप्त कथा—बाबू उदयमानुमिह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं परन्तु दुर्भाग्य वश इस समय लक्ष्मी उनमें रूढ़ हो गई है। उनके परिवार में पाँच प्राणी और दो—एक स्त्री कन्यागा, दो पुत्र चन्द्रमानु और सूर्यमानु एव दो पुत्रियाँ कृष्णा और निर्मला। निर्मला जीवन को प्राप्त हो चुकी है अतः वे इसका विवाह बाबू मिन्हा के बड़े लड़के डा० मिन्हा के साथ टहराते हैं परन्तु २० हजार का दहेज वहाँ से प्राये अतः व्यय कम करने के लिए पत्नी से बान-बान पर झगडा करते हैं। एक रात पर से निकलने का सत्कार कर जो ही पत्नी में प्राते हैं कि डा० मतई उन्हें मार डालता है।

कन्यागो छानी पीटकर रह जाती है। उदयमानु के मर जाने से मिन्हा साहब विवाह का प्रस्ताव प्रस्तीकृत कर देने हैं। तब पुनः मोटेराम शास्त्री के प्रयत्न में निर्मला का विवाह एक अर्धेड बकील तोनाराम से हो जाता है, जिनके ममाराम, निषाराम और जियाराम तीन पुत्र हैं। ममाराम की प्रवस्था निर्मला के बराबर ही है अतः यह बकील साहब से मुल नहीं पाती। वे भी मकोच में रहते हैं। निर्मला ममाराम से पडने पगी। एक दिन उनमें शृणार निषा और दंगल में मुल देगा कि उगी समय तोनाराम घागए। वे अपने और उनके अन्तर को देख बट्टा लज्जित हुए। साथ ही यह जानकर कि ममाराम ने यह पत्नी है, वे सन्देह-परत हो गए और ममाराम को भिड़क बैठे। यह सन्देह बट्टा ही गया और निर्मला एव ममाराम भी इसे साह गये। अन्त में ममाराम को बोरिंग में भर्ती करा दिया परन्तु वहाँ ५-६ दिन में ही वह बीमार

हो गया। जब समाचार मिला तो उसे घर न लाकर अस्पताल ले गये जहाँ वह मर गया। तोताराम की एक विधवा बहिन रविमणी भी यही रहती थी, वह घर की मालकिन थी, वही खर्च चलाती और बात-बात में लड़कों का पसा लेती थी।

सियाराम और जियाराम पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। सियाराम तो नहीं बोलता परन्तु जियाराम माँ-बाप से लड़ता और उन्हें हुत्पारा कहता। एक दिन उसने माँ के गहने चुरा लिए, बात पुलिस में गई और घर से १०००) देकर जान बची। अन्त में जियाराम ने विप खा लिया। निर्मला का मन खिन्न और कठोर हो चला। वह पैसे-पैसे पर जान देने लगी, रविमणी से भी भगडा रहने लगा। एक पदार्थ को मँगवा कर पुनः बाज़ार भेजती। सियाराम बड़ा दुखी रहने लगा और एक दिन एक साधु के साथ निकल गया। तोताराम भी सियाराम को ढूँढने निकल गये।

दुखिया निर्मला अपनी एकमात्र कन्या के साथ रह गई। रविमणी को अब उस पर दया भाने लगी।

उधर डा० सिन्हा का विवाह सुधा से हो गया था। परन्तु जब उन्हें उदयभानुसिंह के घराने की दुर्दशा का पता चला तो उन्होंने निर्मला की बहिन कृष्णा का विवाह अपने छोटे भाई से कर दिया। निर्मला को यह शीघ्र ही ज्ञात हो गया। भेद खुलने पर वह सुधा के यहाँ भाने-जाने लगी। एक दिन पुराने सगाई-सम्बन्ध का सहारा लेकर डा० साहब ने निर्मला के समक्ष पृणित प्रस्ताव रक्खा परन्तु जब सुधा ने उन्हें बहुत फटकारा और सज्जित किया तो उन्होंने विप खा लिया।

निर्मला कष्ट से जीवन बिताने लगी। एक दिन उसे ज्वर भाया, जिसने विषम रूप धारण कर लिया और उसके प्राणों के साथ ही गया। दाह-क्रिया करने के समय तोताराम भी हारे पथिक की भाँति कहीं से छा गये।

समीक्षा—सेवासदन की भाँति निर्मला भी एक समस्यामूलक सामाजिक उपन्यास है। इसमें भी समाज में दहेज-प्रथा एवं धनमेल विवाह की कुप्रथाओं के कुपरिणाम दिखाये गये हैं। दहेज न चुटने पर पति-पत्नी में कलह होता स्वाभाविक है, उनमें से किसी का आत्महत्या कर लेना और लड़की का धनमेल घर से बियाहा जाना भी स्वाभाविक है। पुनः धनमेल दूजिया घर से प्रवृत्ति का न मिलना, संकोच रहना, सन्देह का उत्पन्न होना, कलह का बढ़ना, आत्म-हत्या करना, घर त्यागना आदि भी इसके सङ्घर्ष परिणाम हैं। लेखक ने यह सब कुछ इसमें दिखाया है। परन्तु उदयभानुसिंह, मंसाराम, जियाराम, डा०

मिन्हा और निर्मला इन तीन परिवार के प्राणियों को मृत्यु कराना उचित प्रतीत नहीं होता। उदयमानु की आत्महत्या और मंसाराम की मृत्यु तो समझ में आती है क्योंकि एक में एहेज का भार और दूसरे में ज्वर की विपत्ता कारण है परन्तु शेष तीन का निधन करा देना उचित प्रतीत नहीं होता। यदि ये जीवित रहते तो उपन्यास में और जान पड़ जाती और पाठक पढ़कर सर पोट कर रोता सा न रह जाता। तियाराम का साधु के साथ चला जाना भी उचित है क्योंकि विमाता का व्यवहार मूलतः ही सन्देश-जनक होता है।

यह उपन्यास छोटा भवश्य है परन्तु उपर्युक्त समस्याएँ बड़े गुरुगृह एवं रोचक रूप में रखी गई हैं। कथावस्तु में प्रासंगिकता कम है, पात्रों की भी भरमार नहीं है। प्रेमचन्द्र भारतीय नारी का चित्रण करने में सिद्धहस्त हैं। इसमें अधिक हत्याएँ खलती हैं। भाषा अत्यन्त सरल है।

रंगभूमि

संक्षिप्त कथा—बनारस के समीप पाडेपुर ग्राम में मूरदास नाम का धन्या भिक्षुक रहता था। उसकी कुछ भूमि थी जो उसे पैतृक रूप में मिली थी और जिसमें गाँव के पशु चरा करते थे। एक ईसाई पूँजीपति जान सेवक वहाँ मिगरेटो का कारखाना खोलना चाहता था भत. मूरदास से वह उस भूमि को ऊँचे दाम देकर भी मोल लेना चाहता है परन्तु मूरदास नहीं बेचता क्योंकि फिर पशु न चर सकेंगे और व्यवसाय भी फँसेगा। जानसेवक की लड़की सोनिया उच्च विचार की रमणी थी, वह मूरदास से महमत हो जाती है, जिससे चिढ़कर उसकी माँ धर्म-कलह करके उसे घर से निकाल देती है।

सोनिया मार्ग में एक भक्तिकाण्ड में फँसे हुए सेवा-भक्ति के मुख्य व्यक्ति विनय की रक्षार्थ जाती है और उसे बचाकर स्वयं मूर्च्छित हो जाती है। विनय कुँवर भरतसिंह का पुत्र था। उसका भाने पर वह अपने को उनके भयन में पाती है और विनय का आभार मान कर उनसे प्रेम करने लगती है।

जानसेवक की जख्म जान होता है तो वह सोनिया को देताने जाता है और वहाँ पशुवा से भरतसिंह को पचास हजार के दायरे में बेच देता है। भरतसिंह की सहायता से वह उनके दायरे में महेन्द्रसिंह से, जो चारों के राजा और वहाँ की मुनिनिर्षेवितरी के अध्यक्ष है, सेन बड़ा लेता है और धीमे धीमे मूरदास को भूमि बेचने के लिए विवश कराना चाहता है परन्तु मूरदास महेन्द्रसिंह को भी एक नहीं गुनगा।

विनय की माँ आज़ादी को जब यह जान होता है कि उसका पुत्र सोनिया

से प्रेम करता है वह उसे मेवा-कार्य के लिए उदयपुर भेज देती है परन्तु वह सोफिया को नहीं भूलना और वहाँ से सोफिया के माई प्रमुखवक के हाथों एक प्रेम-पत्र सोफिया के लिए भेजता है। सोफिया उस पत्र को यह सोचकर कि उसे देखकर जाह्नवी को दया आ जायगी, उसे दिवाती है परन्तु जाह्नवी उसके विपरीत सोफिया से बलात् यह उत्तर दिना देती है कि मैं तुम्हारी बहिन के समान हूँ।

उसी समय बलाक नामक अप्रेज पोलिटीकल एजेंट होकर आता है। वह अविवाहित है। श्रीमती जानसेवक यह सोचकर कि सोफिया का विवाह इससे कर देंगे, सोफिया को घर निवा लाती है।

विनयसिंह एक दिन मेवा कार्य करने के पश्चात् एक गाँव से जमवन्तनगर लौट रहा था कि महमा उसे वीरपालसिंह मार्ग में मिलता है, जिसे राजा ने डाकू घोषित किया हुआ है परन्तु वह डाकू नहीं है वरन् राजा के अत्याचारों के विरुद्ध जनता का रक्षक है। विनय से उसकी बातचीत होती है, जिसका भेद खुद जाता है और विनय को बाराणस भेज दिया जाता है। वीरपालसिंह उसे मुक्त कराने जाता है तो वह स्पष्ट मना कर देता है।

सोफिया को विनय की सजा का पता लग जाता है। पहले तो वह यह जानकर कि बलाक सूरदास की भूमि विक्राने में सहायक हो रहा है, उसने प्रेम का स्वयं रचती है और उसकी आज्ञा को रद्द करवा देती है। पुनः उसका विनय की मुक्ति-सम्बन्धी आज्ञापत्र लेकर वह विनय के पास पहुँचती है। विनय यह जानकर प्रसन्न होता है कि सोफिया उसे भी प्यार करती है परन्तु जेल से जाने के लिए उद्यत नहीं होता। महेंद्रसिंह को बलाक की बातें बड़ी अपमानजनक प्रतीत होती हैं, और वह प्रयत्न करके उसकी बदली करा देता है। परन्तु वह कुछ समय पश्चात् पुनः वहीं आ जाता है।

विनय को जेल से किसी प्रकार जाने के लिए इच्छुक न जानकर नरतसिंह उसके पास पण्डा नायकराम को एक पत्र देकर भेजते हैं, जिसमें उसकी माँ जाह्नवी को अत्यधिक बीमार लिखा गया है। पत्र पढ़कर विनय जेल से भाग निकलता है परन्तु मार्ग में वह एक कण्ड देखा है। बलाक की मोटर के नीचे एक व्यक्ति कूचल गया है और वीरपालसिंह जनता को नड़का कर विरोध कर रहा है परन्तु जब सोफिया बलाक का पता लेती है तो उसे कोई देला मार देता है। इसने विनय भड़क जाता है और वीरपालसिंह पर अफसोस है परन्तु वीरपाल के साथी उसे पकड़ा देकर गिरा देते हैं और सोफिया को बलात् उठाकर ले जाते हैं। विनय अधिकारियों की दृष्टात्ता से उसे राजना

चाहता है। एक दिन बीरपाल के भादमी उसे सोफिया के पास ले जाते हैं, जिससे विनय उससे मिलकर और यह जानकर प्रसन्न होता है कि सोफिया भी ज्ञान्तिकारी हो गई है। विनय वहाँ से लौट आता है। कुछ दिनों परचाव जाह्नवी विनय के पास एक पत्र इस आशय का डालती है कि बेटा ! सरकार तुमने सृष्ट है अतः ज्ञान्तिकारियों के साथ न रहो और लौट आओ। विनय लौट कर आ रहा है, उधर सोफिया भी इस जीवन से ऊबकर उसी गाड़ी से आ रही है और दोनों का मिलन हो जाता है। दोनों पर नहीं जाते और एक स्टेशन पर उतर कर कारी चले जाते हैं।

द्वय एक दिन पंडिपुर में भैरों नामक ताड़ी बेचने वाला अपनी स्त्री सुभागी को मारता है और वह भागकर मूरदास के घर में आश्रय लेती है। मूरदास उसे बचाता है और आश्रय देता है। लोग मूरदास को बुरा-भला कहते हैं। भैरों मूरदास की भोंपड़ी जला देता है और उसके द्वारा सचिव (५००) से लेता है। सुभागी उन खयों को लौटाने जाती है परन्तु मूरदास उन्हें भैरों के पास भिजवा देता है। इससे चिड़कर भैरों सुभागी को इतना मारता है कि वह सदा के लिए मूरदास का आश्रय ले लेती है। लोग मूरदास के विरुद्ध हो जाते हैं, मुकद्दमा चलता है और मूरदास को जेल हो जाती है। पीछे से मूरदास की भूमि ही नहीं, सम्पूर्ण गाँव की ही भूमि जानसेवक के हाथ में पहुँच जाती है और कारखाना बनने लगता है। लोगों की सहानुभूति मूरदास के प्रति होने लगती है और वे उसे छुड़ा लेते हैं।

विनय और सोफिया पर आ जाते हैं। माता उन्हें धामा कर देती है परन्तु गाँव वाले ताने मारते हैं। मजदूरों को बसाने का प्रश्न उठता है अतः सम्पूर्ण गाँव को भी ले लेने का प्रस्ताव माना है और म्युनिमिपैलिटी उसे पाम कर देती है। भूमि और घर-बार को जाता देतकर गाँव वाले सत्याग्रह प्रारम्भ कर देते हैं। विनय उनका साथ देता है परन्तु तानों को सह नहीं सचता और पिस्तौल मार कर आत्महत्या कर लेता है। मूरदास भी इस सत्याग्रह में गोनी ने मारा जाता है। सोफिया विनय के विषय को न सह कर आत्महत्या कर लेती है और उधर उगकी माँ भी पागल होकर मर जाती है। विनय की मृत्यु के पदचान भरतानिह नेश का बायें छोटकर विलास में निमग्न हो जाते हैं क्योंकि उन्हें अब न ईश्वर पर विराम है और न सोच-नेवा में रचि। जानसेवक का कारगाना गृह चलने लगता है, लोग भी उसी रंग में रंग जाते हैं और वह स्थान गने-गनी, शायं और मुत्तियों का बेग हो जाता है।

समीक्षा—रंगभूमि इनका एक बृहत्काय उपन्यास है जो १००० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। 'सेवासदन' सामाजिक उपन्यास था और 'प्रेमाश्रम' राजनैतिक परन्तु इसमें सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही प्रकार की समस्याओं को खोला गया है। प्रेमचन्द ने स्वयं इसे अपनी सर्वश्रेष्ठ उपन्यास कहा है। इसमें प्रधान विषय है कि पूँजीपतियों का बड़े-बड़े उद्योग-धंधे खोलने में निरधन पुरुषों की भूमि हड़पना, उन्हें लघु वेतन देकर अधिक काम लेना, नरकारी भक्तियों से मिलकर उनके विरुद्ध विजय पाना और उन्हें दण्ड दितवाना, व्यभिचार का फैलना आदि किस प्रकार होता है।

इसके लिए लेखक ने अपने कथानक को पाठेपुर, बागी एव उदमपुर राज्यान्तर्गत जमवन्तनगर में केन्द्रित किया है। इतने बड़े उपन्यास में कथानक के निर्वहण के लिए पात्रों का अवन भी अधिक मात्रा में हुआ है परन्तु चरित्र-चित्रण बड़ा विस्तृत हुआ है।

इसमें कुछ पात्र अनेक समस्याओं को लेकर अनेक निदानों के प्रतीक हैं। मूरदास गांधीवाद का प्रतीक है, जानमेवक पूँजीवाद का, चनाक पक्का सामनाधिकारी है तो विनय एक अस्थिरमन मेवक है; जाह्नवी प्राचीन परम्परा की अनुयायिनी है तो श्रीमती जानमेवक नवीन ढंग की चुस्त-चालाक स्त्री। सोफिया एक धांसू नारी है। भरो मद्यों का प्रतिनिधि है। बुवर भरतसिंह एक धनिक जमींदार है और महेन्द्रसिंह कुचरू में निपट जमींदार। बीरपालसिंह साम्यवादी प्रतीक होता है।

इन विविध वातावरण में हमें गाँव भी देखने को मिलता है और शहर भी; मनो मे भी सम्पर्क होता है और बुरों में भी; मदाचारी भी हैं और व्यभिचारी भी; राजा-रंक, धनी-निधन, किसान-भजदूर, पूँजीपति-उद्योगपति, गांधीवादी-साम्यवादी, रजागी-स्वार्थी तथा और भी अनेक प्रकार के व्यक्ति दृष्टिपथ में आते हैं।

मूरदास इस उपन्यास में सर्वश्रेष्ठ पात्र है। वह एक स्वार्थहीन व्यक्ति है, दूसरों के लिए सर्वस्व देने को उत्थत रहता है, स्वयं भीख माँग कर खाना है और अपनी भूमि गाँव के पशुओं के लिए छोड़ी हुई है। जानमेवक भूमि मोल लेना चाहता है परन्तु वह इसलिए नहीं बेचना कि वहाँ कारखाना गुप्त जाने से अनेक सुराईयाँ फँस जायँगी। वह इस भावना के बगल गाँव का विरोध सहकर भी भैरों की स्त्री मुभागी को आश्रय देता है और यही नहीं अपने लक्षित ५००) भी उसे गौप्य देता है। वह सोभी नहीं है अतः भैरों की कुटिया पहुँचे बनगता है और स्वयं भीड़ों में रहता है। वह अत्याचार का सामना दुर्लभ भाव से करता

है, भ्रत' न उसे ग्रन्थ्या करने बाभी जनता की परवा है और न सरकार के दमन-बक्र की। मुभागी की रक्षार्थ उमे साधियों का विरोध सहना पडता है, जेल भी जाता है और भ्रत में पूंजीपतियों और भूमिपतियों से भी टकर लेता है और सत्याग्रह करता हुमा गोली का शिकार होता है। वास्तव में इम चरित्र में हम गान्धीवादी नेता के दर्शन करते हैं। परन्तु वह ग्रन्था है और भ्रत में 'में हारा' कहकर हार मान लेता है—ये दो बातें लेखक की विलक्षण गूढ का परिणाम हैं। उच्च धादसंवादी व्यक्ति को ग्रन्था चित्रित करना सम्भवतः अनुयायी के मुख से हार का शब्द निकालना विलक्षणता ही है। सम्भवतः 'सेवामदन' वा जो धादसंवादी उपन्यासकार 'प्रेमाग्रम' में धादसं और यथार्थ दोनों का धाग्रम लेकर चला है, यहाँ यथार्थवादी हो गया है और इसीलिए यथार्थ के सम्मुख धादसं की पराजय दिखाता है। मूरदास की जानसेवक से हार पूंजीवाद के समथ गान्धीवाद की हार है—यथार्थ में धादसं की पराजय है। दूसरा उल्टा चरित्र है सोफिया का। सोफिया एक श्रेष्ठ भारतीय धादसं नारी है, जो विनय में प्रेम करती है और भ्रत तक उसी को अपना समझती है। श्रीमती जानसेवक, जाह्नवी, यनाकं और भ्रत तक उसी को अपना समझती मार्ग में बाधक होते हैं परन्तु वह भ्रत में, यनाकं और भ्रत तक उसी को अपना समझती साक्षी है। इमके चरित्र में हम एनीबेगेंट के चरित्र की भ्रत देखते हैं। विनय धस्थिर स्वभाव का युवक है। वह सोफिया से प्रेम करता है परन्तु ममय भी है। बन्दी होने पर जेल जाता है और धादसंवादी धोरपान्तिह के बहने पर एनं सोफिया के प्रयत्न पर भी वह जेल में नहीं घाता है परन्तु माता की बीमारी का समाचार सुनकर बिना धाना के भाग निकलता है। धाने के विरुद्ध विद्रोह में वह सोफिया के साथ यनाकं की धोर में जनता के धारी हो जाता है। परन्तु पुन सोफिया के धान्तिधारी हो जाने पर वह भी धान्ति-लिप्त सडता है। तत्पश्चात् धाना के पत्र में वह इम मार्ग को छोड देता। धोर मार्ग में ही सोफिया ने अँट होने पर उमके साथ परदेस में प्रेम-नीता लिप्त रडा है। तदनन्तर गृह धाने पर मयाग्रह में सम्मिलित होता है पर लोगों के धाना याने पर धालमहत्या पर लेता है। इम प्रकार वह एक धि युवक दृष्टिगोचर होता है।

यनाकं धामन वा प्रतिनिधि है। उममें धयेडी धयमरों के मनी गुण धयगुण विद्यमान हैं। पुँवर धरनधिह एक बडे जमीदार है। ये सेवा करने हैं लोगों से धानुधन धान उधाने परन्तु पुन में मरने पर ये सेवा का स्वार्थ छोड

देते हैं और विनाम में लिप्त हो जाने हैं। यहाँ तक कि ईश्वर पर से भी उनका विश्वास हट जाता है। महेन्द्रसिंह जमींदारों के सच्चे प्रतिनिधि हैं। वे भत्याचारी भी हैं, बूटनीतिज्ञ भी और पद्म्यंत्र-गरक भी।

श्रीमती जानसेवक एक वैज्ञानिक युग की स्त्री है। जाह्नवी धर्मभोर प्राचीन विचार की नारी है और महेन्द्रसिंह की स्त्री इन्दु मध्यम श्रेणी की भारतीय भार्या है जो पति का साथ तो देती है परन्तु कुमार्ग पर नहीं।

वीरपालसिंह हमें कम्युनिस्ट के रूप में दीख पड़ता है। इनके प्रतिरिक्त जानसेवक के कारखाने का दारोगा ताहिरमली, उसकी स्त्री कुलजुम, डा० गंगोली तथा भैंरों घादि और भी अनेक पात्र हैं जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए अपना-अपना कार्य समाप्त कर दूर हो जाते हैं।

इसमें जमींदारी एवं पूँजीवाद के समझ जनता-जनार्दन की पराजय स्वीकार की गई है। सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक सभी प्रकार की समस्याएँ हमें इसमें अपने भीषण रूप में दितलाई देनी हैं। प्रेमचन्द का यह अनुभव कि अंग्रेजी शासन और उसके सब अंग एक दम्भ हैं जो केवल कष्ट के ही कारण हैं, अनर्थों के ही उत्पादक हैं, इसमें खुलकर चिन्तित हुआ है। परन्तु वर्तमान युग की भौतिकता को विजयो बनाकर उन्होंने यथार्थ की आदर्श पर विजय दितलाई है।

इतनी बड़ी कथा में अनेक प्रागैतिक कथाओं के होते हुए भी वहीं तार नहीं टूटा है, धरोचकना नहीं माने पाई है और लक्ष्य त्रिस्मृत नहीं हुआ है, यह अत्यधिक प्रशंसनीय है।

भारतहत्या और हत्या का ताण्डननृत्य इस उपन्यास में भी है।

कायारूप

संक्षिप्त कथा—मुशी बच्चर का पुत्र बच्चर एम० ए० है। वह नौकरी की धनशा .वा को महत्व देना है मनः प्राम-नुधार का काम करता है। माय ही जगदीशपुर के दीवान की पुत्री मनोरमा को घर पर पढ़ाने लगता है। मनोरमा उसके आदर्श से प्रभावित हो जाती है और प्रेम करने लगती है।

जगदीशपुर के राजा महेन्द्रसिंह की विधवा रानी देवप्रिया का मन विनास में विरक्त नहीं हुआ था मनः वह एक राजकुमार के साथ, जो उसे पूर्व-जन्म में अपनी पत्नी बनलाता था, खली जाती है और राज्य अपने देवर दिवांसिंह को गौण जाती है। दिवांसिंह के राज्याभिषेक का प्रबन्ध होता है, उसके लिए जनता से बलात् धन इकट्ठा किया जाता है। लोग विरोध करते

हैं तो भ्रष्टाचार होता है। चक्रधर यह सोचकर कि यह अन्याय राजा की ओर से नहीं बरन् राज-कर्मचारियों का है, राजा विशालसिंह के पास इसका समाचार देने जाता है परन्तु अपमानित होता है। जनता एक दिन क्रुद्ध होकर पुतिस पर आक्रमण कर देती है, चक्रधर अधिकारियों को रक्षा करता है परन्तु इस अपराध में कि उसी ने लोगों को भड़काया है, पकड़ा जाता है और बन्दीगृह भेज दिया जाता है।

विशालसिंह के तीन रानियाँ थी, उनमें पारस्परिक कलह रहती थी घत. वह मनोरमा की ओर आकृष्ट हुआ। मनोरमा, जो चक्रधर के समाज-सेवा के भादर्श पर मुग्ध थी, वैभव को देखकर ललचाने लगी और मनसा भ्रमने को विशालसिंह को सौंप दिया परन्तु चक्रधर के प्रति श्रद्धा में कभी न घाई। उसने अपने प्रयत्न से चक्रधर को मुक्त करा दिया। विशालसिंह ने तो उसे नहीं छोड़ा परन्तु मुकद्दमा मनोरमा के भाई गुरुप्रसाद की भद्रालय में था घत: वह उसे मुक्त कर देता है। मनोरमा के प्रयत्नो से स्वयं राज्य की ओर से उसका स्वागत होता है। पुन. दोनों समाज-सेवा में लग जाते हैं।

एक दिन यशोदानन्दन अहिल्या के लिए बर डंडने आते हैं और चक्रधर को आगरे ले जाते हैं। वहाँ चक्रधर हिन्दू-मुस्लिम दमो को रोक्ता है और यह जानकर कि अहिल्या यशोदानन्दन की औरत पुत्री नहीं बरन् पालित कन्या है जो उन्हें तीन वर्ष पूर्व प्रयाग के मेले में मिली थी, उगने विवाह करने के लिए उद्यत हो जाता है परन्तु कारणवश जेल जाता है। अहिल्या जेल में उस से मिलती है। जेल से मुक्त होने पर वह आगरे जाता है परन्तु ज्ञात होता है कि हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया था और उगमें यशोदानन्दन मारे गए एवं अहिल्या को मुसलमान ने गए। यशोदानन्दन के मित्र राजा महमूद अहिल्या की रक्षा करते हैं और वापस लौटा देते हैं। चक्रधर अहिल्या को माप ले पर आ जाना है परन्तु मा-बाप को अहिल्या के प्रति अत्यन्त रुचि गा देश इनाहाबाद घता जाता है। वहाँ उनके घतधर नाम का पुन उत्पन्न होता है।

प्रयाग में चक्रधर को मनोरमा की बीमारो का समाचार मिलता है और यह जगदीशपुर घता घता है, जहाँ कुछ ऐसे प्रमाण मिल जाते हैं जिनसे पता चलता है कि अहिल्या विशालसिंह की ही पुत्री है, जो प्रयाग के मेले में बीग वर्ष पूर्व मोई गई थी। विशालसिंह चक्रधर को जमाई की भाँति रखता है और उसे वैभव का अधिकारी बना देता है। मनोरमा को दूर और अहिल्या को वैभव-विलि जानकर यह दपर-उपर पूजना रहता है। एक दिन मार्ग में मोटर बिगड़ जाती है और एक घामीण ने उसे घने-घने के लिए बहता है परन्तु यह मना कर

देता है, जिससे क्रुद्ध होकर वह उसे इतना मारता है कि वह ग्रामोष्ण मर जाता है। पुनः प्रत्यन्त दुखी हो वह घर से निकल जाता है। शंखधर बड़ा होता है और तेरह वर्ष की अवस्था में वह माधु के वेश में पिता को ढूँढने निकलता है और भगवानदाम माधु के रूप में उसे पाता है।

चक्रधर घर चलने को उद्यत नहीं होता। शंखधर वापस आता है परन्तु मार्ग में देवप्रिया के भवतार कमला से मिलन हो जाता है और वह यह जान कर कि वह पूर्वजन्म में उसका पति था, उससे परिणय कर लेती है। दोनों जगदीशपुर आते हैं परन्तु शंखधर वासना में लिप्त नहीं होना चाहता अतः प्राण त्याग देता है। पुत्र-शोक में विशालसिंह भी आत्महत्या कर लेता है। दो-तीन दिन पश्चात् चक्रधर सहसा धा जाता है और महिल्या दुखी होकर उसके चरणों पर गिर कर प्राण दे देती है। चक्रधर पुनः विपण्य हो घर से निकल जाता है। देवप्रिया कमला के रूप में पुनः जगदीशपुर में शासन करने लगती है परन्तु अब वह विलास-प्रिय नहीं प्रत्युत् शान्त और दान्त भारतीय विधवा है।

समीक्षा—प्रेमचन्द का यह उपन्यास सफल उपन्यास नहीं है। कथावस्तु में जो जन्म-जन्मान्तरो की स्मृति के साथ परिणय हुए हैं वे तिलस्म की-सी बातें हैं। सम्भवतः तिलस्मप्रिय लोगों के लिए ही यह उपन्यास उन्होंने लिखा हो। कर्मठ चक्रधर को बार-बार घर से विरक्त होकर निकालना भी लेखक की लेखनी के किसी कारणवश हुए शैथिल्य को ही बतलाता है।

देवप्रिया महेन्द्रसिंह की स्त्री है। महेन्द्रसिंह का देहावसान हो जाता है और वे हर्षपुर के राजकुमार इन्द्र विजयसिंह के रूप में भवतार लेते हैं और पुनः देवप्रिया से परिणय करते हैं। पुनः उनका देहान्त हो जाता है और देवप्रिया कमला के नाम से हर्षपुर में तपस्या करती हुई उनके पुनर्मिलन के लिए प्रतीक्षा करती है। राजकुमार शंखधर के रूप में भवतार लेता है और पुनः इनमें विशाह-सम्बन्ध हो जाता है। विलासवती विधवा देवप्रिया को अन्त में पवित्र शान्त विधवा कमला के रूप में दिखाया गया है, यह सुधार अवश्य है परन्तु इसके लिए इतनी घटना-जटिलता !

इसमें महात्मा गान्धी के आन्दोलन का प्रभाव स्पष्ट है। विशालसिंह के राज्याभिषेक पर चन्द्रावमूली के समय संपर्क, पुनः हिन्दू-मुस्लिम दंगा आदि घटनाएँ इसके प्रमाण हैं। गाय ही तिलस्म और ऐयारी की कहानी सारे उपन्यास को गोरसपन्था बना देती है।

चक्रधर को प्रेमचन्द जी ने इमथा सर्वथेष्ठ पात्र बताया है परन्तु वह बड़ा विलक्षण है, समाजसेवी अवश्य है परन्तु इधर मनोरमा से सम्बन्ध (प्रगाड

नहीं) होते हुए भी वह मुघार के नाते अहिल्या से परिणय कर लेता है। यह सनक ही कही जायगी। अहिल्या को बिलास-लिलज जानकर चिड़ा-चिड़ा फिरता है और समाज-सेवा-व्रती होता हुआ भी एक निरौह प्रामोण्य को जान से मार देता है। पुनः घर से निकल जाता है और दीर्घकाल पश्चान् पुत्र को मिलता भी है तो घर नहीं आता। आता भी है तो तब जब सब कुछ खो देता है और पुनः अहिल्या को परलोक-गत देखकर घर से चला जाता है। बिलशाण परित्र है, न कोई स्थिरता है और न दृढ़ भावसं। हाँ, समाज-सेवा का भावसं अक्षय हमसे मिलता है। मनोरमा के सम्बन्ध में भी वह भीष ही दृष्टिगोचर होता है। मनोरमा भी अस्थिर-मन स्त्री है।

चक्रधर और मनोरमा की कथा की आधार-शिक्षा सामाजिक है, इसका 'वायाकल्प' के नामकरण ने कोई सम्बन्ध नहीं। वायाकल्प की साज-सज्जा रहस्यात्मक प्रेम के लिए ही है। देवप्रिया ने कमला और महेन्द्रासिंह से शशधर तक यह व्याप्त है और यही वायाकल्प है। इन्द्रविजयसिंह का पूर्व जन्म का वृत्तान्त पूरी जादू की कहानी है और उममें जो विज्ञान का योग, ने सम्बन्ध बतलाया गया है, वह लेखक की नवीनता और अनोखी मुघारवादिता का परिचायक है। शशधर भी चन्द्रधर के पाद में जब लौटता है तो हरपुर के स्टेशन पर पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है और देवप्रिया के पास जाकर अपने को उसका पूर्वजन्म का साथी बताता है। देवप्रिया अपना नाम कमला उममें विवाह कर लेती है परन्तु शशधर प्राण छोड़ देता है। देवप्रिया पुनः तपस्विनी की भाँति प्रिय-मिलन की प्रतीक्षा करने लगती है।

यह नर बुद्ध होते हुए भी यह अग्न्यायन भाषा, भाव एवं रस की दृष्टि से श्रेष्ठतम कल्पनाओं में से है। घटनाबद्ध बिलशाण तो है परन्तु दिविल नहीं। जन्मजन्मान्तरी की कथा से प्रेमबन्ध जो का अभिप्राय पति-पत्नी का दिव्य-सम्बन्ध बतलाना ही है। बिलामी विद्यासिंह ने परित्र में इसका दूसरा पक्ष दिगाया गया है। प्रेमचाद—यद्यपि उनके जीवन में कुछ इसके विपरीत घटना घटी फिर भी—एक पत्नीव्रत के पक्षपाली से घतः विवाह को वे एक धार्मिक क्रिया समझते थे। मनोरमा के पिता हरिगोबत के प्रति लोगों का प्रेम एक गनी-शास्त्री का प्रेम है। अहिल्या भी एक मन्त्री भारतीय भारती है।

संसार के प्रेम-कथा-नाश्रिद में यह कृति अक्षय ही स्तुत्य रहेगी।

शयन

संक्षिप्त कथा—दयानाथ कचहरी में एक लीवर था। उसका पुत्र दयानाथ था, त्रिगता विवाह जानना नामक रमणी से हुआ। दयानाथ का वेगन

घोडा था और बुद्ध आय न थी परन्तु रमानाय के दिवाह में उसने इतना खर्च किया कि कर्ज हो गया। जालपा को सारे गहने मिले परन्तु चन्द्रहार नहीं मिला जिसे वह अत्यधिक चाहती थी। रमानाय ने ढींगें बहूत मारीं परन्तु जालपा का चन्द्रहार न बन सका प्रत्युत ऋण के चुकाने का बार-बार समाचार आने पर दयानाय के कहने से वह उनके सभी गहनों को उठा ले गया और चोरी का बहाना लगा दिया। जालपा बड़ी दुखी हुई।

बुद्ध दिनों पदचात रमानाय को म्युनिमिपैलिटी में ३०) मानिक की नौकरी मिल गई और बुद्ध ऊररी आय भी हो गई। उसने जालपा के लिए गहने खरीदे परन्तु रुपये न चुकाये। जालपा गहने पहन कर म्त्रियों में जाती और गहने दिखाती। एक दिन एक बकील इन्द्रभूषण की स्त्री रतन ने उसका परिचय हो गया। उसने भी जानना के मे कगन बनवाने के लिए कहा और ६००) रमानाय को दे दिए। रमानाय भराफ पर गया परन्तु उसने वे रुपये ऋण में जमा कर लिए और कगन देने में मना कर दिया। रतन कगनों के लिए कहती तो न बनने का बहाना लगा देना। एक दिन वह रुपये माँग बैठी तो रमानाय को बड़ी चिन्ता हुई। कुछ दिन पदचात वह म्युनिमिपैलिटी के रुपये खजाने में जमा न करके घर ले आया। जालपा ने वे रुपये रतन को दे दिए। रमानाय को बड़ी चिन्ता हुई कि यदि वह कल रुपये जमा न करेगा तो जेल हो जायगी। उसने जालपा के लिए एक पत्र लिखा परन्तु उसे देने में पूर्व ही जालपा के हाथ वह लग गया। उसे पत्र पढ़ते देखकर रमानाय को बड़ी लज्जा घाई और घर में भाग निकलना। जालपा ने सब बातें जान गहने बेचकर म्युनिमिपैलिटी के रुपये जमा कर दिए।

रेल में जाते हुए रमानाय की भेंट देवीदीन में हुई। वह उसी के साथ बलवत्ते बना गया। उसकी सखी की एक दुकान थी जिस पर उसकी बुडिया बैठती थी। रमानाय वहाँ साहस्य बन कर रहने लगा और बुडिया को माँ की भाँति मानना था। वह पुतिम के भय में बाहर भी नहीं निकलजा। एक दिन वह स्वाँग देख कर घा रहा था कि पुतिम को देखकर चौंकने लगा। पुतिम की सन्देश हुआ और पकड़ा गया। धाने में डर कर ग्रहन की बात कह मुनाई। पुतिम ने इलाहाबाद म्युनिमिपैलिटी को तार दिया परन्तु वहाँ तो रुपये भरे जा चुके थे अतः कोई ग्रहन प्रमाणित न हुआ। परन्तु पुतिम ने उसे न छोड़ा और क्रान्तिकारियों के विरुद्ध पने हुए एक मुकद्दमे में उसे साक्षी बनाया। उसे रटा हुआ बयान देना पड़ा, जिसने क्रान्तिकारियों को सम्बन्धी-सम्बन्धी सजाये हुए। सब मभी लोग उसने पूरा करने सने।

जेल जाने से पूर्व रमानाथ ने शहरज के एक लकड़ो को भर कर ५०) इनाम पाये थे, जो जालपा ने रतन की सलाह पर घोषित किये थे क्यों कि वह जानती थी कि रमानाथ अचक्षु भेजेगा और उन्हें उसका पता लग जायगा। ऐसा ही हुआ, जालपा कलकत्ता भाई और देवीदीन के यहाँ ही ठहरी परन्तु उसे यह जानकर दुल हुआ कि रमानाथ पकड़ा गया है और क्रान्तिकारियों के विरुद्ध पुलिसिर हो गया है। उसने प्रयत्न भी किया परन्तु पुलिस ने उसे न छोड़ा। उपर वकील साहब बीमार पड गए और रतन उनका इलाज कराने के लिए कलकत्ता आई। जालपा से उसकी भेंट हुई। रतन ने उसकी अनेक प्रकार से सहायता की। वकील साहब का देहान्त कलकत्ते में ही हो गया।

पुलिस कभी-कभी रमानाथ को जालपा से मिलने के लिए आज्ञा दे देती थी। वह एक दिन कुछ धामूपण लेकर उससे मिलने गया परन्तु उसने न लिए। अब जालपा एक क्रान्तिकारी की बूढ़ी माँ की सेवा में तत्पर रहने लगी। जोहरा नामक बेश्या की जो पुलिस के कहने पर रमानाथ के मन-बहनाव के लिए भ्राया करती थी, सहायता से वह जेल से छूटा और एक हाईकोर्ट के वकील के समक्ष पुलिस का सारा भंडाफोड कर दिया। क्रान्तिकारियों का मुकद्दमा हाईकोर्ट में पुनः मुता गया और रमानाथ के मही बयानो के आधार पर उन्हें मुक्त कर दिया गया।

रमानाथ जालपा के साथ घर चला आया। जोहरा भी साथ आई। सब मिलकर गंगा किनारे खेती करने लगे। एक दिन जोहरा गंगा में स्नान करने गई और उसकी तीव्र घाटा में समा गई। रमानाथ और जालपा कुछ न कर सके।

समीक्षा—यह प्रेमचन्द का एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें मध्यम वर्ग की स्त्रियों की धामूपण-प्रियता के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं। जालपा की यही खाहना रमानाथ की इतनी आपत्तियों का कारण बनती है।

गारे उपन्यास की कथा में एकगुणता है। विविध घटना-बन्धों की योजना यही सुन्दर हुई है। रतन का परिचय कथा की बड़ी उम्रता से प्रारम्भ करना है परन्तु पुनः रतन का कलकत्ते पहुँचाना सुबिनर्गत प्रतीत नहीं होता। कलकत्ते में पुलिस द्वारा रमानाथ का पकड़ा जाना, जालपा का वहाँ पहुँचना जोहरा का मध्यस्थित होना आदि घटनाएँ बड़ी रोचक हैं और कथायत्न को सत्य की ओर ले जाने में सहायक हुई हैं। कम पढ़ी-लिखी जायगा का कलकत्ते में पहुँचना और बड़ी अनुरता से कार्य करना कुछ दिनशासना प्रतीत होता है।

इसमें अति-विषण बड़ा सुन्दर हुआ है। मध्यम वर्ग का गणपुत्र

कितना डोंगी, अस्थिर और झूठा होता है, रमानाय इसका उदाहरण है। वह धनी न होते हुए भी जालपा से डींगें मारता रहता है और जब कर्ज की बात खुलती है तो लज्जावश उससे कहता भी नहीं और घर से भाग जाता है। कलकत्ते में भयभीत रहता है, निदान पकड़ा जाता है और जेल-भय से मुखबिर बनता है। ये सब अस्थिर-मन युवक की क्रियायें हैं।

जालपा आदर्श नारी अवश्य है परन्तु उपन्यास के मूल तत्व आभूषण-प्रियता के दुर्गुण से वह पूर्ण है अतः निर्दोष नहीं। इसमें उज्ज्वल चरित्र है देवीदीन का, जो निस्वार्थ भाव से पर-हित करना है, रमानाय को आश्रय देता है, पुनः जालपा को भी टहराता है। विदेशी भाल के विरोधस्वरूप सत्याग्रह में उसके लड़के मारे जाते हैं परन्तु विचलित नहीं होता वरन् स्वयं मोर्चे पर जा जमता है। रमानाय के मुखबिर हो जाने पर वह उसे घृणा करने लगता है। इन सब गुणों से वह एक सच्चा देश-भक्त और परोपकारी निरुद्ध होता है।

जोहरा में सच्चे प्रेम की उद्भूति प्रेमचन्द के आदर्शवाद का परिणाम है। वैसे सारा उपन्यास यथार्थवाद की आधार-गिला पर खड़ा है। रमानाय का सारा चरित्र यथार्थ से परिपूर्ण है।

घटनाओं में जटिलता नहीं है और एक लक्ष्य की ओर कथा रोचकता में बढ़ती चली गई है, यही इस उपन्यास की कला-श्रेष्ठता है। सामाजिक उपन्यासों में वास्तव में यह ऊँचा स्थान रखता है। वैसे तो इसमें राजनैतिक चरु भी खने हैं, पुलिस के भ्रष्टाचार का भी अंकन हुआ है परन्तु यह सब बातें उसी मूल कथा से जकड़ी हुई हैं।

कर्मभूमि

संक्षिप्त कथा—लाला समरकान्त दिल्ली के एक धनिक किन्तु बंग्लम व्यक्ति थे। उनके दो विवाह हुए, जिनमें से प्रथम पत्नी में था समरकान्त और दूसरी से एक लड़की नैना। दूसरी पत्नी के मर जाने पर उन्होंने विवाह न किया। समरकान्त पढ़ना था परन्तु समरकान्त उसकी फीस भी नहीं देने थे। कभी-कभी तो उसका मित्र सलीम ही फीस चुका देता था। बड़ी कठिनाई में पढ़ना हुआ।

समरकान्त का विवाह एक धनिक विधवा रेणुबादेवी की पुत्री सुन्दरा से हुआ और नैना का एक विलासी निरंकुश युवक से। समरकान्त चाहते थे कि उनका पुत्र व्यापार करे परन्तु समर का मन जन-सेवा में अधिक लगता था, वह डॉ० शान्तिभुमार और अन्य छात्रियों के साथ प्रायः ग्राम-मुपार के काम

में इधर-उधर जाया करता था। यह बात न तो पिता को पसन्द थी और न सुखदा को। सुखदा चाहती थी प्रेम और शृंगार भ्रतः घर में कलह रहने लगा। भ्रमरकान्त ऊब कर भ्रमर-मकीना को चाहने लगा और एक दिन पिता से स्पष्ट कह कर घर से चला गया और हरिद्वार के निकट एक चमारों की बस्ती में ग्राम-मुधार का काम करने लगा।

यहाँ एक भवान्तर कथा है जो मुन्नी से सम्बन्ध रखती है। वह ग्राम की स्त्री है। दो गोरों ने उस पर बनावार किया। मुन्नी को सतीत्व-हरण में बड़ी लज्जा और घृणा हुई भ्रतः उसने दो गोरों की हत्या कर दी परन्तु वह पकड़ी गई। भ्रमर एव ग्रन्थ नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने उसकी सहायता की और वह बरी हो गई। भ्रमर चमारों की बस्ती में चला गया। कुछ समय तक मुन्नी दुमोि अवस्था में मुँह छिपाती रही। भ्रत में वह भी चमारों की बस्ती में चली गई। भ्रमरकान्त उसे चाहने लगा परन्तु मुन्नी सजग रही। पुनः मुन्नी उसकी ओर प्राकृष्ट हुई और भ्रमर बचा रहा।

भ्रमर की मेवा-भावना से सुखदा की घालें खुनीं और वह भ्रमरकान्त के आदर्श से प्रभावित हो जन-मेवा में लीन हो गई। इसी समय हरिजनों के लिए मन्दिर-प्रवेद का प्रदन उठा और सत्याग्रह प्रारम्भ हुआ जिसमें सुखदा ने भी डॉ० दान्तिबुमार आदि के साथ प्रमुख भाग लिया। पुनः मजदूरी एव आधूनों के लिए घर बनाने का प्रदन बोर्ड में उठा। दान्तिबुमार एवं सुखदा आदि की इच्छा थी कि बोर्ड इस कार्य के लिए एक विशेष स्थान निश्चित कर दे पर बोर्ड इससे सहमत न हुआ। भ्रत में सत्याग्रह हुआ, जिसमें डॉ० दान्ति-बुमार, सुखदा और रेणुकादेवी को जेल हुई।

भ्रमरकान्त ने जब सुखदा की जन-मेवा के बारे में सुना तो यह यह सोच कर कि उसकी पत्नी उससे प्रागे बड़ी जा रही है, सेवा-कार्य में और भी दक्षित हो गया। भ्रमर चमारों की जिम बस्ती में था, जगमें एक महल रहता था और वह किसानों पर बड़ा अत्याचार करता था। भ्रमर उसके पीछे से बिडता था। लगानबदी या जब प्रदन प्राया तो सत्याग्रह करना पड़ा। भ्रमर ने इनकी अहिंसात्मक ढंग पर चलाया। भ्रमर का मित्र सतीम इस स्थान पर पवित्रारी नियुक्त हुआ था। भ्रमर का मित्र सतीम भ्रमर को गिरफ्तार कर लिया। समरकान्त भी भ्रमर की सोच में आए और इस आन्दोलन में पकड़े गए। सतीम भी प्रभावित होकर जमानों के पदा में गया भ्रतः उसे भी जेल जाना पदा।

आन्दोलन ने भीषण रूप धारण कर लिया, जिनमे पकड़ा कर मन्दिर ने

निराण्य करने के लिए पाँच व्यक्तियों की एक कमेटी बना दी, जिसमें अमरकान्त और सलीम को भी रक्ता और लोगों को छोड़ दिया। इस प्रकार जनता की विजय हुई।

समीक्षा—इस उपन्यास में राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही समस्याओं पर विचार है। यह सन् १९३१-३२ के आन्दोलन के समय लिखा गया था, अतः राजनैतिक समस्याओं का चित्रण प्रधानतः हुआ है। रंगभूमि की भाँति इसमें भी समाज की कुरीतियों एवं शासन के भ्रष्टाचारों का भंडा-फोड़ है। सर्वप्रथम अमरकान्त को कड़ूस दिया कर पुनः मुखदा को विलास-प्रिय चित्रित कर भारतीय धनिकों की मनोवृत्ति का सच्चा दिग्दर्शन कराया है। गोरो द्वारा मुन्नी पर बलात्कार अंग्रेजों की निरकुशता का ही एक चित्र है। पुनः मुन्नी को लज्जा एवं धृष्टता से भारतीय नारी का सतीत्व-मूल्य प्रदर्शित किया है। परन्तु प्रेमचन्द मुन्नी को समाज में स्थान न दे सके यह उनके आदर्शवाद का परिणाम है। महत्त्व की अनीति और वित्यागिता भी अंग्रेजी शासन के विद्वेषों एवं निरकुश नर-पशुओं के ही दुर्गुणों को प्रकट करती है। द्विज लोग अछूतों को बितना नीचा समझते हैं यह उनके मन्दिर-अप्रवेश एवं गन्दी बस्तियों से सिद्ध किया गया है।

इस प्रकार इसमें सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों की कुरा-इयों का चित्रण है। परन्तु 'रंगभूमि' की अपेक्षा इसमें चित्रण-बला कुछ हृदयी है। यह उपन्यास पात्र-प्रधान है क्योंकि इसमें अमर एवं मुखदा आदि पात्र अपना मार्ग स्वयं बनाते हैं।

अमर एक बर्मठ युवक है, जिसने शिरा भी अपने बल पर खरीदा था, उसे न बनने पर चमारों की बस्ती में चला गया और वहाँ अपने मार्ग का चयन किया। परन्तु उसके जीवन में प्रथम सतीता और पुनः मुन्नी का आशीर्वाद हुआ। सतीता मुमलमान थी अतः लेखक ने उसे एक हिन्दू का रूप दे दिया, दूसरे अमर विवाहित भी था। मुन्नी भी विवाहित थी, परन्तु अहित था, अतः ये भी लेखक ने शरीरतः दूर ही रखे। प्रेमचन्द अमर को स्वयं रच चुके थे अतः उन्हें पुनः-पुनः-पुनः की प्रेम-कथा का अन्त नहीं परन्तु उन्होंने आदर्श को बही नहीं मुनाया।

की भतः जन-सेवा के प्रतिरिक्त वह और किसी और मन नहीं लगाती । इस उपन्यास की मूलभावना आदर्श से जुड़ी हुई है । अमर, सुखदा, नैना मुन्नी, सकीना, सलीम, समरकान्त, शान्तिकुमार, एवं रेणुकादेवी सभी के चरित्र आदर्श से खाली नहीं हैं । सभी कर्म में रत और आदर्श पर मर मिटने वाले हैं । वास्तव में इन उपन्यास का नाम सायंक ही है । प्रेमचन्द स्वयं संसार-त्याग एवं तपस्या के पक्षपाती नहीं थे । वे कर्मभूमि में पदार्पण कर कर्म करना ही प्रथम कर्तव्य समझते थे । इन उपन्यास में हमें सर्वत्र कर्मभूमि के हरियाले क्षेत्र दृष्टिगोचर होते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न पात्र कार्य में निमग्न हैं, संपर्प में लीन हैं । यही जीवन है—संपर्प ही तो जीवन है ।

गोदान

संक्षिप्त कथा—होरी विहारी गाँव का एक किसान है । उसके पास केवल चार-पाँच बोधे भूमि है, उसी से अपना पेट पालता है । धनिया उसकी स्त्री है, गोबर पुत्र और सोना एवं रूपा दो कन्याएँ । सोना और हीरा उसके भाई हैं, विवाहोपरान्त वे होरी से पृथक् हो जाते हैं । हीरा की स्थिति अच्छी नहीं है ।

होरी रामसाहब अमरपालसिंह की जमींदारी में रहना है और नित्यप्रति उन्हें सलाम करने जाता है । गोबर को यह बात अच्छी नहीं लगती है । होरी की एक बड़ी साध यी—एक गाय का खरीदना । जैसे-जैसे वह भोला से गाय खरीदता है परन्तु श्रृणु चुका भी नहीं कि होरी का भाई हीरा गाय को बिय दे देना है । मामला पुनिम में जाता है, हीरा भाग जाता है परन्तु यानेदार पर की तलाशी लेना चाहता है । होरी अपना सम्मान रखने के लिए यानेदार को पूरा देना चाहता है परन्तु धनिया स्थिति को संभाल लेती है और यानेदार को वापस जाना पड़ता है । होरी ही हीरा की स्त्री पुनिया की सहायता करता है, संत भी गोड़ता है ।

गोबर का गाय के सम्बन्ध में ही भोला के यहाँ घाना-जाना होगया था । यह भोला की विधवा पुत्री मुनिया से प्रेम करने लगता है और उसके गर्भ रह जाता है । गोबर सख्ताइस सततनऊ बतता जाता है और पहले सोमबा लगाता है पुनः मजदूरी करता है । मुनिया होरी के घर आती है, होरी और धनिया उसे आश्रय देने हैं ।

गोबर एक-एक पैसा बचाता है और इन प्रकार दो सौ रुपये संजित करता है । होरी की स्थिति बड़ी बिगड़ जाती है, निर्वाह भी कठिनता से होता

है। पं० दातादीन आधी बेंटाई पर बीज और बँलों का प्रबन्ध कर देते हैं परन्तु स्थिति में सुधार नहीं होता। गोबर एक वर्ष के उपरान्त आता है और अपनी संचित पूँजी से बाप की स्थिति को सुधारना चाहता है परन्तु मानी जरठ नहीं मानता। उसे रुढ़िप्रियता कुछ नहीं सोचने देती। गोबर लौट जाता है। सोना का विवाह होरी के सिर पर कर्ज का एक भारी बोझ छोड़ जाता है, जिसे वह चुका नहीं पाता। पुनः रूपा का विवाह आता है परन्तु विवश होकर अबकी बार वह एक बूढ़े से रुपया लेकर रूपा का विवाह उसके साथ कर देता है। गोबर विवाह में आता है परन्तु कुछ नहीं कर सकता और लौट जाता है।

ऋण अधिक होने से होरी भूमि बेच देता है और मजदूरी कर लेता है। ककड़ डोने में उसकी नस-नस टूट जाती है। एक दिन लूह लग जाने से बीमार हो जाता है और मृत्यु के निकट पहुँच जाता है। गोदान का प्रश्न उठता है तो धनिया महाजन मातादीन को बीस आने देती हुई बहती है—“महाराज घर में न गाय है और न बछिया, ये पैसे हैं। यही उनका गोदान है।”

इस आधिकारिक कयावस्तु के साथ एक दूसरी प्राणिक कथा और चलती है, वह रायसाहब अमरपालसिंह और उनके मित्रों की है। रायसाहब विहारी गाँव के जमींदार हैं और नगर में रहते हैं। इनके मित्र हैं ‘विजली’ के सम्पादक आकारप्रसाद जो कुछ धन लेकर समय-समय पर इनकी प्रशंसा करते रहते हैं। दूसरे मित्र हैं रात्रा। गोबर इन्ही के मिल में मजदूर है। खन्ना के मिल में हड़ताल होनी है, जिनमें गोबर के भी चोट लगती है और मिल में आग लगा दी जाती है। इस प्रसंग में मेहना और मालती की प्रेम-वर्चा भी चलती है। ये दोनों समाज-सेवा के बहाने गाँव में जाते हैं और उमकी आड़ में प्रेम-लीला करते हैं।

समीक्षा—इस उपन्यास के कथानक में उलझन नहीं है। सीधी-सादी एक कथा है जिनमें किसानों के सच्चे प्रतिबोध होरी का चरित्र-चित्रण है। होरी एक छोटा किसान है, जो परिवार का भरण-पोषण भी नहीं कर सकता। एक गाय की साथ भी कर्ज से पूरी होती है और वह भी ईर्ष्या का शिकार हो जाती है। पुनः बेंटाई पर खेन उठाता है परन्तु स्थिति नहीं सुधरती। कन्या के विवाह पर और ऋण लेता है, जिसे वह चुका नहीं पाता और पुनः घनाभाव में छोटी पुत्री का विवाह एक बूढ़े से कर देता है। अन्त में भूमि को बेचकर मजदूर हो जाता है और कठिन परिश्रम से मृत्यु के मुँह में चला जाता है। अन्त में घर में केवल बीस आने दोष रह जाते हैं, जिनसे गोदान होता है। परन्तु है यह धन पर मरने वाला एक सच्चा किसान। न उसे बँभव चाहिए और न अधिकार। रुढ़ियों में फँसा हुआ अपनी ही मर्यादा में सीमित वह धन और बख्त चाहता है

घोर यदि कुछ घोर भी चाहता है तो बच्चों के दूध के लिए गाय परन्तु वह भी दुर्लभ है। वह कर्ज से दबा हुआ है, सरकारी अफसरो का मारा हुआ है, दम्भियों से प्रवंचित है, महाजनो से शोषित है किन्तु फिर भी स्वाभिमानी है। निराश घोर अन्यमनस्क हुआ जब मजदूरी करता है तो उस अल्पमान से विकल हो कर उसकी आत्मा दीप्र ही इस शरीर को छोड़ जाती है।

यही है एक किसान की जीवन-स्तीला। प्रेमचन्द किसान के जीवन से पूर्णतः परिचित थे अतः वे इसके चित्रण में अत्यधिक मफल हुए हैं। किसान कितना दुखी है, असहाय है, शोषित है परन्तु फिर भी कितना ऋजु है, यही इसमें चित्रित हुआ है।

राममाह्व की कथा भी इससे सम्बन्धित है क्योंकि जब तक धनिक जमींदारों, साहूकारों, मिलमालिकों एवं ठोंगी नागरिकों को ग्रामीणों से न मिलाया जाय, दोनों का वास्तविक चित्रण नहीं होता है। अतः राममाह्व की कथा को पुण्य कथा कहना उचित नहीं। अमरपालसिंह जमींदार हैं, सत्रा मिल मालिक हैं, भौंकारनाथ सम्पादक हैं और मेहता नागरिक दार्शनिक हैं। इनका भावुनिक बान में किसान ने बड़ा सम्बन्ध रहा है अतः इनके चरित्र से क्रमशः जमींदारों, उद्योगपतियों, सम्पादकों, एवं ठोंगी उपदेशकों के भ्रष्टाचार, दुर्नीति, शोषण-प्रियता और बुचेष्टाओं का साका खींचा गया है। अमरपालसिंह जेल हो घाये हैं और दान-पुण्य भी करते हैं परन्तु अन्याय को छुनने के लिए। सम्पादक कोई सिद्धान्त नहीं अपनाते और मिल-मालिक शोषण, पापाचार और दम्भ की प्रतिमूर्ति ही हैं। मेहता और मालती ने नागरिक जीवन का शोशापादन ही प्रदर्शित किया है।

इसमें श्रेष्ठतम चरित्र है होरी और धनिया बन। होरी किसान का धार्य प्रतीक है और धनिया सच्ची किसान की पत्नी का। होरी धान पर मरने वाला है परन्तु ऋजु अधिक है। होरी की तलाशी लेने जब दरोगा आजाता है तो होरी मृग देने लगता है परन्तु धनिया यह कह कर दरोगा को हृत्प्रभ कर देती है कि गाय हमारी थी, मर गई तो क्या हुआ। इसी प्रकार धुनिया को आश्रय देने के लिए होरी विरोध करता है परन्तु धनिया बिरादरी की चिन्ता नहीं करती और उसे आश्रय देती है।

गोबर एक निर्वन्त हृदय युक्त है। वह धुनिया से पुत्र प्रेम तो करता है परन्तु समाज के भय से भाग निकलता है और पुनः जब धर्म मर भाग खाता

है तो मान्वाप को असहाय अवस्था में ही छोड़ जाता है । उसे प्रारम्भ में न जमींदारों की खुशामद प्रिय है और न घूसखोरी परन्तु शहर में पहुँचने पर स्वयं अनेक बुराइयों में लिप्त हो जाता है ।

इन सब बातों ने इस उपन्यास को प्रेमचन्द के सभी दृग्गद्यालों में श्रेष्ठतम स्थान दिया है ।

मैथिलीशरण गुप्त

वर्तमानकालिक कवियों में शिरोमणि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म सं० १९४३ में चिरगांव भोजपुर में हुआ था। इनके पिता रामसरन दास स्वयं एक कवि थे। भक्त, कवि-प्रतिभा इन्हे पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी। इनके लघु-भ्राता सियारामशरण भी आधुनिक हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों में से हैं।

हिन्दी के आधुनिक काल का प्रारम्भिक समय भारतेन्दु काल कहलाता है। उस काल के हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के निर्माता भारतेन्दु जी ही थे। यद्यपि ईशा-भल्ला खाँ, सदागुलाल नियाज, लखूलाल एवं सदनमिश्र द्वारा संस्थापित सड़ी बोली के मार्ग को राजा लक्ष्मण सिंह एवं शिवप्रसाद मिश्रा-हिन्द ने निष्पेक्ष बना दिया था और साथ ही इसमें ईगाई धर्म-प्रचारको एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे समाज-सुधारको ने भी पूर्ण योग दिया था परन्तु वास्तव में इसके परिमार्जन की नींव भारतेन्दु जी के ही समय में पड़ी। भारतेन्दु काल में पद्य की भाषा ब्रज ही रही और गद्य में भी सड़ी बोली निर्गमन सकी। स्वयं भारतेन्दु जी ने 'धालम बड़ गई,' 'रोत,' 'भोड़दोर,' 'मुम हो,' 'इसने,' 'जो सक्ते हैं,' 'सगैगा,' 'जगत की प्राण,' 'मेरा देह,' 'भाजा दिया' आदि अशुद्ध वाक्य, वाक्यांश एवं वाक्यों का प्रयोग किया है जिनमें व्याकरण एवं उच्चारण-सम्बन्धी बड़ी अशुद्धियाँ हैं। वास्तव में हिन्दी के परिमार्जन और सुस्वरूप का काल द्विवेदी जी से प्रारम्भ होता है। इन्होंने संवत् १९६० (गर् १९०३) में 'गरम्पनी' का सम्पादन अपने हाथ में लिया, तभी से सड़ी बोली के उत्तरोत्तर विज्ञान एवं परम सौंदर्य का श्रियोग्य हुआ। द्विवेदी जी स्वयं कवि थे भक्त-कवि और वाक्य के सत्य स्वरूप को जानते थे। उन्होंने समालोचना द्वारा उसीसमय कवियों, नाटककारों, उपन्यास-लेखकों एवं वैज्ञानिकों के समालोचनों का छाँटना, सुधारना एवं पद्य-प्रदर्शन करना प्रारम्भ किया। कभी-कभी वे सड़ी प्रणाली से लिखते थे और कभी-कभी वे लिख भी हो जाते थे परन्तु

उन्होंने इस महायज्ञ की समाप्ति न की जिनका परिणाम यह हुआ कि वे वृत्तवृत्त्य हुए और उन्हीं की प्रेरणा और आलोचना के फलस्वरूप उत्तम से उत्तम काव्य, नाटक एवं उपन्यास हमें उपलब्ध हुए। उनके समय में श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही और रूपनारायण पांडेय आदि प्रसिद्ध साहित्यकार हुए परन्तु इनमें से प्रथम तृतीय विशेष ख्याति-प्राप्त हैं। इन तीनों में भी गुप्त-जी ही सर्वोच्च आसन पर धारण किए हुए हैं। द्विवेदी जी काल-निर्माता अवश्य थे परन्तु वे प्रतिनिधित्व कभी न पामके क्योंकि वे काव्य के स्वरूप को हृन्माल-भवत जानते अवश्य थे अतः आलोचना भी यथार्थ करते थे परन्तु उनमें काव्य-प्रतिभा न थी। द्विवेदी जी ने ही उपर्युक्त तीनों महानुभावों को प्रकाश दिया था परन्तु उनमें काव्य-प्रतिभा विद्यमान थी तथा उच्चकोटि की नैसर्गिक प्रबन्ध-प्रदुता, वाग्वैदग्ध्य एवं विषय-निर्वहन-शक्ति आदि गुण थे। इनमें भी ये गुण गुप्त जी में विशेष रूप से व्यक्त हुए यहाँ तक कि गुप्त जी की भाषा भी पाठक जी एवं हरिप्रोष जी की अपेक्षा अधिक अदृशिम एवं प्रवाह-पूर्ण है। उदाहरणतः एक-एक पद्य नीचे दिया जाता है—

आज रात इससे परदेशी चल कोने विधाम नहीं ।
जो बुद्ध बस्तु कुटी में मेरे बरो पहण, संकोच नहीं ।
तूरा शय्या भी, अलप रशेई पाओ स्वल्प प्रसाद ।
पर पमार चलो निद्रा सो मेरा आतिर्वाद ॥

[श्रीधर जी वृत्त 'एकान्तवामी योगी']

दिवस का अवमान समीप था ।

गगन था बुद्ध सोहित हो चला ।

तद-शिक्षा पर भी अब राजनी—

कमलिनो-कूल बल्लभ की प्रभा ॥

[हरिप्रोष जी वृत्त 'प्रियप्रवास']

मिली मैं स्वामी से पर बह सरी क्या समूल के ।

बहे आंग्रु होके सति सब उपात्मन गल के ।

उन्हें हो आई जो निरति मुझको नीरव दया ।

उमो की पीड़ा का अनुभव मुझे हा रह गया ।

[गुप्त जी वृत्त 'मावेत']

उपर्युक्त उदाहरणों में ये प्रथम में न भाषा में प्रौढ़ता है और न प्रवाह । 'कीजे' और 'पमार खलो निद्रा' तथा 'घासिर्वाद' शब्द एवं वाक्य शुद्ध नहीं हैं, जिन्होंने भाषा के सौष्ठव का ही हनन नहीं किया है वरन् प्रवहन में बाधा भी डाली है । हरिष्चीय जी की भाषा में सौष्ठव और प्रवाह की कमी नहीं है । उनकी भाषा में शब्दों का खनन एवं संगठन स्वर्णसंचित मणियों की भाँति हुआ है परन्तु नैसर्गिकता नहीं है । उनकी कला का प्रदर्शन प्रयास-सिद्ध है, यह उनके प्रियप्रवास काव्य से स्पष्ट चोतित होता है । उपर्युक्त उदाहरण में क्रिया एवं कारक-चिह्नो के अतिरिक्त सभी शब्द तरलम हैं, यहाँ तक कि मूर्ख के लिए 'कमलिनी-कुल-बल्लभ' एक समस्त पद दिया है और वह भी वाचक नहीं वरन् साक्षरिणिक है । गुप्त जी की भाषा में सौष्ठव, प्रवाह और नैसर्गिकता आदि ममी गुण मिलते हैं । न उसमें व्याकरण आदि सम्बन्धी कोई छुट्टि है और न विगत विषयक कमी । शीकड़ों ही मानिक एवं वणिक वृत्तों के व्यवहृत होने पर भी न भाषा में दुरुहता घाने पाई है और न पद-भ्रूनादिक दोष और न रुन्द-बद्धता के कारण भाव-अंकीय या भाव-प्रकाशन की विषमता दृष्टिगोचर होती है ।

द्विवेदी-शाल में इतिवृत्तात्मक शैली को प्रपानता रही । गुप्त जी की रचनाओं में भी हम इतिवृत्तात्मकता को ही प्रमुखता से देखते हैं । इनके उद्भूट काव्य यशोधरा एव सावेत में अमिथ्यंजनात्मक शैली भी उत्कृष्ट रूप में प्रेक्षणीय है । यशोधरा एव उमिला के वियोग-विशरण में भावामिथ्यंजकता का वास्तव रूप प्रकृत हुआ है । गुप्त जी की रचनाओं में प्रतीत होता है कि उनकी विचारधारा को पृष्ठभूमि अनेक अनौत एवं समसामयिक कारणों से निर्मित हुई थी । वे अतीत पूर्वजों के ऋजु, गरज, प्रकाशमान और समृद्ध जीवन से बड़े प्रभावित रहे हैं इसीलिए उन्हें वर्तमान हिन्दू जाति की शीलता, हीनता, हीनता एव गुरुपता अधिक मलनी है । वे वर्णव्यवस्था में कर्तव्य-भ्रष्टता और नैतिक-निषिद्धता के भी परम विरोधी हैं । उनका ध्यान मरन एवं महाभारतमय जीवन इनका प्रत्यक्ष प्रमाण है । वे आदर्श के पुजारी हैं अतः उनकी रचनाओं में नहीं भी सदाचार-नीमा, नैतिकता एवं मानव-मर्यादा का उल्लंघन नहीं हुआ है । धारणी उदारतायता ने धारणी शैली में विभेद-बाधुष्य नहीं घाने दिया है । हिन्दू, बौद्ध और सिक्ख आदि सभी उनकी दृष्टि में धर्म-मन्त्राण हैं अतः एक हैं । उन्होंने भावसामयिक के लिए वेद, पुराण, इतिहास, नीति, प्रायश्चित्त के रीति-बोध-अर्थों, मरुत के मान्य शब्दों एवं मध्यकालीन भक्तों और धार्मिक काल की अनेक प्रवृत्तियों तथा प्रगतिशक्ति के सहायता की । वे परम रामभक्त वैष्णव होने हुए भी महान् उदारताय रहे हैं । उनीशाला गारियों से वे धार्मिक प्रभा-

वित हुए जान पड़ते हैं क्योंकि 'साकेत' और 'यशोधरा' नामक अपने श्रेष्ठतम काव्य उन्होंने उमिला और यशोधरा की पुण्य स्मृति के लिए ही निमित्त किए। राष्ट्रीयता से तो वे श्रोतप्रोत हैं। उन्होंने सदैव ही व्यष्टि जीवन से समष्टि जीवन को अधिक महत्व दिया है तथा मानव-समाज के विविध भ्रंगों को किसी निम्न-स्तर से घूर कर नहीं देखा है वरन् हृदय की विशाल प्रखर दृष्टि के प्रकाश में मानव को मानव रूप में ही देखा है और वह भी मत, वर्ण, जाति एवं देश की सीमा में श्रावद्ध नहीं। सारा भारत उनके लिए एक पुण्यभूमि है, जहाँ का प्रत्येक निवासी बिना किसी भेद के माला में ग्रयिन एक साथी मुक्ता के समान है। इसीलिए आप प्राधुनिक काल के राष्ट्रीय प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं।

रचनाएँ—

उपरिलिखित भावसामग्री के कवस्वरूप उन्होंने धनेक रचनाएँ कीं, जिनकी तालिका निम्न रूप से बनाई जा सकती है—

प्रबन्ध काव्य—रंग में भंग, जयद्रथ-वध, पंचवटी, त्रिपयगा (वन-वंभव, बब-संहार और मैरुध्री), किमान, विकट भट, गुरकुल, साकेत, यशोधरा, द्वापर, सिद्धराज और नहुष आदि।

इनमें से 'साकेत' महाकाव्य है, और शेष खण्डकाव्य हैं। यशोधरा को हम चम्पू का अभिधान दे सकते हैं।

मुक्तक काव्य—रघु-प्रबन्ध, भारत-भारती, स्वदेश-संगीत, वैतालिक, भंकार, मगलपट और हिन्दू आदि।

नाटक-काव्य—चन्द्रहाम, तिलोत्तमा और अनघ।

अनुवाद—मादकेल मधुसूदनदत्त कृत मेघनाद-वध का, उमरखैयाम की द्वाइयो का तथा नवीनचन्द्र सैन के 'पलाशिर मुद्द' नामक काव्य का अनुवाद।

'रंग में भंग' नामक खण्डकाव्य में बूंदी-नरेश वरसिंह के भाई मेनोनी के राजा सारसिंह की पुत्री के चित्तोड़ के राजा खेतल के साथ हुए विवाह में हुए अनर्थ का वर्णन है। चित्तोड़ में प्राप्त एक मूर्ति के स्वरूप का चित्रण करते हुए वहाँ के राजकवि वारू ने राजा को सर्वोच्च दानी बतलाया। इस समाचार को पाकर सारसिंह की छाती पर साँप सोट गया। जब पुत्री का पाणिग्रहण हो चुका और विदाई का समय आया तो सारसिंह ने वारू को चातुकार बहकर लज्जित किया, त्रिमं बवि ने आत्म-हत्या कर ली। यह देखकर वर-पक्ष ने मुद्द टान दिया, जिसमें वर भी खेत रहा। वधू ने इस शोचपूर्ण घटना को मुनकर पति के साथ सती होकर प्राण दे दिए। यह समाचार जब

चित्तौड़ पहुँचा तो लाखा ने प्रण किया कि मैं बूंदीगढ़ को जब तक नष्ट-भ्रष्ट न कर दूँगा तब तक भद्र-जल ग्रहण न करूँगा। लोगों ने समझाया कि यदि भ्राप भद्र-जल ग्रहण न करेंगे तो गढ़ कैसे टूटेगा अतः भ्रापको कृत्रिम गढ़ तोड़ना चाहिए। लाखा की समझ में यह बात भ्रा गई और एक कृत्रिम गढ़ के दास हाडा कुम्भ ने इसमें बाधा डाली जिसके परिणाम-स्वरूप लड़कर उसने अपने प्राणों की प्राप्ति दे दी।

यह काव्य बहुत ही छोटा है। कहानी वास्तव में वषु के मती हो जाने तक ही समाप्त हो जानी चाहिए, परन्तु केवल घटना की पूति के लिए भ्रागे कथानक का विस्तार किया गया है। हिन्दी साहित्य में यह काव्य अपने ढंग का प्रथम या अतः इसका मूल्य है अन्यथा यह विशेष महत्व का नहीं। कृत्रिम गढ़ के तोड़ने का यणं चित्तौड़-नरेश के योग्य नहीं अतः भादर्नापूर्ण नहीं है।

‘जयद्रथ-बध’ पौराणिक कथा को लेकर लिखा गया एक सण्डकाव्य है। इसमें महाभारत के युद्ध में अर्जुन के पराक्रम से अस्त दुर्घोषन द्वारा प्रेरित भाचार्य द्रोण द्वारा निर्मित चक्रव्यूह में सप्त महारथियों ने अघमेंपूर्वक अमिमन्नु के मारे जाने तथा भाई-बन्धुओं के विलाप और उत्तरा के करण-अन्दन से उद्वेगितमन अर्जुन के प्रण करने और पुनः पुन के निधन में मूल कारण जयद्रथ के बध किए जाने का यणं है। यह काव्य वास्तव में गुन्दर वन पडा है। इनमें प्रबन्ध-पटुता का प्रदर्शन गुष्ठु रूप में हुआ है। काव्य में भाया भावातुलन ही प्रयुक्त हुई है। उत्तरा के विलाप में कारण्य वा समुद्र उमड़ रहा है। वीरोक्तियों में बड़ा अोज भी दृष्टिगोचर होता है। निम्न पद्य में अोज के साप-नाप मालवारिकता भी देलिये—

करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं धवित हुए।
तब विस्तुरित होते हुए भुजदण्ड यों दलित हुए—
दो पद्म दुग्धों में लिये दो दुग्ध वाला मज नहीं।
मर्वन करे उनको परस्पर तो मिले उपमा नहीं।

इस काव्य में अत्याचारियों के विनाश और मन्मांग-गामियों की विजय गुन्दर भादर्न उपस्थित किया गया है तथा भारतीय मन्नों की प्रतिज्ञा-पूति। अमुनम अनिवायंता भी शिगलाई गई है।

‘बंखटी’ एक छोटा-सा सण्ड-काव्य है जिसमें राम, शीता और सधमण का भादर्नापूर्ण अरिच पित्रित है। इसका नायक सधमण है जो अपने प्रभु राम

की सेवा के लिए एक योगी साधक के रूप में चित्रित हुआ है—

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्य-कुटीर बना ।
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर घोर घोर निर्भोकमना ।
जाग रहा यह कौन धनुर्धर जब कि भुवन भर सोता है !
भोगी ऋमुमापुष योगी-सा बना दृष्टिगत होता है ॥

लक्ष्मण योगी-सा प्रतीत होता हुआ भी भोगी मनोज मे कम दोषित न
नही, अतएव सूर्यन्याता उन पर मुग्ध हो गई । इस अवसर पर सीता के परिहास
और व्यंग्यपूर्ण वचन दर्शनीय हैं । इस काव्य में भाषा का रूप बड़ा सुन्दर है
तथा काव्य के गुण सहज रूप में व्यवहृत हुए हैं । प्रकृति का चित्रण भी बड़ी
मनोरमता से परिपूर्ण है । देखिए निम्न पंक्तियों में प्रकृति-चित्रण में कितनी
नैसर्गिकता है—

चाह चन्द्र की चंचल किरणों खेल रही थीं जल-यत में ।
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी अरवि और अम्बर-तल में ।
पुलक प्रकट करती थी धरणी हरित तरुणों की नोकों से ।
मानो तब भी भ्रूम रहे थे मन्द पवन के भोंकों से ॥

पूर्वोपेक्षित लक्ष्मण का चरित्र इसमें बड़ी विरादता और उदात्तता से
चित्रित हुआ है । ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्त जी का भक्त हृदय तरंगित होने
लगा है । साथ ही हमें प्रकृति भी सुखर और आत्मीय सी दीखती है । यदि
यह कहा जाय कि गुप्त जी की काव्य-कला का सुन्दर प्रदर्शन इसी काव्य से
प्रारम्भ हुआ तो अनुचित न होगा ।

'त्रिपथगा' में 'वन-वंभव', 'बक-सहार' और 'सैरन्ध्री' नामक तीन छोटे-
छोटे काव्य संग्रहित हैं । इन तीनों का कथानक महाभारत की कथाओं पर
आधित है और प्रत्येक में एक भावार्थ सम्मूल रहा है । 'वन-वंभव' में चित्ररथ
गन्धर्व द्वारा बुरुराज दुर्योधन को बन्दी बनाने और सदाशय महाराज युधिष्ठिर
से प्राप्त अर्जुन द्वारा उसके मोक्षण का चित्रण है । इस काव्य में युधिष्ठिर
की उदारता और उत्कृष्ट बन्धु-प्रियता का अंकन हुआ है । दुर्योधन पाण्डवों का
अहितकारी था परन्तु युधिष्ठिर ने जब उसके पाप-बद्ध होने का समाचार सुना
तो अपने भाइयों की भाई की महायतार्थ शिक्षा दी । उनके इन वचनों में कितनी
उच्चता और मूर्धमता है कि हम परस्पर सौ और पाँच हैं परन्तु दूसरों के
लिए एक-भी पाँच हैं । हम उन्हें स्वयं दण्ड दे सकते हैं परन्तु दूसरों से दण्डित
होता हुआ नहीं देख सकते—

जहाँ तक है आपस की पाँच,
वहाँ तक वे सो है हम पाँच ।
किन्तु यदि करे दूसरा जाँच,
गिने तो हमें एक सो पाँच ॥

इसमें अर्जुन चित्ररथ से युद्ध करता है—नहीं एक भाई भाई की
महायतार्थ मित्र का सामना करता है और वह भी जान की बाजी लगाकर ।

'बक-संहार' में भी एक आदर्श उपस्थित किया गया है कि पर-सहायतायें
धपना सर्वस्व-व्याप कर देना चाहिए । कुन्ती अपने पाँचों पुत्रों सहित एकपना
नगरी में एक ब्राह्मण के घर ठहरी हुई थी । वहाँ एक बक नाम का राक्षस
रहता था, जिनके आहार के लिए नित्य-प्रति एक घर से एक गाड़ी भात और
एक मनुष्य जाता था । एक दिन उसी ब्राह्मण के गृह की बारी थी । घर में
रदन और चीत्कार के कोनाहल ने कुन्ती का करणापूर्ण हृदय द्रवित कर
दिया । उसने सम्पूर्ण वृत्तान्त जान कर भीम को भेज कर केवल ब्राह्मण-
परिवार को ही शोक-मुक्त नहीं किया बल्कि वहाँ की समस्त जनता का उद्धार
किया । वृत्तान्त को सुन कर कुन्ती का भाव-युद्ध प्रेक्षणीय है । युधिष्ठिर के
प्रति उनके निम्न वचनों में विलगी दृढ़ता है—

पुत्रो न तुम इत हृदय की कुछ भी बना,
रण में मरण तक के लिए,
पति-पुत्र को धामे किए,
देतो विदा है गर्व कर हम कर्कशा ।

भारत की वीर दानाशियों का यही एक परम आदर्श है ।
'गैरुध्री' में विराट् नगर में प्रबुद्ध पाण्डवों और द्रौपदी के रहते
दृष्ट कीचक के द्रौपदी के प्रति पूणित और वागनापूर्ण व्यवहार एवं भीम द्वारा
कीचक के महार का वर्णन है । इसमें द्रौपदी (गैरुध्री) का चरित्र बड़े उज्ज्वल
रूप में बिभिन हुआ है । स्वयं कीचक की बहन सुदेष्णा उगे एक दृढ़चरित्रा
नारी बहती है—

तेमी ही बुढ़ जटिल चरित्रा है बट नारी ।

उपर्युक्त विवेचन ने प्रतीत होता है कि तीनों ही काव्यों में एक आदर्श
का चित्रण हुआ है । एक में बन्धु-प्रियता, दूसरे में परद्वितीय गर्व का त्याग
और तीसरे में नारी-धर्म बिभिन है ।
'चित्तान' में एक विमान की दुर्दशा का वर्णन है । इसके चित्रण में बल्यता

का आशय कम लिया गया है तथा प्रत्यक्ष घटित बातों पर ही निर्भर रहा गया है। किसान का शीशव मुखमय और निश्चिन्त था। एक दिन उसने सहसा एक भ्रंशिये से आक्रान्त किसी कृपक-बालिका की रक्षा की, जिससे आभारी हो बाला ने अपना हृदय युवक को सौंप दिया। आगे ये ही दम्पति हुए। कालान्तर में जब ऋणी पिता का देहान्त हो गया तो जमीदार और मट्टाजनों ने तग करना प्रारम्भ किया निदान घर-बार छोड़कर वे कुली हो गये। गर्भवती स्त्री एक दिन एक दुष्ट गोरे के हाथों मारी गई। यातनाओं में पीड़ित और काल-वक्र से पीना हुआ किमान सहचरी के वियोग से वनान्त होकर फौज में नर्ती हो गया और सपानार्थ विदेग भेज दिया गया। वहाँ वह निघन हो प्राप्त हुआ। यही इसमें सशिष्ट कथानक है। इसमें पीड़ित किमान के प्रति गुन्जो की महानुभूति और समवेदना पर्याप्त मात्रा में मुखरित हो उठी है परन्तु रीली इतिवृत्तात्मक ही है।

‘विकटभट’ काव्य में एक विकट बौर सरदार देवीसिंह के बलिदान और उसके पौत्र सवाईसिंह की निरुगता का वर्णन है। एक दिन जोधपुर नरेश ने देवीसिंह से पूछा कि यदि तुम रुठ जाओ तो क्या करो। देवीसिंह ने क्रुद्ध उत्तर न दिया परन्तु जब महाराज ने बार-बार पूछा तो उसने खीज कर उत्तर दिया—

“पम्बोनाय, मैं जो रुठ जाऊँ” कहा बौर ने—

“जोधपुर की तो फिर बान हा क्या, यह तो
रहता है भैंरो बटारी की पतली में ही,
मैं यों नयशोदि भारपाड़ को उतट दूँ।”

ये शब्द नरेश को तीर से लगे और इसके परिणामस्वरूप देवीसिंह और उनके पुत्र को मृत्यु-मुख में जाना पडा। अब केवल परिवार में देवीसिंह का द्वादशवर्षीय पौत्र और उसकी माता अवशिष्ट रह गये। नरेश ने यह वाण्ड किया तो पर उसे परचाताब भी हुआ क्योंकि उसने एक और सरदार को इसी प्रकार निहत्त कर दिया था अतः अब उसे शत्रु ही शत्रु चतुर्विक् दृष्टिगोचर होने थे। उसने सवाईसिंह को दरबार में बुनाया। यह स्थन बड़ा ही कर्णराजनक है, जिसमें माता नन्हे पर बौर बालक को मजाकर भेजती है क्योंकि उसे निश्चय था कि उसका पुत्र बम्पत्पती को जा रहा है। सवाईसिंह का दरबार में प्रवेश एक गम्भीरता छा देता है। राजा ने पूछा कि बालक ! तुम्हारी बटारी भी वैसी ही बटारी है, जैसी तुम्हारे पितामह की थी। यहाँ पर बालक का उत्तर संचनीय है—

दादा ने कटारी वह मेरे पिता के लिए
 छोड़ी, और मेरे पिता सौंप गये मुझको।
 पतंगी के साथ वह मेरे इस पार्व में
 अब भी है पृथ्वीनाथ, एक जोधपुर क्या ?
 जितने ही दुर्ग पड़े रहते हैं सवंदा
 धात्रकीर्ति-कीपवाली पतंगी में उसकी।
 सचची बात कहने से घाय एठ जावेंगे;
 किन्तु जब पूछते हैं कैसे क्यूँ भूठ मैं ?
 होता न जो जोधपुर पतंगी में उसकी
 कहिये तो कैसे वह प्राप्त होता घायकी ?

राजा ने बालक को छाती से लगा लिया और उसे अपना सरदार बनाया।

इस काव्य में वचन-दृढ़ता, धात्र-धर्म, बाल-वीरता और प्रगूत्सव का उत्तम आदर्श उपस्थित किया गया है। वास्तव में अतीत गौरव की यह गाथा हमारे लिए परम हितकर है।

‘गुरुकुल’ काव्य में भी गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्दसिंह और बहादुर बन्दावैरागी की वीरता का वर्णन है। पिता की मृत्यु के पश्चात् गुरु गोविन्दसिंह ने मुगलमानी से लोहा लेना आरम्भ किया। उन्हें एक उपयुक्त साथी की आवश्यकता थी। एक दिन उन्हें बन्दा मिला जो मृगया करते समय एक मृगी की सफल दृष्टि से क्लिष्ट होकर वैरागी हो गया था। गुरु ने उसे गतार में रहकर घातनायिकों का गमना करने के लिए प्रेरित किया। यह प्रसंग बड़ा तर्कपूर्ण एवं कर्तव्यपरक है। बन्दा अकर्मण्य अघस्या मे कर्मण्यथावस्था को ग्रहण करता है और मुगलमानी के विरुद्ध हिंदू और सिक्खों की महापनायें गुरु करता है परन्तु अन्त में पारस्परिक घृण उनके अन्त का कारण बनती है।

दश काव्य में विरति से संसार-मेवा, जाति-रता एवं राष्ट्र-प्रेम को अधिक महत्व दिया गया है। अहिंसा का महत्व है अक्षय परन्तु अत्याचारियों की हिंसा पाप नहीं। दशो प्रकार मन्मागाधम उच्चतम अघस्या है परन्तु परमायंरता दश अकर्मण्यता मे वहीं श्रेष्ठ है। यही आदर्श दश काव्य का मूल तत्व है।

‘तारुण्य’—गाकेन एक महाकाव्य है त्रिगमं तदमणु नायक और उमिता नायिका हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ‘अदियों की उमिता विगय उदा-

सीता' नामक लेख लिखा था। गुप्त जी को भी यह उपेक्षा भ्रष्टरी। परम-कृपायु आदि कवि ने भी इस पतिप्राणा सर्वोत्सर्ग-धारिणी भवला के विषय में एक शब्द भी न लिखा। महात्मा तुलसीदास भी इस विषय में उदासीन ही रहे। गुप्त जी ने ऐसे महान् आदर्श चरित्र को उपेक्षित देख कर 'सावेत' का निर्माण किया। यह काव्य महाकाव्य है भवश्य परन्तु इसमें महाकाव्य के लक्षण पूर्णतः घटित नहीं होते। नायक लक्ष्मण पीरोद्धात नायक हैं परन्तु नायिका शान्त, दान्त और वियोग-तप्ता है। वह स्वयं अपने पति से भी विस्मृता है। पति नायक होता हुआ भी राम का दाम है, उनका एक सवेत लक्ष्मण की शान्त करने के लिये उसी प्रकार सामर्थ्यवान् है जिस प्रकार महावत का भ्रुकुश एक उद्वत गज को। लक्ष्मण का चरित्र राम के चरित्र से उसी प्रकार दब गया है जिस प्रकार नगाड़े के शब्द में तूती का शब्द दब जाता है। स्थान-स्थान पर लक्ष्मण का उद्वगत भौद्धत्य राम के शांत वचन से शीघ्र ही ढल जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो लक्ष्मण की नकेल राम के हाथ में है। वास्तव में लक्ष्मण राम की बठपुतली है। राम और सीता सर्वत्र छाये हुए हैं। लक्ष्मण का प्रत्येक कार्य राम और सीता ही के लिए है। इसीलिए उसका प्राधान्य है अन्यथा सावेत का सम्पूर्ण कथानक राम की परित्रमा करता-सा दृष्टिगोचर होता है। काव्य का प्रधान प्रतिभायक रावण भी राम द्वारा ही नाश को प्राप्त हुआ है। उमिला का वियोग-वर्णन अधिक होने हुए भी सीता के दुःख से बढ नहीं पाया है। प्रवृत्ति-वर्णन यद्यपि उमिला के वियोग में शान्ति के निमित्त है परन्तु मूलतः उद्दीपन का कार्य कर रहा है। हम एक-एक भावना को भी प्रधान रूप से अनुस्यूत हुआ नहीं पाते। न इसमें भक्ति का उद्रेक है और न कर्म की प्रधानता। राम के प्रति कवि के हृदय में भक्ति का चरभोत्कथं भवश्य है परन्तु काव्य में उसका प्रदर्शन नहीं। तुलसी के राम यहाँ पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हुए हैं। वहीं-वही उनमें ईश्वरत्व का आभास भवश्य मिलता है। मानस में भ्रलोकिवता को स्थान दिया गया है। मन्वरा की बुद्धि के वंपरीत्य में देवताओं और सरस्वती का हाथ था और वह भी वियोग अभिप्राय से अन्यथा राम के वनवास न होने से रादासों का संहार न होता और मुर, मुनि एवं जन-समाज का परित्राण एवं उद्धार न हो सकता था। गुप्त जी ने इम भ्रलो-किवता को स्थान नहीं दिया है और मन्वरा को मन्वरमति के रूप में ही चित्रित किया है। वत्तमान युग दिव्यता में विरवास भी नहीं रखता, हो सकता है इसी-लए इसका परिहार किया गया हो।

चरित्र-चित्रण में गुप्त जी ने भवश्य कीमत दिखाया है। राम, सीता,

सदमण, भरत, दशरथ, कैकेयी, कौशल्या, दानुष्म और उमिता सभी के चरित्र भादसं-चरित्र है।

सुलसी के राम और सीता 'साकेत' में भी एकाधिपत्य जमाये हुए हैं। वे प्रभु हैं, शासक हैं, दानुशाला हैं और हैं सम्पूर्ण घटना-चक्र के परिभ्रामक। गुप्त जी द्वारा लिखे महात्मा जी के प्रति एक पत्र में राम को नायकों का नायक, सब का शिक्षक और शासक कहा गया है। वे साकेत में भी राम के विषय में एक स्थान पर लिखते हैं—

धरनों के हो नहीं परों के प्रति भी धार्मिक ।
 कृती प्रवृत्ति-निवृत्ति-भाग्य-मर्यादा धार्मिक ।
 राजा होकर गृही गृही होकर सन्धासी ।
 प्रकट हुए भादसं रूप घट-घट के वासी ॥

इस प्रकार राम को एक धर्मात्मा, मनस्वी, मुकुती, रत्न भी विरत धतएव प्रवृत्ति-निवृत्ति-भाग्य के विधायक और सरदार, भादसं मर्यादापुरपोतम और मवेततः दिव्य-विभूति के रूप में चित्रित किया है। राम के इस विराट् मानवीय-रूप में सदमण का भादसं-रूप भी पिहित हो गया है। सीता भी देवी के रूप में अत्रित हुई हैं। वे भी नायक की पूज्या हैं। सीता के दुस के समझ उमिता का अपार दुःख भी उपेक्षित सा हो गया है। राम की गम्भीरता, विसोम-हीनता, कर्तव्यपरामणता, मानु-भक्ति और बन्धु-श्रेम धादि गुण समुचित रूप में ही वर्णित हुए हैं। ये सभी गुण निम्न पक्तियों में तितने उज्ज्वल रूप में व्यक्त हो रहे हैं—

धरे, यह बात है तो खेद क्या है ?
 भरत में और मुझमें भेद क्या है ?
 करों वे प्रिय यहाँ निज कर्म-पासन,
 कहँगा मैं विदित में धर्म-पासन,
 विता ! इसके लिए ही ताप इतना ।
 तपा माँ की अहो ! अनिशाप इतना ।
 न होगी धन्य की तो राज-तस्ता,
 हमारी ही प्रकट होगी मर्ता,
 जन्मविय होगा लोक-रंजन,
 यहाँ जन-भ्रम यहाँ मुनि-विप्लव भंजन ।

सदमण नायक हैं वो दानुशालानु धरणी के रूप में बड़ी विचित्रता से

चित्रित हुए हैं। वे अन्याय के कट्टर शत्रु हैं—न उन्हें पारिवारिक अन्याय सह्य है और न अन्याय। भाई के बनवाम में कैंकेयी को मूल कारण समझकर वे भापे से बाहर हो जाते हैं और शोचन्य दिखाते हुए कहते हैं—

भरे, मातृत्व तू अब भी जताती !
ठसक किसको भरत को है बताती?
भरत को मार डालूँ और तुम्हको,
नरक में भी न रखूँ ठीर तुम्हको !
युधाजित घाततायी को न छोड़ूँ,
बहन के साथ भाई को न छोड़ूँ ।

इन शब्दों में वे मर्यादा का उल्लंघन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। भ्रातृ-प्रेम से धलछलाता हृदय लिए भरत जब सदल-बल राम-सीता और लक्ष्मण को प्रत्यावर्तित करने के लिये वन में पहुँचते हैं तो लक्ष्मण की प्रचण्ड प्रकृति सन्देह से विर्यली हो जाती है और निम्न कटुक बचनो को उद्गारित कराती है—

धुनता हूँ, भापे भरत दल-बल से,
धन और गगन है निकल चमू-कलकल से ।
विनयी होकर भी करूँ न आज अनय वे,
विस्मय क्या है, क्या नहीं स्वमातृनय वे ?
पर कुशल है कि असमय नहीं है हम भी,
जैसे को जैसे, एक बार हो घम भी ।

लक्ष्मण नायक होते हुए भी उपयुक्त गम्भीरता से हीन हैं। उद्धत हैं पर शोचन्य की सीमा होती है। अभिन्न भ्राता पर अद्विवेकपूर्ण व्यग्य बसना सोना नहीं देता। किन्तु उनमें अन्याय से चिड़ है, जो महान् गुण है। वे श्रीचिरय का प्रतिभरण रंचमात्र भी नहीं देख सकते। राम और सीता उनके पाराध्य हैं अतः साकेत में उनकी सम्पूर्ण बेष्टाएँ राम-सीता के लिए ही हैं और काव्य का अपिर्वास कथानक भी इसी भाव की पूर्ति के लिए निमित्त हुआ है। लक्ष्मण का राहित्य काव्य-कथानक में प्राण-हीनता का कारण होता है अतः लक्ष्मणी घटनाचक्र ही काव्य का सूत्र है। इसीलिए लक्ष्मण इन काव्य में नायक हैं।

मूर्च्छा-मुक्ति के अनन्तर विधामार्ग राम से धादिष्ट होने पर भी उनके अकस्यत में पड़े हुए लक्ष्मण के निम्न शब्दों में उनकी महानता का आभास मिलता है—

हाय माय ! विधाम ! शत्रु अब भी है जीता,
कारागृह में पड़ी, हमारी बेबी सीता ।

जब तक रहा प्रचेत धवला था आप पड़ा मैं,
धव सचेत हूँ और स्वस्य ममद्वय खड़ा मैं ।

× × ×

धायं अयोध्या जायें युद्ध करने में जाऊँ,
पहले पहुँचें आप और मैं पोछे आऊँ ।
यदि वंदी को मार न कुतलरुमी को साऊँ,
तो मेरा यह साप मुझे सुगति न पाऊँ ।

इस महाकाव्य के नायक के योग्य ही वे बचन थे । लक्ष्मण वीर थे, आत्माभिमानि थे और थे आततायिना के परम विरोधी । साथ ही वे गुरुभक्त और राम के उपासक थे । राम की सेवा के लिए वे प्राणप्रिया उर्मिला को भी विस्मृत कर देते हैं । वास्तव में ऐसा महान् चरित्र विश्व-साहित्य में मिलना दुर्लभ है । राम लक्ष्मण के लिए सब कुछ होते हुए भी समाज की मर्यादा के रक्षक और धर्म-संस्थापक थे और सीता भी तदनुकूल भावों से भक्तः लक्ष्मण के हृदय में उनके प्रति श्रद्धा का होना सहज था । इसमें उनके नायकत्व में विशेष बाधा नहीं आती । दूसरी बात यह है कि कवि दीना उर्मिला का ही चरित्र प्रकृत करना चाहता है और माकेत की चन्द्रविक्रान्त भी द्रवित चन्द्रवान्तमणि भी यही है भक्तः वही नायिका है । लक्ष्मण उनके प्राणघन है । स्नेहवचिना उर्मिला रूप दीर्घाचि मे उगका दालभ दूर खला गया है भक्तः उसकी जीर्ण-शीर्ण अवस्था के साथ लक्ष्मण का ध्यान पाठक को विस्मृत नहीं होता इगोलिए लक्ष्मण नायक हैं ।

भरत का चरित्र अपने में पूर्ण है । वे एक दान्त, दान्त, मातृ-पितृ-सेवा भानु-भक्त चित्रित हुए हैं । वे वास्तव में कर्तव्य की मूर्ति ही हैं । गुण जो ने इस चरित्र का आधार मानस ही रक्ता है । परन्तु हम मानस की अपेक्षा भक्त की भी उज्ज्वल रूप में माकेत में देखते हैं । राम के बचवास और पिता के निधन में वे अपने की ही मूल कारण समझते हैं और अपने की महत्तम पापी बट्ट कर वरदान को अभिज्ञाप बतलाते हैं—

बौन हा ! भूमगा पतित-धनिपाय ?

हो गया घर ही जिते अभिज्ञाप !

वे अपने की सम्पूर्ण धनसंपूर्ण पटनाचक्र का भामक समझते हैं भक्तः इसके परधाताप के लिए कौरव्या, मुनिना, राम-सीता तथा लक्ष्मण और उर्मिला

का अपने को अपराधी मानते हैं। वे कौशल्या के समझ फूट-फूट कर रोते हुए कहते हैं—

भरत-अपराधी भरत है प्राप्त,
दो उसे आवेश अपना प्राप्त।
घाज भां मुझमा अधम है कौन।
मुंह न देखो, पर न हो तुम मौन।

इसके उत्तर में कौशल्या उन्हें सान्त्वना देती है और छाती से लगाती हुई कहती है—

घरस रे राजा, जुड़ा यह अंक;
भानुकुल के निष्कलंक मयंक।
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है, भिन्न केवल नाम।

कौशल्या के इन शब्दों में भरत का उदात्त चरित्र विदित होता है। वे सदलबल राम-सीना और लक्ष्मण को लौटाने के लिए जाते हैं। वहाँ उन्होंने आत्मज्ञानि प्रदर्शित करने के लिए जो व्यंग्य वचन कहे हैं वे बड़े ही मार्मिक हैं। राजभोग को छोड़कर चौदह वर्ष पर्यन्त राम की ही भाँति वल्कल धारण कर एक कुटी में रह कर राम के अनुचर की भाँति शासन चलाते हैं, यह जितना महान् श्याम और कितनी दिव्य कर्तव्यरायणता है।

दशरथ के चरित्र में उदात्तता होते हुए भी एक झुट्टि दीख पड़ती है और वह यह कि एक महान् विजेता, अनुपम शूर तथा परम धीर व्यक्ति होते हुए भी वे आपत्ति के आपन्नित होने पर बालक की भाँति झपकी हो जाते हैं, फूट-फूट कर रोते हैं और अन्त में प्राण दे देते हैं। परमप्रिय पुत्र के वियोग में प्राणान्त हो जाना सम्भव है परन्तु चरम अपौरुता ऐसे महज्जन के लिए शोभा नहीं देती।

कौशल्या का चरित्र भी अनुकरणीय है। अपनी परम अहितकारिणी बंकेयी को वे अग्नि ही समझती हैं और उसके पुत्र को अपना पुत्र। ननिहाल से घाने पर जब भरत कौशल्या के समझ अपने को अपराधी बतलाते हैं और पङ्कजवारी कह कर आत्मज्ञानि प्रदर्शित करते हैं तब कौशल्या यह कह कर अपना महान् मानुत्व प्रदर्शित करती हैं—

भूठ—यह सब भूठ, तू निष्पाप;
साक्षिणी तेरी यहाँ मैं आप।
भरत में अभिसन्धि का हो गंध,
तो मुझे निज राम की सौगन्ध।

घोर वे घागे उन्हें सूर्यकुल का निष्कलक मयंक कहती हुई अपना राम ही बतलाती है ।

सुमित्रा का चरित्र भी इससे कम उज्ज्वल नहीं । राम-सीता की सेवार्थ अपने लाहले लक्ष्मण को सहर्ष भेज देती है । बनवास राम को हुआ था परन्तु फिर भी अपनी छाती पर पत्थर रख कर राम से अभिन्न लक्ष्मण को उनके साथ जाने देती है, यह कोई छोटा त्याग नहीं । विश्व-साहित्य में ऐसे उदाहरण कम ही मिलते हैं ।

साकेत में सम्पूर्ण सक्क की जननी कंकेशी ही है । मानस में तुलसीदास ने कंकेशी की बुद्धि को मन्धरा के माध्यम से गरस्वती के द्वारा भ्रष्ट करा दिया है । इसका कारण यह था कि कंकेशी राम की अत्यधिक प्यार करती थी, यदि उसकी बुद्धि न फिरती तो वह दोनों बरदानों को इन रूप में न माँगती जिससे राम-बनवास न होता और न फिर राक्षसों का संहार एवं मुनि-यज्ञ-रक्षा हो होती । इसके लिए तुलसीदास को ऐसा करना पड़ा परन्तु गुप्त जी ने मन्धरा की बुद्धि वाञ्छातुरी से ही यह सब करा दिया है । मानस में कंकेशी दोषी नहीं बड़ी जा सकती क्योंकि वहाँ परमश्रद्धालु भक्तों के लिए असीकिक शक्तियाँ काम कर रही हैं । साकेत में असीकिकता को स्थान नहीं दिया है । कंकेशी एक मानवो है और वह भी सपत्नी । अपने पुत्र के हितार्थ राम का बनवास माँगना नैसर्गिक था । पुत्रः पति-विधोम और कल्पना के भी विपरीत पुत्र का अत्यन्त दुःख और क्लिष्ट एवं परिताप-दग्ध होना उसकी बुद्धि को पुनः स्वस्थ कर देता है । यह भी स्वभावज ही है अतः कंकेशी का चरित्र-विकास मनोवैज्ञानिक है । पति-निधन से प्रथम बार उसकी भाँखें खुलीं और पुनः मरत के वास्तविक रूप को पहचान कर वह सचेत हो गई ।

भरत जब राम को लौटाने के लिए बन में गए तो कंकेशी भी गाप गई । वे धामल्यपूर्ण हृदय से राम से बोलीं—

हां जमकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब गुन सैं, तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सब है तो फिर शीट असो घर भँपा,
अपराधिन मैं हूँ तब, तुम्हारी मँपा ।

और घागे करने को पितामही हुई कहती है—

धुन-धुन तक चलती रहे बटोर बटानी,
रघुबज में भी थी एक अमागिन रानी ।

इस प्रकार बँकेधी की मति की हम प्रथम भ्रष्ट और पुनः अनुत्पन्न देखते हैं, जो सम्भव एवं स्वभावज है।

शत्रुघ्न के चरित्र में हम भारतीय स्वतन्त्रता से पूर्व एक राष्ट्रमरुत का हृदय उन्मुक्त हुआ देखते हैं।

इस महाकाव्य की नायिका है उपेक्षिता भवला उर्मिला। वनवास राम को हुआ था, लक्ष्मण तो कर्तव्य-दम भयज के साथ गये थे। सीता का रदन और अनुनय-विनय सकल हुई और वे वन में माय जाने के लिए आशिश हो गईं परन्तु उर्मिला किसमे कहती, वह लक्ष्मी थी अतः दुःखियों के समस्त हृदय को खोलकर रखने का उसे अधिकार भी वहाँ था और यदि कहती भी तो मुनता कौन क्योंकि उसका प्राणघन स्वतन्त्र रूप में वन-विहार को नहीं जा रहा था वरन् राम के अनुवर के रूप में उनकी सेवा-नुशूया के निचे जा रहा था और भार्गव के साथ रहने यह कर्तव्य-निवहन हो नहीं सकता था। विचारो मन मारकर रह गई, करती भी क्या।

उर्मिला का विपाद मानव-प्रवृत्ति के अनुकूल है अतः गहलं नहीं। मनस्वी विदेह की मुरुषी, मुरों के भी सहायक महापराक्रमी महाराज दशरथ की पुत्रवधू और यज्ञस्थी लक्ष्मण की सहधर्मिणी इतनी भवना कि पतिवियोग में उसका रोम-रोम रोवे और इतनी सतप्त कि कवि को एक समूचा सर्ग ही विविध विलास-प्रनापों से भरना पडा, यह भादचर्य-प्रदर्शन समुचित नहीं क्योंकि प्रिय-वियोग दुःख का कारण होता है और वह निसर्गज है। उर्मिला यद्यपि वीरप्रभू और वीरवधू थी परन्तु भी एक मानवी। उसमें धर्म और स्थैर्य का अभाव था यह भी नहीं। वन-गमन के समय उर्मिला के निम्न शब्दों में कितनी उदात्ताशयता है—

बहा उर्मिला ने—“हे मन ! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन ।
 भ्रातृ स्वार्थ है त्याग भरा । है अनुराग विराग-भरा ।
 तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से घूर्ण न हो ।
 भ्रातृ-स्नेह-मुखा बरसे, भू पर स्वर्ग-भाव सरसे !”

तुलसीदास ने मानस में उर्मिला के विपाद की एक रेखा ही खींची है, उसे विज्ञान भू पर निस्तून नहीं होने दिया है। सम्भवतः इसलिए कि उन्हें राम-गुरु ही माना था। जो पात्र इसमें कितना महापुरु था या हुआ उसको उतनी ही मात्रा में उन्होंने चित्रित किया है। दुःखी को उर्मिला की विरह-व्यथा गुनानी थी। परन्तु यह व्यथाजन कुछ सीमा तक अधिक हो गया है। नवम सर्ग में कल्पना ने अनुभूति पर विचार पाई है। पन-गम पर छन्द और

विषयों का परिवर्तन काव्य-कला में कल्पना का समुचित स्थान तो स्थिर करता है परन्तु उमिला की स्वानुभूति का परिचय नहीं देता । विषाद की घन बलाहक-माला में मनस्वियों का पुञ्जीभूत बन भी नल-नीर की भाँति छिन्न-भिन्न हो जाता है । कारण का श्रोत सरिता बनकर भ्रमर सागर हो गया है, जिसमें दुर्बल पाठक अपने को गोते साठा ही पाता है । अतः उमिला पाठक की महा-नुभूति, दया और कारुण्य का पात्र है, उसके लिए उसके हृदय में स्थान भी है परन्तु थड़ा नहीं है । दुसिया दमा ही पा सपती है, थड़ा नहीं ।

उमिला के चरित्र में एक विशेषता है कि दूसरों को दोष दिए बिना ही सब कुछ सहती है । वह कँकेयी के विषय में इससे अधिक क्रुद्ध नहीं रहती कि माँ ने बिना समझे-बूझे यह क्या कर डाला । कँकेयी के विचार-परिवर्तन और अनुत्पाप के अनन्तर तो वह उमली ब्यथा-हारिणी ही बनती है । माताओं और देवर भरत को अपनी उपस्थिति में जहाँ वह गोरु-मन्तप बनाती रहती है, यहाँ वह उनका गोरु हरती भी है । वह सच्ची साध्वी है, जिसके मन, मस्तिष्क और भावना में एक प्रिय पति ही व्याप्त हो रहा है अतः उसके विमोह में वह दीना, हीना और विचला है । चित्ररूट में इग बाला का महान् त्याग देखकर सस्मरण भी स्वयं उसके पैरों में गिर पड़ते हैं ।

गिर पड़े दोड़ सौमित्रि प्रिया पद-तल में ।

वह भीम उठो प्रिय-खरण घरे दृग-जल में ।

यह भस्वामाविक सा प्रतीत होते हुए भी मानवी-सीला में गेहियों का स्वामाविक चित्र है । मानव को देव बनाकर भक्ति करना भी उचित नहीं । मानवी उमिला की दृग्मे बड़ी महत्ता और क्या हो सकती है । वन में सोटने पर स्वयं भगवान् उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

तूने तो सहृदयभारिणी के भी ऊपर,

घर्मोपासन किया भाष्यशालिनि इस भू पर ।

मानवी चित्रण के कारण ही उमिला में सन्तान, विकसला और वृद्धता-मुक्त शीघ्र पटना है । यहाँ तक कि पतिमिलन के समय जीवन की दीर्घ रेखा दूर देती है । ये दुर्बलताएँ नहीं असुख मानवमात्र की स्वभाविक भेष्यार्थ हैं और इन्हीं के चित्रण में गहनता है । यह मन्त-रदनगीता प्रबला ही नहीं, शीर-बाता की है । अपने प्राणेश्वर को मेघनाद की प्रमोद शक्ति में बिड़ और अमंज मुन-कर वह त्रिदूय से बड़ी की भाँति संका-विजय के लिए गणनायें उलट हो जाती है । योग्य में उमिला देवी पूर्ण मानवी के रूप में चित्रित हुई है इसीलिए हमारी थड़ा का पात्र है ।

साकेत में काव्य-कला—साकेत द्वादश सगों में समाप्त होने वाला एक महाकाव्य है। इसका नायक क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न लक्ष्मण और नायिका उर्मिला है। कहा जा चुका है कि यद्यपि नायक का चरित्र भगवान् राम के चरित्र से दब गया है और इसी प्रकार उर्मिला का दुःख भी सीता के बनेस से महत्तर प्रतीत नहीं होता तथापि कवि के काव्य-निर्माण में इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कि उपेक्षिता उर्मिला का चरित्र-चित्रण ही बांध्यनीय है, हम कह सकते हैं कि उर्मिला ही नायिका के रूप में अभीष्ट है अतः लक्ष्मण ही नायक है। साकेत का अधिकांश कथानक लक्ष्मण और उर्मिला के त्याग को ही ध्वनित करता है। सीता देवी का दुःख अधिक हो सकता है किन्तु उर्मिला के दुःख में त्याग भरा है। सीता का दुःख दैवापतित है किन्तु उर्मिला का स्वेच्छावस है अतः उसमें त्याग है, महत्ता है और आत्म-तृप्ति है और उसमें यही एक महान् मदेश है जो भारतीय कुलपुरुषों के आदर्श जीवन का एक दिव्य रूप है।

इसमें युद्ध-वर्णन और प्रकृति-वर्णन भी है। यद्यपि प्रकृति-वर्णन उर्मिला की तार-शान्ति के लिए है परन्तु मूलतः वह उद्दीपन के रूप में ही ध्याया है। इन प्रकार प्रकृति-वर्णन से दोनों ही काम लिए गये हैं।

चरित्र-चित्रण तो इसमें उच्चतम कोटि का है, जैसा कि पहले नित्ता जा चुका है। सभी चरित्रों में त्याग और व्रत-धर्म का महान् मदेश हमें मिलता है।

रस, अलंकार, काव्यगुण और रीति की दृष्टि से तो श्रेष्ठतम काव्यों में से यह एक है। इसमें प्रधान रस करुण है और यों सभी रसों का यथास्थान समावेश हुआ है। गुण और रीति का प्रयोग भी रमातुल्य ही हुआ है। साकेत का नवम सर्ग तो अमूर्तपूर्व है। विरह विचला उर्मिला के हृदय में नवोद्दिप्त विभ्रम-भावों की भभा का जैसा सुन्दर विश्लेषण और चित्रण हमें यहाँ मिलता है वैसे किसी भी विद्योगिनी का अल्प-दुर्लभ है। उर्मिला के मुख से प्रकृति-वर्णन में तो गुण जो ने व्रतम तोड़ दी है। एक-एक छन्द अपनी नवीन मन्त्रधर और भाव-मन्त्रा में अलङ्कृत होकर ध्याया है। गुण जो के हृदय में सञ्चिन्त सम्पूर्ण बना का यह परिणाम है।

सम्पूर्ण काव्य में छन्द-योजना, अलंकार-विधान और उक्ति-वैविध्य उत्कृष्ट कोटि के हैं। उदाहरणतः कुछ उत्तम छन्द नीचे निम्ने जाते हैं।

पञ्जरस्थित वीर के सम्मुख ज्यों ही उर्मिला जाकर सड़ी हृदं, वीर विस्मित गा होकर गहमा मोन हो गया। उसी समय एक पार्श्व में लक्ष्मण ध्या गए। उस समय के निम्न परिहास में चित्रनी मनोहारिता है—

प्रेम से उस प्रेयसी ने तब कहा —
 “ये गुभापी, बोल, छुप क्यों हो रहा ?”
 पार्श्व से सीमित्रि आ पहुँचे तभी,
 घोर बोले—“तो, यताडू में घनी ।
 नाक का मोती अथर की कान्ति से,
 यौज दाड़िम का समभर भ्रान्ति से ।
 बेल पर सहसा छुआ शुक मोन है,
 सोचता है, अन्य शुक यह कौन है ।”

[भ्रान्तिमान् धलकार]

उमिना विनिमित्त चित्र मे मुग्ध लक्ष्मण की उक्ति में सजीवता देखिए—
 संजरी तो घँगुलियों में यह कला
 देख कर मैं क्यों न मुग्ध भूँ भला ?
 क्यों न अब मैं मत्त गज सा भूम लूँ ?
 कर-कमल साधो तुम्हारा चूम लूँ ।”

[उपमा]

कवि की गुनहरी कल्पना की एक गुन्दर भाँकी भी लीजिए—
 पहले घाँतों में घे, मानस में बूद मग्न प्रिय धब घे,
 छोटे छोटे उड़े घे, बड़े-बड़े अश्रु घे बब घे !
 मूर्खोदय हो रहा है । उमिना मूर्ख को हम का रुज देकर बलिग करती
 है । देखिए कितना विस्तारपंक अतएव प्रसंगर्नाय गाढ़ रूपक है—
 सक्ति, नील नभस्तर में उतरा, यह हंस घहा ! तरता तरता ।
 धब तारक मौक्तिक शेष नहीं, निबलता जिनको घरता-घरता ।
 धयने हिम दिन्दु गिने धब भी, घसलता उनको घरता-घरता ।
 गड़ जाये न पश्यक भूतल के, कर बाण रहा डरता-डरता ।
 हम प्रहार के घनेक बिज घोर गुन्दर घबन हमें हम बाध में उपास्य
 होने हैं ।

‘घनोपरा’—घनोपरा के विषय में मुञ्ज जी हम बाध के मुस्क में धयने
 लघु भागा गियारामगरण को सम्बोधित करते हुए बहने है—
 “देरी कान्ति का रिपार बिघे बिना ही मुझे लेने ही धनुरोप बिघा
 करने हो । बदिना गिनो, गीत गिनो, नाटक गिनो । घच्छी बाण है । मो
 बदिना, मो गीत, मो नाटक घोर तो गद्य-गद्य, तुषाल-धनुषांग गभी कृष,
 परन्तु बाण में शूद्र भी गरी ।”

इन शब्दों पर विचार करके श्री यशोधरा काव्य का रूप देत कर हम इस परिणाम पर आते हैं कि यह एक चम्पू काव्य है। चम्पू का लक्षण भी गद्य-पद्य-मय काव्य है—

गद्य-पद्य-मयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ।

यह काव्य भी एक उपेक्षिता नारी की पुण्यस्मृति में लिखा गया है। कवीन्द्र रवीन्द्र का संकेत पा कर महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कवि-उपेक्षिता उर्मिला के विषय में कवियों की उपेक्षा पर एक लेख लिखा था परन्तु उपेक्षिता यशोधरा का ध्यान उन्हें भी न आया था। गुप्त जी को यह सह्य न था। साकेत की उर्मिला ने उन्हें प्रेरणा दी और राहुल-जननी के दो-चार श्रामू चित्रित करने के लिए यह काव्य रच डाला। वे लिखते हैं—

“भगवान् बुद्ध और उनके अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार श्रामू ही तुम्हें इसमें मिल जायें तो बहुत समझना और उसका श्रेय भी ‘साकेत’ की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपापूर्वक बलि-वस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है।”

वास्तव में गुप्त जी भगवान् तयागत का पावन चरित्र चित्रित करना नहीं चाहते थे, वे तो यशोधरा के रूप में उस नारी का विवरण करना चाहते थे, जो सर्वत्र से उपेक्षिता रही है क्योंकि भगवान् का चरित्र तो ‘जातक’ ग्रन्थों में सविस्तर महत्व के साथ वर्णित हो चुका था तथा संस्कृत के महाकवि भद्रवर्षा ने भी ‘बुद्धचरित’ नामक काव्य में उनकी पूजा गाई थी परन्तु उनके साथ गोपा का—पतिव्रता किन्तु परित्यक्ता गोपा का—गान किसी ने न किया था, इस विषय में सभी ने शीशों पर ठिकरी रखा ही था। प्रायुक्तिक जगत भी इस विषय में मौन रहा। ऐडविन आर्नल्ड ने ‘दि लाइफ ऑफ एशिया’ नामक काव्य ग्रंथों में लिखा तथा १० रामचन्द्र गुरु ने इस काव्य पर मुग्ध होकर इसका ‘बुद्धचरित’ नाम से हिन्दी-अनुवाद कर डाला परन्तु जहाँ उन्होंने भगवान् का सुन्दर चरित्र लिखा, वहाँ वे गोपा को निपट विस्मृत कर गये। गुप्त जी ने गविणी गोपा की स्वयं-सत्ता देखी और उनके बिना गीतम भी उन्हें प्राप्त नहीं हुए इसीलिए वे महाराज गुडगेदन के शब्दों में कहते हैं—

गोपा बिना गीतम भी प्राप्त नहीं मुझको ।

धनः गोपा (यशोधरा) ही इस काव्य की नायिका है और भगवान् बुद्ध नायक। गुप्त जी को गोपा बिना गीतम प्राप्त न थे धनः उन्होंने काव्या-रम्य गीतम के दृशक में नहीं विवाहोपरान्त से किया है। किसी वृद्ध की बनेशपूर्ण दुर्वस्था से निपट हो उनका संसार-विनाश से उदासीन हृदय

सर्वतः विरक्त हो गया और अपनी प्राण-प्रिया नवोढा एवं प्रबोध तिगु को सुप्तावस्था में छोड़ महामिनिष्कमण के लिए निकल पड़े। महामिनिष्कमण के समय का वर्णन अश्वघोष ने इस प्रकार किया है—

वितरमभिमुखं सुतं च यत्नं जनमनुरत्तमनुत्तमां च लक्ष्मीं ।

वृत्तमतिरपहाय निर्व्यपेक्षः पितृनगरात्स ततो त्रिनिर्जंगाम ॥

अर्मान् पिता, पुत्र, परिजन एवं लक्ष्मी को त्याग कर वह पितृनगर से निकल गया। इसमें पिता आदि के साथ वे माता एवं पत्नी दोनों की गणना करनी भूल गये। माता के विषय में यह कहा जा सकता है कि वह गौतम को जन्म देकर ही इस लोक को छोड़ गई थी अतः कवि ने उसका नाम नहीं मिला परन्तु पत्नी के विषय में इनके प्रतिरिक्ता और क्या कहा जा सकता है कि कवि ने जानकर उपेक्षा की। शुप्त जी के शब्दों में कहना पड़ता है कि 'अमिताभ की धामा में उनके भक्तों की आँखें चोपिया गई और उन्होंने इपर देस कर भी नहीं देना।' राजा कवि शुप्त जी गोपा का त्याग कैसे कर सकते थे, उन्होंने महाराज गुणोदन की द्वितीय पत्नी तथा गौतम की धाय-माता महाप्रजावती का भी विरक्त माता के रूप में चित्रण किया।

महामिनिष्कमण के पदचान् यगोपरा, नन्द, महाप्रजावती, गुणोदन, पुरजन एवं अन्द्रक का विलाप है और पुनः सिद्धार्थ के शुद्ध-बुद्ध-रूप में प्रत्या-वर्तन तक यगोपरा का ही विविध रूपों में चित्रण हुआ है।

अगवान् अमिताभ का अरिच एक विरक्त एवं अमृतत्वान्वेषक के रूप में अंकित किया है परन्तु यगोपरा हमें दो रूपों में अंकित हुई दृष्टिगोचर होनी है—एक तो अमृतता के रूप में और द्वितीय मानिनी के रूप में। यह एक आर्षत्वलता है जो वीरप्रभू एवं वीरवधू है। वे क्षात्रधर्म से भती-भौति परिचित थीं और उम जाति से सम्बन्ध रखती थीं त्रिगर्भी कुल-वर्णुं धरने-धरने प्रियतम को प्राणों की बाजी लगने पर रण में महर्षे गुणजित कर भेज देती हैं। उन्हें प्रियतम के जाने का दुःख नहीं है, दुःख इस बात का है कि वे खोरी-खोरी गये— बह कर न गये—

निद्रिहेतु स्वामी गये, यह वीरवधू की बात,

पर खोरी-खोरी गये, यही बड़ा व्यापार।

तपि वे अमृतोत्सव कर जाते।

वे बह कर जाने तो गोरा को बापा रूप में न पाये। यह उन्हें महर्षे गर्व ने भरती। वह उनकी अर्धाङ्गिनी हैं और उगं विरहाग है कि स्वामी की जो निद्रिधाय होण, उगमें उगजा भी भाग होगा—

उसमें मेरा भी कुछ होगा, जो कुछ तुम पाओगे ।

यशोधरा के धर्म और स्वयं को देखकर शुद्धोदन भी उनसे पूछने हैं, 'यशोधरे ! तू धीरा है, वता में क्या करूँ ?' तब यशोधरा दृढ़ता के साथ उत्तर देती है—

उनकी सफलता मनाओ तात, मन से,
सिद्धि-लाभ करके वे लौटें शीघ्र धन से ।

धार्म्यललना पति के अनुरूप ही जीवन व्यतीत करती है । प्रिय ने चिकने-चुपड़े, कोमल-बन्धे, सुरभि-निवेश केश-जाल को जब कसंरी से काट डाला तो उसकी अर्धांगिनी शृंगार बयो करे । अतः स्वामी के चने जाने पर यशोधरा केवल हाथों में चार चूड़ियाँ और भाल पर सिन्दूर-बिन्दु ही चाहती हैं और इन्हें भी इसलिये कि ये मुहाग के चिह्न हैं । वे पति की इस प्रवचना पर रोप नहीं करती तथा 'यह मेरे कर्मों का भोग' कह कर भाग्य का दोष बतलाती और इन्हीं अपनी कठिन परीक्षा के रूप में ही ग्रहण करती हैं एवं इसमें पूर्णतः उत्तीर्ण होने के लिए अपने को कुमुद से भी अधिक मुकुमारी कह कर बचने भी कड़ी कठोर होने के लिए सावधान करती हैं ।

यशोधरा के धार्म्यपुत्र को संसार प्रसार प्रतीत हुआ और मुक्ति प्रिय लगी किन्तु यशोधरा को संसार हेय ज्ञात न हुआ । वे पति-अनुरक्ति में ही नारी की मुक्ति समझती थी । नारीत्व का त्याग कर मुक्ति की चाहना वे पसन्द नहीं करती थी अतः वे ललकार कर बहती हैं—

हे नारीत्व मुक्ति में भी तो ओ बंराग्य-बिहारो !

मुक्ति में भी नारीत्व है तो फिर संसार नारी से पूषक कैसे हो सकता है । भगवान् मुक्ति-नारी को पाने के लिए गये हैं फिर नारी की ही जीत है । मैं भी निज राज-भवन में बैठूंगी, उन्हें घाना होगा तो वहीं आवेंगे । मला भक्त नहीं जाते हैं, भगवान् ही आते हैं ।

भक्त नहीं जाते वहाँ, आते हैं भगवान् ;

यशोधरा के धर्म है अब भी यह अभिमान ।

मैं निज राज-भवन में,

सति प्रियतम हूँ धन में ?

यह अनुरागिनी यशोधरा की कसौति निरद्वय गवोक्ति है । उन्हें मान अवश्य है परन्तु रोप नहीं । वे जानती हैं कि उनका पति परम कारणिक है । गीतमी जब बहती है कि निर्दयी पुरुषों के पाले पड़ कर हम भवतापों के भाग्य में रोना ही तिहा है तो यशोधरा बीच में ही टोक कर बहती है—'धरो, तू

उन्हें निंद्य कैसे कहती है ? वे तो किसी कीट-पतंग का दुःख भी नहीं देख सकते ।'

वे प्रिय के वियोग में अपने छोटे राहुल से मन बहाती हैं । एक घोर जनकी घातों में पानी है तो दूसरी घोर घांचल में दूध है । नारी के दो ही रूप हैं—जाया घोर जननी । जाया के रूप में भारतीय सलना प्रायः धर्म ही बहाती है घोर जननी के रूप में अपने रस से सिनुमी को परिपुष्ट करती रहती हैं । अल-एव यशोपरा विकल हो कहती हैं—

अयला-जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी,

घांचल में है दूध घोर घातों में पानी ।

पति के वियोग में मधुरकना यशोपरा की रति सिनु राहुल की सौम्य-जन्म चेष्टाओं एवं मधुरोक्तियों से वात्सल्य में परिणत हो गई । वे मान किये घर में ही बैठी है, पति नहीं तो पति की यात्री तो है, पति-प्रेम नहीं तो पति-यात्री का ही धार महीं । वे भव पर मुक्ति-विभव की भी चारती हैं क्योंकि उन्हें विश्वास है कि यदि मनुष्य में नियम, दाम घोर दम हो तो सास व्याधियाँ भी उसकी घातम-समता में अस्वस्थता नहीं ला सकतीं घोर संयम के रहते बुझाया तो एक विध्वान्त है तथा मृगु नवजीवन-प्रदाता है अतः परम कृपानु है—

यदि हम में अपना नियम घोर दम-दम है,

तो सास व्याधियाँ रहें स्वस्थता सम है ।

बहु जरा एक विध्वान्त, जहाँ संयम है;

नव जीवन-दाता धरण कहीं निर्मम है ?

अब भावे मुझको घोर उमे में भाऊं ।

कह मुक्ति, भला, कित लिए तुम्हें मैं पाऊं ?

अतः वे अपने प्रिय की भी अत्र में भाव-विभाव भरने के लिये पुकारती है घोर विश्वास दिलाती है कि हम तरें या न तरें परन्तु दूबेंगे कदापि नहीं । अस्वस्थ-काम भी तो एक काम है, फिर हम स्वयमें धारण क्यों न करें ! अतः मगार-हेतु दान बार भरकर भी जन्म धारण करना पड़े तो हमें स्वीकृत है—

घामो, प्रिय ! अब मैं भाव-विभाव भरें हम,

दूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम,

अस्वस्थ-काम भी काम, स्वयमें धरें हम,

संतारहेतु दान बार सह्यें भरें हम ।

तुम मुनो क्षेम से, प्रेम मीत मैं गाऊं ।

कह मुक्ति, भला, कित लिए तुम्हें मैं पाऊं ?

पतिप्राणा यशोधरा जब गौतमी से अपने प्रियतम का सिद्धिलाम सुनती है तो गवें, हृषं और विपाद की मिश्रित भावशबलता में कह उठती है—

गोपा गर्वणो है आज, घाली, मुझे भेंट ले,
झांसू दे रही हूँ, कह और क्या अर्धेय है ?

शुद्धोदन और महाप्रजावती आकर सदेश देते हैं और पुत्र की अपूर्व योग-प्राप्ति से उल्लसित हो आशीर्वाद देते हैं कि गौरी और शंकर के समान ही गोपा और गौतम का नाम गण्य और गेय हो । पुत्र: वे उसने भगवान् के स्वागतार्थ चलने के लिए कहते हैं परन्तु मानिनी यशोधरा यही उत्तर देती है कि मुझे यह कक्ष छोड़ने का उनके निर्देश बिना अधिकार ही वहाँ है अतः मैं न जाऊँगी, ये ही मुझे आकर दर्शन दें या स्वयं बुलावें । भगवान् बड़ा में आरहे हैं, सखि कर्तृता है, हे देवि । प्रभु अजिर में आ गये हैं और तुम अभी कक्ष में ही बँटी हो, उठी, देखो, स्वयं अपवर्ग ही उतर कर आ रहा है । परन्तु गोपा—मानिनी गोपा—टस से मस नहीं होती और यही उत्तर देती है—

सखि, किन्तु इस हतभागिनी को ठौर हाय ! वहाँ वहाँ ?
गोपा वहाँ है, छोड़कर उसको गये ये ये जहाँ ।

अन्न में भगवान् ही स्वयं उसके पास पधार कर उसे गौरवान्वित करते हैं और उसे अधीर देखकर समझाते हैं—

दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति यह मन से, शरीर से,
धीएँ हुमा बन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से ।
घाया जब मार मुझे मारने को मार-मार,
अक्षरा-अनोक्तिनी सजाये हेम-हीर से ।
तुम तो यहाँ थीं, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ,
जुझा मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से ॥

शुद्ध-बुद्ध भगवान् भी नारी को भूत-दया की मूर्ति बनलाते हैं और अपने तपश्चरण से शुष्कप्राय अतएव धीएँ होने हुए शरीर की रक्षा में एक नारी श्रुत करणा का उदाहरण देने हुए गोपा की महत्ता का परिचय देने हैं कि वे ध्यान में भी उगे न भूल लके ये शरीरि जब मार हेम-हीर में मुमग्निन अक्षरा-दन को साया था तो अमुन-नारक के ध्यान ने नहीं, तुम्हारे ही निश्चल ध्यान ने मेरी रक्षा की थी और वाम काम वामा-मैत्र्य गमेत धून खाट गया

या । अन्त में भगवान् उसका मान बढ़ाने और संसार को नारीत्व का संदेश देने के लिए कहते हैं—

बतलाऊँ मैं क्या अधिक तुम्हें तुम्हारा धर्म,
पाला है तुमने जिसे, वही धर्म का धर्म ।

अनुरक्ता विन्तु मानिनी गोपा की विजय हुई । नारी पतिव्रता, पतिप्राणा और साध्वी ही तो उसे बनी में छाक छानने की आवश्यकता नहीं । गोपा ने घर बैठे ही भगवान् पा लिये । पुनः विजय पाकर भी संसार कल्याणार्थ एक घादसँ और उपस्थित किया । प्रश्न उठा कि घर आए मिथुक को वह क्या दे और मिथुक भी माधारण नहीं, उसका सर्वस्व और विद्व का वैभव । अन्त में अपने प्राणाधार राहुल को भी भगवान् के चरणारविन्दों का अनुगामी बना देती है और स्वयं भी उन्हीं चरण प्रहण कर लेती है—

तुम मिथुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी !
या अनु रूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी ।
मेरे दुःख में भरा विद्वसूल, क्यों न भले फिर मैं हाथी !
घुड़ें शरण, धर्म शरण, संघ शरण गच्छामि ।

यशोधरा में काव्य-कला—बहा जा चुका है कि यह धर्म काव्य है और यह भी विचित्र जिगमें गद्य, पद्य और नाटक सभी कुछ है । इसके नायक भगवान् बुद्ध और नायिका यशोधरा हैं । इसमें उपेक्षिता यशोधरा का चरित्र-चित्रण है, जिगमें एक महान् मदेश चरित्र होता है और वह है विगत प्रेम, त्याग और गौरव का संदेश ।

‘माकेत’ की उमिता ने गुप्त जी की यशोधरा की और मकेत अपश्य किया था परन्तु उमिता और यशोधरा में बड़ा अन्तर है । उमिता विपुला थी जब कि यशोधरा त्यला । उमिता का पति उमिता ने विदा होकर गया था और कर्तव्य-निष्ठा ने उन्हें पृथक् किया था धनः उनके वियोग में विवशता के साथ-साथ कर्तव्य-व्यसंगता भी कारण थी परन्तु यशोधरा की तो पार्थक्य का भाव भी न था, वह तो विदा की गुप्त गोद में घनेल पड़ी थी जब कि उसका प्राणाधार उसे छोड़कर गया गया और वह भी न जाने कहीं और मर्दन के लिए । उमिता कुछ धर्म के लिए तर में विपुल सत्ता के लुप्त थी तो यशोधरा धर्म एवं मर्दन के लिये त्यल सत्ता के महल थी । महभाग और धर्म के उदारता धरती महबरी ने धाकर विने और दगादि ने पूर्ण सम्भोग-गुण भोग एवं धर्म का भी पुनर्धन की धाना के बन पर बाटा परन्तु गौडम निरवधि

काल के लिए गये और वह भी अज्ञात स्थान में और लौटे भी तो शुद्ध-बुद्ध होकर। वे छुपकर दूर चने गये और मिलकर भी दूर ही रहे अतः यशोधरा—
त्यक्ता यशोधरा—मिलन के उपरान्त भी विद्युत्ता ही रही। उर्मिला के विपरीत यशोधरा को एक लाभ अवश्य रहा कि उसका राहुल उसकी सान्त्वना एवं मनः-
शांति का साधन बना रहा जब कि उर्मिला इससे वञ्चित थी। इसीलिए उर्मिला
हमें अधिक विवकल और सन्तप्त दीख पड़ती है। यशोधरा की पीड़ा वात्सल्य
से हलकी होती रही अतः उसमें मान भी सजग हो गया था किन्तु वह मान
मानिनी का ही मान था, एक अनुरागिनी का अना संव्रल या जिसमें रोष और
दुराग्रह का लेश भी न था। शेष त्याग की आधार-शिला पर निर्मित चरित्र-
भवन दोनों का प्रायः समान ही है।

यशोधरा का विरहिणी रूप हमें दीख तो पड़ा परन्तु भयावह रूप में
नहीं। हमें यशोधरा में विरहकृत मरण के प्रतिरिक्त अभिलाषा, स्मरण, चिन्तन,
गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि और भ्रूच्छा सभी दशाएँ मिलती हैं
परन्तु वह इनसे इतनी अभिमूढ नहीं होती कि विक्षिप्त हो जाय। राहुल का
वात्सल्य भी उसके संवेदन में सहायक रहा है। यशोधरा का विरह प्रवासनिमित्त
है अतः तीव्रता अवश्यम्भावी है परन्तु गुप्त जी ने दर्शन-मर्यादा का उल्लंघन
नहीं किया है। यशोधरा कृश अवश्य हो गई हैं, अरिचित-सी भी ज्ञात होती है
पर असक्षित नहीं और न उसके तप्त श्वासों से वन-उपवन ही जने हैं। हाँ,
भवेष्ठाकृत 'साकेत' की उर्मिला अवश्य अधिक सन्तप्त है।

इस काव्य में पचासों मात्रिक सप्त, विषम और अर्धसप्त छन्दों का प्रयोग
मिलता है। कहीं-कहीं पर गीत का प्रयोग भी है। यशोधरा और गौतमी
के संवाद में गद्य का भी व्यवहार हुआ है। कहीं-कहीं 'नेपथ्य में' कहकर नाटकीय
शैली भी व्यवहृत की गई है।

इस काव्य में प्रधान रस शृंगार और वात्सल्य है। शृंगार में विप्रलम्भ
का ही धंजन है और वात्सल्य केवल जननी और जात के कोमल और सुधुर
प्रश्नोत्तर के रूप में ही प्रायः चित्रित हुआ है। शेष में से करुण, वीर (धर्मवीर
और दानवीर) और शान्त का चित्रण हुआ है। रसानुबल गुण और रीति
का व्यवहार भी काव्य-सौष्टव का एक प्रधान भाग बना हुआ है।

धर्मकार-योजना सहज रूप में हुई है। कवि को उपमा अधिक प्रिय
थी ऐसा प्रतीत होता है। इस काव्य में भी उक्तिवैचित्र्य और शब्दों में मणि-
काञ्चन-योग दर्शनीय है।

इसमें स्थान-स्थान पर रहस्योन्मुख भावना भी दृष्टिगोचर होती है।

बौद्धों के निराशावाद और वैष्णवी भाशावाद का सुन्दर समन्वय इस काव्य का महान् सैद्धान्तिक सौन्दर्य है। भगवान् बुद्ध निराशावाद के प्रतीक हैं तो यशोधरा भाशावाद की। साकेत और यशोधरा में इतना अन्तर है कि साकेत में कथामूल भविच्छिद्र है परन्तु यशोधरा में कथा में तारतम्य होते हुए भी सन्निवृत्ता नहीं। यशोधरा में साकेत की अपेक्षा गीतात्मकता अधिक है जो हृदय को स्पर्श करने में सफल हुई है।

य.स्तव में यह काव्य युक्त जी का श्रेष्ठतम काव्य है और हिन्दी साहित्य-योग का एक अमूल्य रत्न है।

'द्वार'—द्वार में कवि ने नवीन शैली द्वारा कला का प्रदर्शन किया है। साकेत और यशोधरा में कर्त्तव्य-वरायण और पतिव्रता माध्वी नारियो का चित्रण था, जिसका मूलाधार त्याग ही था। राम का चित्रण एक महान् आदर्श के रूप में हुआ था और गीतम का बुद्ध-प्रबुद्ध के रूप में। साकेत में वैष्णवी भावना का प्राचल्य था और यशोधरा में बौद्ध और वैष्णवी भावना का समन्वय। 'द्वार' में एक नई समस्या को अतः चित्रण का रूप भी नूतन ही था।

साकेत और यशोधरा का निर्माण उपेक्षित नारियों की सहानुभूति और उनके हृदय में विद्यमान वियोगजन्य भावों के प्रकाशन के लिए हुआ था, जिनकी उपेक्षा मर्दों से कवि-सोक ने की, परन्तु नारी केवल उपेक्षिता ही नहीं, पुरुष द्वारा अपमानित और पीड़ित भी होती रही है। यह एक बाल्यात्मिक बात नहीं, ऐतिहासिक सत्य है। युक्तजी की दृष्टि ऐसी ही एक प्रयोजित और निराहत नारी पर पड़ी और वह भी विधुता, जिसके आह्वान पति ने उसे भगवान् कृष्ण के पास, जिनका गान वेद स्वयं करते हैं, जाने से रोका था। 'द्वार' की रचना में यह भी एक कारण है। इसके अतिरिक्त कुछ पारिवारिक परिस्थितियाँ भी कारण बनीं। युक्त जी ने इस काव्य की भूमिका में लिखा है—

"परन्तु जिन परिस्थिति में यह पुस्तक लिखी गयी है, वह सैशक के जीवन में बहुत ही संकल्प-विकल्पपूर्ण रही। क्या जानें, इसी कारण से यह नाम था गया अथवा अन्य किसी कारण से। यह भी द्वार—गन्देह की बात है।"

द्वार का अन्त विप्लव का समय था, जिनमें बंग, बाल्गामुर, जगन्धर और तिल्लुगल जैसे दुष्ट दान्यों का प्राचल्य था। इनका नाम अक्षयम्भावी था। अन्ति जब पाण-भारान्त्राण हो जाती है तो उनके उच्चारण से ही शक्ति की अवधारणा अक्षयम्भावी हो जाती है। उस समय भगवान् कृष्ण का अवधार भी इंगित हुआ था। यह बात तो पार्थ हृत्कार से पूर्व की थी, परन्तु बर्म-विचार-की बंग की घाटी देवारी हीरोडी के ममान दीन भाषा को देखकर युक्त जी को

वह काल स्मृत हो आया। यह बात पत्नी के प्रति इस पुस्तक के समर्पण में उनके निम्न शब्दों से ध्वनित होती है—

कर्मविपाक-कंस को मारो
 दीन द्रौपदी-सौ चिरकाल,
 अथि अबोध अन्तःपुरि मेरी
 अमर यही भाई का लाल।

कंस ने देवकी को दुख दिया, दुर्योधन ने द्रौपदी को, किन्तु वे क्रमशः भगवान् की जननी और कृपापात्री तो बनीं। विधृता पति से नियमित हो भगवान् के दर्शन भी न पा सकी, अतः प्राण-त्याग कर गई। इसमें पति-हृदय-गत सदेह ही कारण बना। वास्तव में सन्देह के जग जाने पर ही मनुष्य दुर्बल हो जाता है और यही आत्म-दुर्बलता उसके विनाश का कारण बनती है। सन्देह ही कंस के नाश का कारण हुआ। सन्देहवास ही मनुष्य नारी को प्रपीडित एवं प्रताड़ित करना है और यह नहीं सोच पाना कि नारी माता तथा बहिन भी हो सकती है एवं वह किसी को पिता, पुत्र और भाई की भाँति प्यार भी कर सकती है। यह एक समस्या है, जिमको कवि ने सम्मुख रखा है।

‘साकेत’ के राम लोकरक्षक और मर्यादाविधायक अश्वतारी पुरुष थे, तथा ‘यशोधरा’ के गौतम विरक्त मनस्वी। ‘द्रापर’ में ऐसे नायको की धार्ययकता न थी, जो दान्त हो, विरक्त हो, उसके नायक को तो दनुज-दल-भंजन और जन-भन-रजन होना चाहिए था। अतः कृष्ण ही इसके योग्य हो सकते थे। कृष्ण का यही रूप कवि को चित्रित करना था।

इस काव्य में क्रान्ति का एक सन्देश है। यहाँ उमिला और यशोधरा नहीं, जो दान्त भाव से घामू पीती हैं और रञ्जमात्र भी रोपाभिभूत नहीं होती, यहाँ तो देवकी, द्रौपदी और विधृता हैं जो उत्पीडन के विरुद्ध भावाज उठानी हैं और क्रान्ति चाहती हैं। नारी अपने अधिकारों की प्राप्ति चाहती है। इसके लिए उसे क्रान्ति भी वाञ्छनीय है, किन्तु त्यागहीन नहीं। राधा के चरित्र में यही सन्देश मिलता है। इस काव्य में सर्वत्र अत्याचार और उत्पीडन को हटाकर दान्ति और नवजीवन का सदेश मूँव रहा है। भगवान् कृष्ण का धाम अत्याचार को हटाना ही है। बलराम, कृष्ण, नारद, उद्व, देवकी, विजुता, राधा और कुञ्जा आदि सभी चरित्रों से यहाँ सन्देश मिलता है।

इस काव्य की एक विशेषता यह है कि यह गीति-प्रमुख है। साकेत से यशोधरा में और यशोधरा में द्रापर में गीता-मधुरता अधिक हो गई है। किन्तु

कहीं-कहीं ताकिकता ने भाव को हृदयस्पर्शी नहीं रहने दिया है, जो गीति-काव्य का विशेष गुण है ।

‘सिद्धराज’—यह पाँच सर्गों में समाप्त हुआ एक खण्डकाव्य है, जिसमें पाटन-नरेश सिद्धराज जयसिंह की वीरतापूर्ण विजयों का वर्णन है । इसका नायक सिद्धराज और नायिका सिन्धुराज की परित्यक्ता पुत्री एवं खंगार की पत्नी रानकदे है, जिसे खंगार की मृत्यु के पश्चात् सिद्धराज ने बलात् अपनी भार्या बनाना चाहा परन्तु भालवेश्वर के सामन्त और पुनः सद्ब्यवहार से अपनी धृष्ट वीर जगदेव की सामयिक भर्त्सना से जिसका प्राण हुआ ।

सिद्धराज ने नरवर्मा, खंगार, भर्णोराज और सिन्धुराज को हराया किन्तु वह विजयी होकर भी सुख न पा सका । भर्णोराज को बन्दी तो बनाया परन्तु भ्रत में उसे जामाता बनाना पड़ा । खंगार को मार कर उसके दो पुत्रों का भी बध कर डाला परन्तु फिर भी उसकी पत्नी रानकदे को न पा सका और उसमें भी नरवर्मा का वीर जगदेव ही बाधक हुआ । इसी प्रकार सिन्धुराज को जब पकड़ कर सामने लाया गया तो वह भी सिद्धराज के लिए रानकदे का स्मारक ही हुआ क्योंकि रानकदे सिन्धुराज की पुत्री थी और इन प्रकार उसने भ्रत क्लेश ही दिया । भ्रत में वह महोबे पर धात्रमण करता है परन्तु वहाँ उपयुक्त समय न पाकर एव महोबा नरेश के सम्भाषण से प्रभावित होकर सन्धि कर लेता है ।

वास्तव में धवि को सिद्धराज की वीरता का वर्णन करके नवयुवकों में उत्साह बढ़ाना ही प्रभोक्षित है और इससे धविक कुछ नहीं क्योंकि यह वाच्य हमने भिन्न कोई धात्रन उपस्थित नहीं करना । नामक कामुक है जो वीर होता हुआ भी एक पतिव्रता धात्राणी की बलात् बन्धित करता धात्रता है । रानकदे स्वयं उसे पशु बतलाती है—

धिल्ला उठी रानकदे “पापी पशु” कह के ।

रानकदे द्वारा प्रयुक्त ‘पापी पशु’ शब्द ही नायक की पाशविकता को ध्वनित कर रहे हैं । तत्पश्चात् गद्यभाष्य धात्रे जगदेव के ये शब्द भी—

कामी धूर कामुक ।

[सिद्धराज का हुआ ?]

भर गया, हाय ! तुम पापी प्रेय उत्तरे ।

यही धननाथे है कि सिद्धराज एक कामी पुरुष था । फिर ऐसे सम्यक् मनुष्य को नायक का पद देना और उसके धरित्र को धरिष्ठान करना सोभा नहीं देता । धामयित्र कामुकता मनुष्य में ही धरिणी है परन्तु यह धरानु है जो

परचाताप करले । सिद्धराज परचाताप नहीं करता, उसे परचाताप है तो इसका कि वह रानकदे को न पा सका ।

कथानक में संश्लिष्टता भी नहीं है । रानकदे के सती हो जाने पर इस काव्य को समाप्ति हो जानी चाहिए परन्तु कवि मिद्धराज की विजयों का वर्णन फिर भी करता ही जाता है । यद्यपि घटनाएँ ऐतिहासिक हैं परन्तु उनका प्रम सदिग्ध है, जैसा कि कवि ने अपने निवेदन में स्वयं लिखा है ।

काव्य में उद्देश्य एकच्छत्र राज्य स्थापन करना था परन्तु वह भी पूरा नहीं हुआ है ।

इस प्रकार यह खण्डकाव्य काव्यकला की दृष्टि से सरा नहीं उतरता । हाँ, मध्यकालीन बीरता की एक झलक हमें अवश्य मिलती है ।

‘नहुष’—एक छोटा-सा काव्य है, जिसकी सदिष्ट कथा इस प्रकार है । वृत्रासुर का भाई त्रिशरा तपोबल से इन्द्र-पदवी लेना चाहता था । इन्द्र ने अप्सरामों से उसे डिगाना चाहा परन्तु वह न डिगा । अन्त में इन्द्र ने उसका बध कर दिया । इसके प्रतिगोध में वृत्र ने युद्ध ठान दिया । इन्द्र को उमने सन्धि करनी पड़ी परन्तु एक दिन घोखे से उसे मार डाला । इन्द्र को ब्रह्महत्या का पाप लगा और उसे प्रायश्चित्त स्वरूप जल-समाधि लेनी पड़ी । स्वर्ग की रक्षा के लिए देव-गण ने राजा नहुष को इन्द्रासन पर बिठा दिया । राज्य-भद्र से उन्मत्त हो नहुष ने इन्द्राणी से परिणय करना चाहा । देवविधान उसके अनुमूल था अतः देवताओं की ओर से कोई प्राण न देखकर दाची को बट बिना हुई । अन्त में उमने एक चाम खली । उमने सोचा कि इस सबट काल में ऋषि ही सहायता करेंगे । उमने कहता भेजा कि राजा यदि ऋषियों से उद्धृष्ट पालकी में चड कर भायें तो मैं परिणय कर सूँगे । यह सुनकर राजा और देव बड़े प्रसन्न हुए । राजा ने अपनी पालकी में सप्त देवपियों को लगाया और उनमें बार-बार ठोकर खाने पर भी शीघ्र चलने के लिए डाट-ठपट की । क्रोध से पटवा हुआ उसका पैर एक ऋषि को छू गया । ऋषियों को क्रोध हो गया और अन्त में उन्होंने शाप दिया कि जा, दुष्ट ! सपं होकर तू पतित होजा । इस प्रकार नहुष का पतन और दाची का धर्म-रक्षण हुआ ।

काव्य छोटा-सा है परन्तु बड़ा रोचक है । देव-विधान से परवश इन्द्राणी—एक नारी—किस प्रकार नहुष से—एक सम्पट से—अपना धर्म-रक्षण करती है, यही इसका सार है । नारी-धर्म का संरक्षण ही विश्व का संरक्षण है, यही इसका संदेश है ।

गुप्त जी का हिन्दी साहित्य में स्थान—उपयुक्त पर्यालोचन ने गुप्त जी

के विषय में हम कुछ बातें निश्चित कर सकते हैं। भारतेन्दु जी के पश्चात् द्विवेदी काल की इतिवृत्तात्मक शैली के वे अनुसर्ता रहे हैं। प्रबन्धात्मकता में उनकी अभिरुचि विशेष रूप से संलग्न रही है। पिगल-पटुता और सहज झलंकारिकता तो उनकी प्रतिभा के देदीप्यमान गुण हैं। इस विषय में निश्चय ही इतनी प्रखर प्रतिभा वाला कवि आधुनिक काल में भारतेन्दु जी के पश्चात् और दूसरा नहीं हुआ। गुप्त जी के समान दूसरे किसी कवि ने इतने प्रबन्ध-काव्यों का स्रजन नहीं किया। यद्यपि उनमें अतीत का गौरव चित्रित है परन्तु साथ ही वर्तमान के निर्माण-विधान का संदेश भी है। इन दृष्टि में वे इस काल के प्रतिनिधि कवि हैं। राष्ट्रीयता का गान तो उन्होंने इतना नहीं किया परन्तु उन्हें देश प्रत्यन्त प्रिय है, देश का गौरव रचिकर है, देश की अवनति दुःखप्रद है और भेद-भावहीन देश की उन्नति सर्वाधिक इष्ट है अतः वे राष्ट्रीय कवि भी कहे जा सकते हैं। उनका उक्तिबैधिय अथवा अर्थ ही है। उनकी काव्य-शैली, प्रबन्ध-पटुता, विषय-बहुलता और उसमें वचन-रचना का चालुयं आदि गुणों ने उन्हें अन्य सभी आधुनिक कवियों से अधिक लोकप्रिय बना दिया है। उनकी रचनाओं में राष्ट्रवाद, समाजवाद, गान्धीवाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद और यहाँ तक कि छायावाद और रहस्यवाद सभी न्यूनाधिक रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। हिन्दुत्व के भक्त एवं परम वैष्णव होते हुए भी उनमें सुधार की तीव्र भावना, कुप्रथाओं के प्रति घृणा, सर्वधर्मप्रियता और समन्वयवादिता आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जो उन्हें सहज ही उच्चासन पर समासीन कर देती हैं। इन सभी गुण और विशेषताओं से वे आधुनिक काल के कवि-शरीरमणि हैं।

जयशंकरप्रसाद

हिन्दी के लघु-प्रतिष्ठ कवि, उपन्यासकार, नाटककार, कहानीकार एवं निबंध-लेखक श्री जयशंकरप्रसाद का जन्म सन् १९४६ (सन् १८८६ ई०) में काशी में मुंघनी साहू परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम बाबू देवीप्रसाद था, जो पंतुक परम्परा से मुरली और तम्बाकू का व्यापार करते थे। काशी में वे बड़े सम्मानित व्यक्ति थे अतः प्रसाद जी का पालन-पोषण बड़े सुखमय वातावरण में हुआ। वे निश्चिन्त भाव से स्तले-नीले एवं व्यायाम करते थे, घुड़सवारी से भी उन्हें प्रेम था अतः उनका शरीर बड़ा हट्ट-मुष्ट हो गया।

प्रसाद जी कबीर बॉनेज में केवल गानवी कक्षा तक ही पढ़ सके क्योंकि बारह वर्ष की अवस्था में उनके पिता का देहान्त हो गया अतः सारा कारोबार बड़े भाई रामपुरान को सौंभालना पड़ा और इन्हें भी भाई की सहायतायें स्कूल छोड़ना पड़ा। पुनः भाई ने इनके अध्ययन का प्रबन्ध घर पर ही कर दिया। ये घर पर ही अध्यापकों से अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और फ़ारसी पढ़ने लगे। संस्कृत की ओर इनकी विशेष रूचि थी अतः अग्न नापाप्पो की अपेक्षा संस्कृत का ज्ञान भीघ्न ही अच्छा हो गया और इन्होंने वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण और बौद्ध-जैन ग्रन्थों का अवलोकन प्रारम्भ किया, जो भविष्य में फल लाया।

सत्रह वर्ष की अवस्था में इनके बड़े भाई का भी देहान्त हो गया। अब तो व्यापार का सारा भार एवं परिवार की चिन्ता इन्हीं पर आ पड़ी और उसके साथ-साथ श्रम का कुछ भार भी। इन्होंने साहम से काम लिया और सभी आपत्तियों को भेदते हुए भीघ्न ही श्रम को चुका कर सारे कारोबार की व्यवस्था ठीक कर ली।

भाई के जीवन काल में ही इन्हें कविता गढ़ने का शौक हो गया था। ये दुबान पर बैठे कविता किया करते थे। भाई को कुरा भी लगता परन्तु त्रिने प्रसर कवि बनना था वह भला कैसे सकता। भाई की मृत्यु तक ये अच्छी कविता

करने लगे थे और सन् १९०६-७ में ही इन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में कविता देना प्रारम्भ कर दिया था। इनकी प्राथमिक रचनाओं में भारतेन्दु काल की विशेषताएँ हैं। उस समय प्राचीनता के प्रति नवीन जागृति के साथ-साथ एक आन्दोलन चल रहा था। प्रसाद जी ने भी इस नवीनता को अपनाया। 'इन्दु' में उनकी नवीन ढंग की ही रचनाएँ प्रकाशित हुईं।

इसके पश्चात् इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थ, उपन्यास एवं नाटक रचे और कहानियाँ लिखी जिनकी कालक्रमानुसार तालिका नीचे दी जायगी।

ये व्यापार के साथ-साथ सामाजिक जीवन में भी भाग लेते थे और साहित्यिक गोष्ठियों में भी परन्तु कभी भी प्रतिष्ठा एवं अधिकार के भूखे नहीं रहे। एक बार काग्यकुब्ज वैश्य-हलवाई-महामत्मा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के लिए इनसे सभापतित्व के लिए प्रार्थना की गई परन्तु इन्होंने बड़ी कठिनाता से स्वीकार की। उनके घर पर एवं दुकान पर साहित्यिकों का आना-जाना लगा रहता था परन्तु वे सभाओं और कवि-सम्मेलनों में जाने से कतराते थे, डर था पत्रकारों का।

इन्होंने 'इन्दु' के पश्चात् 'जागरण' में प्रारंभ किये। विनोदशंकर व्यास पाक्षिक जागरण के प्रकाशक थे। प्रसाद उसके प्रत्येक अंक में कुछ न कुछ सामग्री दिया करते थे। इस प्रकार इनका बड़ा व्यस्त जीवन था।

सन् १९३१ के दिसम्बर मास में ये कलकत्ता और पुरी की यात्रा भी करने गए। 'कामायनी' में समुद्र का वर्णन यहीं की स्मृतियों का परिणाम है।

सखनऊ की प्रदर्शनी से लौटने के पश्चात् २१ जनवरी सन् १९३६ को ये उ्वर से पीड़ित हुए। परीक्षा करने पर प्रतीत हुआ कि इन्हें राजपदमा रोग ने आक्रान्त किया है। रोग बढ़ता ही गया और दस मास पश्चात् नवम्बर में इस नदवर शरीर को छोड़कर इन्होंने स्वर्गारोहण किया।

कृतियाँ—

काव्य—उर्वशी चम्पू	सन् १९०९
प्रेमराज्य	सन् १९०९
शोकोच्छ्वास	सन् १९१०
कानन कुसुम	सन् १९१३
प्रेम-पत्रिका	सन् १९१३
कव्यालय (शीतिनाट्य)	सन् १९१३
महाराणा का महत्व	सन् १९१४

भरना	सन् १९१८
झाँसू	सन् १९२५
लहर	सन् १९३३
कामायनी	सन् १९३५
नाटक—सज्जन	सन् १९१०
कल्याणो-परिणाम	सन् १९१२
कमलालय (गीतिनाट्य)	सन् १९१३
प्रायश्चित्त	सन् १९१३
राज्यश्री	सन् १९१४
विशाख	सन् १९२१
अज्ञातशत्रु	सन् १९२२
जनमेजय का नागयज्ञ	सन् १९२६
कामना	सन् १९२७
स्कन्दगुप्त	सन् १९२८
एक घूँट	सन् १९२९
चन्द्रगुप्त	सन् १९३१
ध्रुवस्वामिनी	सन् १९३३
उपन्यास—ककाल	सन् १९२९
तितली	सन् १९३३-३४
इरावती	मृत्यु के पश्चान् प्रकाशित हुमा
कहानी-ग्रन्थ—छाया	सन् १९१२, १९१८
प्रतिध्वनि	सन् १९२६
आकाशदीन	सन् १९२९
घाँधी	सन् १९२९
इन्द्रजाल	सन् १९३६

निबन्ध—नाटकों की भूमिका

वाच्य और कला तथा अन्य निबन्ध

प्रमाद की साव्य-साधना—

प्रमाद जी की सर्वप्रथम पुस्तक है 'चित्राधार' । इनका प्रथम संस्करण सं० १९७५ (सन् १९१८) में प्रकाशित हुआ था, जिसमें दस पुस्तकें मकलित थीं—

- | | |
|-------------------------------|---------------------|
| (१) कानन कुसुम | (६) उर्वशी |
| (२) प्रेमपत्रिक | (७) राज्यश्री |
| (३) महाराणा का महत्व | (८) कल्याणलय |
| (४) सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य | (९) प्रायश्चित्त |
| (५) छाया | (१०) कर्माणो-परिणाम |

पुनः इकाका द्वितीय संस्करण इसके दस वर्ष पश्चात् सं० १९०५ (सन् १९२८) में प्रकाशित हुआ। इसमें इनकी प्रायः बीस वर्ष की अपनी सभी रचनाएँ रखी गईं। प्रथम संस्करण की अनेक रचनाएँ इसमें छोड़ दी गईं तथा अनेक अन्य सम्मिलित कर दी गईं। विश्राधार का जो संस्करण आज हमें मिलता है, उसमें निम्न काव्य-ग्रन्थ सङ्कलित हैं—

- | | |
|-----------------------|------------------|
| (१) उर्वशी | (५) प्रेमराज्य |
| (२) बभ्रुवाहन | (६) पराम |
| (३) अयोध्या का उद्धार | (७) मकरंद किन्दु |
| (४) वन-मिरान | |

इनके अतिरिक्त उसमें 'प्रायश्चित्त', 'सज्जन' दो नाटक, 'ब्रह्मर्षि' और 'पंचायत' दो कथाएँ तथा 'प्रकृति-मौन्दर्य', 'मरोज' एवं 'भक्ति' ये तीन निबन्ध हैं।

इस संस्करण में प्रायः ब्रजभाषा की काव्य रचनाएँ ही संग्रहीत की गईं और खड़ी बोली के काव्य, जो प्रथम संस्करण में थे, निकाल दिए गए तथा पृथक् प्रकाशित किए गए। उपलब्ध सग्रह में जो भी ग्रन्थ हैं, उन पर हमें हरिदचन्द्र बाबू का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

'उर्वशी' और 'बभ्रुवाहन' चम्पू ग्रन्थ हैं, अतः हम काव्य में ही उनकी परिगणना करते हैं। कविकुल गुरु कालिदास ने संस्कृत में 'विनमोदंशी' श्लोक लिखा था। प्रसाद जी ने उससे प्रभावित हो 'उर्वशी' चम्पू लिखा। भारतेन्दु जी ने भी 'रामलीला' नामक चम्पू लिखा था।

'उर्वशी' का निर्माण सन् १९०६ में हुआ था, परन्तु प्रकाशन बाद में हुआ। प्रथम संस्करण में जो 'उर्वशी' प्रकाशित हुआ था, उसमें द्वितीय संस्करण का 'उर्वशी' भिन्न है। इसमें उसके केवल कुछ छन्द लिए गए हैं, शेष का रूप निपट नहीं है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं और यह नाटकीय ढंग पर लिखा गया है। इसके अन्त में बन्दीगण का आशीर्वादन भी है, जो भरतवाचय-सा प्रतीत होता है। यजभाषा के 'प्रेमपत्रिक' के अनेक छन्द इसमें ज्यों के त्यों से लिए गए हैं।

यह ग्रन्थ निम्नकोटि का है। प्रसाद जी की प्रथम रचना होने के कारण

इसमें शैथिल्य अधिक है। न भाषा ही श्रेष्ठ है और न भाव ही प्रौढ़ है। राजा पुष्करवा और अप्सरा उर्वशी की प्रेम-कहानी को सरल रूप में लिख दिया गया है।

'बभ्रुवाहन' का पहला नाम 'चित्रागदा चम्पू' था। इसकी रचना सन् १६०७ में हुई, परन्तु १६११ में 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। उर्वशी की अपेक्षा इसकी भाषा शुद्ध और अलंकृत है, परन्तु इसमें भी लेखक ने केवल कथा कहना ही ध्येय बनाया हुआ है भ्रतः जीवन-सम्बन्धी उच्च भाव दृष्टिगोचर नहीं होते।

'अयोध्या का उद्धार' एक दम पृष्ठों का छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें राजा कुश द्वारा अयोध्या के उद्धार की कथा वर्णित है। इसकी कथा का आधार कालिदास का 'रघुवश' है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन इन्दु में 'अयोध्याद्वार' नाम से सन् १६१० में हुआ था। पुनः 'अयोध्या का उद्धार' नाम से यह सन् १६२८ में 'चित्राधार' में संकलित हुआ। यह भी ब्रजभाषा का काव्य है, जिसमें पग-पग पर छन्द का परिवर्तन है।

'वन-मिलन' भी एक छोटा-सा ब्रजभाषा का प्रबन्ध-काव्य है, जो सर्व-प्रथम 'वनवासिनी-बाला' के नाम से इन्दु में सन् १६०६ में प्रकाशित हुआ था। पुनः सन् १६२८ में 'चित्राधार' में 'वन-मिलन' नाम से संप्रहीत हुआ। इसमें कण्व के आश्रम में शकुन्तला एवं भरत के सहित राजा दुष्यन्त का ऋषि-परिवार से मिलन का वर्णन है। इस पर कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यह भी इनकी प्राथमिक रचना होने के कारण प्रौढ़ नहीं।

इन दोनों प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त चित्राधार में संप्रहीत एक और ब्रजभाषा का प्रबन्ध-काव्य है 'प्रेमराज्य'। यह भी तेरह पृष्ठों का एक छोटा-सा काव्य है। इसकी कथा का आधार ऐतिहासिक है, जिसमें विजयनगर के राजा सूर्यवैकुण्ठ और बहमनी राज्य के मुस्लिम शासक के युद्ध का वर्णन है और पुनः सूर्यवैकुण्ठ की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र चन्द्रवैकुण्ठ और मंत्री की पुत्री ललिता के प्रेम की कथा कही गई है। यह भी साधारण कोटि का ग्रन्थ है।

चित्राधार में संकलित इन तीन प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त ब्रजभाषा में प्रसाद जी ने एक प्रबन्ध-काव्य 'प्रेम-पथिक' और लिखा।

'प्रेम-पथिक' का वृद्ध अंश सन् १६०६ में इन्दु में प्रकाशित हुआ था। इसकी कथा काल्पनिक है, जिसमें प्रेम और पथिक का बड़ा सुन्दर वार्तावाप ह। पुनः यह मधीन और पृथक् रूप में लड़ी बोली में 'चित्राधार' में संप्रहीत हुआ, परन्तु इसकी कथा भिन्न है। यह उपर्युक्त काव्यों में श्रेष्ठ है।

प्रसादजी ने आईम निबन्धात्मक कविताएँ भी लिखीं जो चित्राधार के

'पराग' खण्ड में संग्रहीत है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने सर्वप्रथम 'बकरी-विलाप' एवं 'मुंह-दिखावनी' आदि ऐसी कविताएँ लिखी थीं। इनमें से 'शारदीय-शोभा', 'रसालमजरी', 'प्रभातकुसुम', 'सन्ध्यातारा' और 'चन्द्रोदय' आदि कविताएँ इनके प्रकृति-प्रेम को व्यञ्जित करती हैं तथा 'नीरवप्रेम' और 'विष्णुप्रेम' आदि प्रेम-भावना को। यद्यपि चित्राधार की बाईस कविताओं में से अन्तिम पन्द्रह 'काननकुसुम' के प्रथम संस्करण में, जो सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ था, विद्यमान थी परन्तु बाद के संस्करण में इसलिए निकाल दी गई कि वे ब्रजभाषा की थीं। 'पराग' की ये रचनाएँ सुन्दर बन पड़ी हैं। इनमें 'रमाल-मंजरी' सर्वश्रेष्ठ कविता है। मलयानिल के प्रति निम्न दो पंक्तियों में कितनी सरलता एवं मधुरता है—

बरबस कुल-कामिनि अंचल को नाहि उड़ाओ।

नव मुकुलित मजरी अहे इत धीरे आओ ॥

पराग की इन निबन्धात्मक रचनाओं के अतिरिक्त प्रसादजी ने 'शोको-च्छ्वास' नामक एक ऐसी ही रचना ब्रजभाषा में और की। यह सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। यह सम्राट् एडवर्ड सप्तम की मृत्यु पर लिखी गई थी। इसके दो भाग हैं—'अश्रुप्रवाह' और 'समाधि-सुमन'। इसमें सब चौदह रोला छन्द हैं। यह रचना कोई महत्वपूर्ण नहीं।

चित्राधार में कुछ ब्रजभाषा की मुक्तक रचनाएँ भी हैं, जो उसके 'मकरन्द विदु' नामक खण्ड में संग्रहीत हैं। उनमें तेईस कवित्त, तीन सर्वये और चौदह पद हैं। कवित्त एवं सर्वयों की शैली रोतिकालीन एवं पदों की भक्ति-कालीन पद्धति पर आधारित है परन्तु उनमें वह परम्परा भारतेन्दुजी के माध्यम से आई प्रतीत होती है। इनकी इन कविताओं में राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का चित्रण न होकर कुछ में प्रकृति-वर्णन है, कुछ में शृङ्गार-वर्णन और कुछ में भक्ति का निरूपण है। ये कविताएँ भी साधारण हैं।

यद्यपि ये रचनाएँ उच्चकोटि की नहीं हैं, परन्तु पराग की कुछ कविताओं में हमें छायावादी अभिव्यञ्जनारमक शैली का आभास मिलता है।

उपरिलिखित जिन रचनाओं का सूक्ष्म परिचय दिया गया है उन पर भारतेन्दु जी का प्रभाव था और वे ब्रजभाषा की कृतियाँ हैं। अब प्रसादजी की उन काव्य-कृतियों पर प्रकाश डाला जाता है जो पद्य बोली की हैं और जिन पर द्विवेदी जी का प्रभाव है। यद्यपि प्रसादजी द्विवेदीजी के समय में थे और उन पर द्विवेदीजी का प्रभाव भी पड़ा परन्तु उनका कवि-मण्डल पृथक् ही

रहा। द्विवेदीजी 'सरस्वती' पत्रिका निकालते थे, जिसमें प्रसादजी की दो-चार रचनाएँ ही प्रकाशित हुईं। उन्होंने काशी में 'इन्दु' नामक पत्र प्रकाशित कराया था और उसी में अपनी रचनाएँ देते थे। यह पत्र अपने समय का उच्च साहित्यिक पत्र था। इसने सरस्वती की भाँति हिन्दी-साहित्य का बड़ा उपकार किया। प्रसादजी की अपनी देन छायावाद का प्रचार है।

प्रसादजी खड़ी बोली में कविता बहुत पहले लिखने लगे थे परन्तु उनका वास्तविक खड़ी बोली का रचनाकाल इन्दु के साथ ही साथ प्रारम्भ हुआ। उनकी चार वाक्य रचनाएँ ऐसी हैं, जिन पर द्विवेदीजी का प्रभाव है परन्तु जिनमें रहस्य एवं चिन्तन की भावना प्रायः नहीं है। ये हैं 'कानन-कुसुम', 'प्रेम-पथिक', 'कदणालय' और 'महाराणा का महत्व'। इन पुस्तकों में द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मकता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

'कानन-कुसुम' का प्रकाशन सन् १९१३ में हुआ। यह इसका प्रथम संस्करण था, जिसमें ४० मुक्तक कविताएँ थीं। इनमें १६ कविता ब्रजभाषा की थी और २४ खड़ी बोली की। ब्रजभाषा की कविताएँ बाद में चित्राधार में संकलित कर दी गईं। इसका द्वितीय संस्करण सन् १९१८ में चित्राधार के प्रथम संस्करण के अन्तर्गत हुआ और तृतीय केवल खड़ी बोली की रचनाओं से युक्त सन् १९२९ में हुआ। इसमें सभी रचनाएँ नवोन रूप धारण करके प्रकाशित हुईं।

इसके प्रथम एवं द्वितीय संस्करण की ब्रजभाषा की कविताओं पर भारतेन्दुजी का प्रभाव स्पष्ट था। यहाँ तक कि भारतेन्दुजी के 'मधु-मुकुल' के समर्पण का ज्यों का त्यों भाव प्रसादजी के 'कानन-कुसुम' के समर्पण में मिलता है।

“हृदयवत्सल !

यह मधु मुकुल तुम्हारे धरण-जल में समर्पित है अंगीकार करो। इसमें अनेक प्रकार की बलियाँ हैं, कोई स्फुटित, कोई अस्फुटित, कोई अत्यन्त सुगन्धमय, कोई छिपी हुई सुगन्ध लिये, किन्तु प्रेम सुवास के अतिरिक्त और किसी गंध का लेश नहीं। तुम्हारे कोमल धरणों में यह बलियाँ कहीं गड न जायें, यही मन्देह है। तथापि तुम्हारे बाग के पून तुम्हें छोड़ और कौन अंगीकार कर सकता है, इससे तुम्हीं को समर्पित है।

तुम्हारा—
हरिश्चन्द्र ।”

“प्रियतम !

जो उद्यान से चुन-चुनकर हार बनाकर पहनते हैं, उन्हें कानन-कुमुम क्या भ्रानन्द देगे ! यह तुम्हारे लिए है । इसमें रगीत और सादे, सुगंध वाले और निर्गन्ध, मकरंद से भरे हुए, पराग में लिपटे हुए, सभी तरह के कुमुम हैं । भ्रमयत्त भाव से एकत्र किए गये हैं । भला ऐसी वस्तु को तुम न ग्रहण करोगे तो कौन करेगा ?

तुम्हारा—

प्रसाद ।”

खड़ी बोली वाले संस्करण में कुछ कविताओं पर द्विवेदी जी का प्रभाव है तथा कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं जो इनकी स्तत्र प्रवृत्ति का परिणाम है और जिनमें छायावाद एवं रहस्यवाद की झलक है । ‘गंगा सागर’ एक ऐसी ही कविता है, जिसमें उस सागर से मिलने की इच्छा की गई है जो इस संसार का मूल स्रोत है । ‘विश्वभूट’, ‘मिन्न-सौन्दर्य’, ‘वीर बालक’, ‘महाकवि तुलसीदास’, ‘श्रीकृष्णजयन्ती’ आदि इतिवृत्तात्मक कविताएँ हैं परन्तु उनमें भी प्रसाद जी की अपनी छाप स्पष्ट दिखाई देती है । यद्यपि इसमें इनकी आदि के बीस वर्ष की रचनाएँ हैं परन्तु उनमें विकास नहीं पाया जा सकता क्योंकि यह संस्करण संशोधित और सशोधित रूप है । अतः इसमें तो हमें सन् १९२० का ही कवि दीर्य पडेगा । इसमें कुछ कविताएँ ऐसी हैं जो स्वच्छन्दतावाद से प्रभावित हैं, यथा—‘नव वसन्त’, ‘मलिना’, ‘कहणा-कुंज’, ‘जलविहारिणी’ और ‘निशीथ-नदी’ आदि । मलिना और जलविहारिणी के भावविश्रुत बड़े सुन्दर हैं ।

‘प्रेमपथिक’ प्रबन्ध-काव्य है जिसमें भाव की प्रधानता है अतः यह कथा-प्रधान भावकाव्य कहा जा सकता है । यह अनुकान्त रचना है । इसका सर्व-प्रथम प्रणयन ब्रजभाषा में सन् १९०५ में हुआ था परन्तु तत्पश्चात् सन् १९१३ में लखनौ में इसको परिशोधित एवं परिष्कृत कर दिया गया और सन् १९१४ में इन्दु में प्रकाशित किया गया । ब्रजभाषा वाले प्रेम-पथिक में छन्द की अनिश्चयता भी थी परन्तु इस संस्करण में एक ही छन्द है और यह नवीन रूप में दसा हुआ कोई यांत्रिक प्रतीत होता है जिसमें संगीतात्मकता पूर्णरूप से व्याप्त है । इसका कथानक गोल्डस्मिथ के ‘हरमिट’ के अनुवाद रूप ‘एकान्तयात्री योगी’ की भाँति बलिष्ठ उमरे भी अधिक बलात्मक और सरस है ।

इसका कथानक द्वा प्रकार है । ध्यानन्दपुर में दो पुरुष रहते थे । एक का पुत्र था किशोर और दूसरे की बच्चा थी चमेली । दोनों बाल्यकाल से साथ-साथ खेलते-खाते थे अतः दोनों में परस्पर प्रेम हो गया । किशोर के पिता ने

मरने से पूर्व उसे लड़की के पिता को मौत दिया और इस प्रकार वे दोनों एक ही घर में रहने लगे। प्रेम बढ़ता ही गया परन्तु पिता ने पुत्री का विवाह एक धन्य युवक से कर दिया। किंगोर यह न सह सका और घर ने निकल कर वनों में घूमने लगा। एक दिन वह एक कुटिया में एक तापसी के पास पहुँचा और धरना मारा वृत्तान्त कह सुनाया। तापसी वही चमेली थी। उमने भी अपने दुःखमय वैवाहिक जीवन की कथा कह सुनाई। निदान दोनों परस्पर प्रेम से रहने का धरणीदय देखने लगे।

इस कथा में प्रेम का स्थानातिक एवं उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया गया है। इसमें कथा का एक नवीन रूप दृष्टिगोचर होता है क्योंकि काव्य का धन्य प्रेममय जीवन के धरणीदय में होता है।

प्रेम-काव्य होने के कारण इसमें प्रेम का बड़ा नव्य रूप विवृत हुआ है। प्रेम का मार्ग बड़ा विविध है, इस पर पाँच फंक्-फूंक कर रखना होता है और इस यज्ञ में जो धरने स्वार्थों की बलि दे सकता है उसे ही इष्ट की प्राप्ति होती है—

पथिक प्रेम की राह धनोपी भूल-भूल कर चलना है।

धनो धाँह है जो ऊपर तो नीचे बटि बिटे हुए।

प्रेम-यज्ञ में श्वाय और कामना हवन करना होगा।

तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का पल पाओगे।

इसमें प्रेम का विराट रूप लिया गया है, जो विद्व-प्रेम का प्रतीक है। विद्व प्रियतम का नाम है धनः प्रेम प्रियतम ही है और प्रियतम ईश्वर है—

प्रियतम-मय यह विद्व निरखना फिर उसको है विरह कहीं,

फिर तो यही रहा मन में, नयनों में, प्रणत जगत्तर में।

कहीं रहा तब द्वेष किसो से, क्योंकि विद्व ही प्रियतम है।

× × ×

आत्म-समर्पण करो उस विद्वान्मा को पुनर्जित होकर,

‘प्रकृति मिला दो विद्व प्रेम में, विद्व स्वयं ही ईश्वर है।

यही प्रियतम ईश्वर सुन्दरतम है—

स्नाय, शान्त, गम्भीर महा सौन्दर्यं सुधा-सागर के बरा,

ये सब विचारे हे जग में विद्वान्मा ही सुन्दरतम है।

इस प्रकार विद्व को प्रियतममय और विद्वतम को प्रेम और सौन्दर्यमय बनाया है। बादबल में भी लिखा है—‘God is Love and Beauty’—

परमात्मा प्रेम और सोन्दर्य ही है। सूफी भी ऐसा ही मानते हैं। इससे रहस्यात्मकता पर भी प्रकाश पड़ता है, जो भागे चलकर प्रसाद जी में प्रीतिता को प्राप्त हुई।

इस काव्य में प्रतीकों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है, यथा—‘चन्द्र’ सुखमय जीवन का और ‘मेघ’ विरह-दुःख का प्रतीक है। इससे प्रसाद जी की धर्मियंजनात्मक शक्तों का प्राथमिक रूप हमें इसमें देखने को मिलता है।

‘कहलाख्य’ एक गीति-नाट्य है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन इन्दु में सन् १९१३ में हुआ था, पुनः चित्राधार के प्रथम संस्करण में यह प्रकाशित हुआ और अन्त में सन् १९२८ में यह स्वतन्त्र पुस्तक के रूप में छपा। यह सुकान्तहीन मायिक चन्द्रों में लिखा हुआ है। विराम वाक्य-रम्यापत्ति पर दिए गये हैं। कहीं-कहीं इन विरामों ने गेयता में बाधा डाली है यतः अनेक स्थलों पर गीति का बन्धान नहीं। किन्तु गीति का प्राबल्य होने से यह गीति-प्रधान ही कहा जायगा। दृश्यों में विभक्त होने और नाटकीय ढंग का पुट रहने से इसमें नाट्य का आनन्द आता है। यह पाँच दृश्यों में विभक्त है, जिनमें एक कथा तारतम्य से लिखी हुई है। कथा इस प्रकार है—

अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र एक दिन सरयु में जल-बिहार कर रहे थे। सहसा घोर गर्जन हुआ और नाव स्तब्ध हो गई। साथ ही वे शब्द सुनाई पड़े कि यह राजा निश्चिन्नायो है, इनमें सुनबलि देना निश्चित किया था परन्तु न दी, अतः आज यह बचकर नहीं जा सकता। राजा ने प्रसन्न होकर बलि देने का वचन दिया और नाव चल दी।

राजपुत्र रोहिताश्व इन्द्र के आश्वामन पर पिता के बलि-निश्चय से भीत होकर विदेश चला गया। वहाँ उसे अकाल-पीड़ित अजीमर्त और उसकी स्त्री तारिणी मिले। रोहिताश्व ने मौ गीर्षों के बदले में उनमें उनके पुत्र धुनःशेप को, जो वास्तव में विश्वामित्र और मुक्ता का पुत्र था और जिसे विश्वामित्र के वन में तप-निमित्त चले जाने पर दुःखी माता ने अजीमर्त को सौंप दिया था और स्वयं राजदामता स्वीकार कर ली थी, मोल ले लिया। रोहिताश्व धुनःशेप को लेकर पिता के पास आया और अपने तर्कों से राजा को यज्ञ के लिए उद्यत किया। यज्ञ का आयोजन हुआ और धुनःशेप बलि के लिये लाया गया, परन्तु उसी समय विश्वामित्र पुत्रों सहित पधारे और मुक्ता भी आ गई। विश्वामित्र ने राजा एवं राजगुण वशिष्ठ को समझाया और मुक्ता ने वास्तविक कथा बही तथा न्याय की याचना की। सब लोग चकित से रह गए। यज्ञ की क्रिया बिना नर-बलि के ही हुई।

इसमें वास्तव में जैन-बौद्धकाल से पूर्वे यज्ञों में होने वाली नरबलि के विरुद्ध घृणा का प्रदर्शन है, जो प्रसाद जी पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव का परिणाम है ।

यह साधारण कृति है, परन्तु इसमें रोहित एवं गुनशेखर का चित्र-चित्रण बड़ा सुन्दर है । रोहित के शब्दों में नरबलि करने वाले मानव की अधमता पर प्रसाद जी की घृणा का प्रदर्शन देखिए—

अपनी आवश्यक्ता का अनुचर बन गया

हे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया

आज प्रलोभन भय तुझमें करवा रहे

कैसे असुर-धर्म ! अरे तू क्षुद्र है—

क्या इतना है ?

गुनशेखर के भी कश्मीरवादक शब्दों को सुनिए—

हाय ! तुम्हारी करुणा को भी क्या दृष्टा ।

जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से ।

इस पुस्तक में रोहित के—

धनो सदा धतना ही तुमको धेय है ।

सड़े रहो मन, कर्म-भाग्य विस्तीर्ण है ॥

इन शब्दों से धर्म का महत्व बतलाया गया है, परन्तु दुष्कर्म के विरुद्ध घृणा प्रदर्शित की गई है ।

'महाराणा का महत्व' एक गण्ड-नाट्य है । यह मधुप्रथम सन् १९१४ में इन्दु में छपा था । पुनः सन् १९१८ में चित्राधार में संकलित हुआ और अन्त में सन् १९२८ में पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ । यह भी अनुकूल छन्दों में है । इस पर नाट्य-कला का प्रभाव स्पष्ट है, क्योंकि यह पाँच शब्दों में पाँच दृश्यों की भाँति विभक्त है । यद्यपि दृश्य नाटकीय ढंग पर नहीं है, परन्तु क्या में देश-काल का परिवर्तन सहजा कर उसी शैली को अपनाया गया है । दृश्य का परिवर्तन X चिह्न में सूचित किया गया है ।

इसमें चित्तौड़ के राजकुमार अमरसिंह द्वारा अच्युतसिंह के खानखाना और उनकी पत्नी का चित्तौड़ प्रदेश में पकड़े जाने, पुनः उनका महाराणा प्रताप के सामने लाए जाने, राणा द्वारा उनके सम्मान लौटा देने और अन्त में खानखाना का प्रभावित होकर अच्युतसिंह में अपनी पत्नी को चित्तौड़ में वापस लौटा देने का आदेश दित्तवाने का नाटकीय वर्णन है ।

यह रचना प्रौढ रचनाओं में से है। यद्यपि कल्याणालय भी श्रेष्ठ काव्य है, परन्तु यह उससे भी सुन्दर है। इसकी भाषा में प्राञ्जलता है। प्रेमपथिक में 'असू के बूँद' आदि अनुद्ध प्रयोग भी हैं, परन्तु इसमें ऐसा नहीं। इसमें प्रकृति-चित्रण भी सुन्दर हुआ है। रात्रि में चाँदनी-सुन्दरी का चित्र देखिए—

तार हीरक-हार पहन कर, चन्द्रमुख—
दिललाती उतरो आती थी चाँदनी
शाही महलों के ऊँचे भीनार से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका—
मन्यर गति से उतर रही हो सौध से।

इस काव्य में एक आदर्श की स्थापना की गई है और वह है महाराणा की विशालहृदयता से निम्न उपदेश—

[खानखाना और उसकी पत्नी के सामने लाये जाने पर राणा का वचन]
सिंह क्षुधित हो, तब भी तो करता नहीं,
मृगया, डर से दबी भृगाली-वृन्द का।

अतः—
शत्रु हमारे यवन उन्हीं से युद्ध है,
यवनी गए से नहीं हमारा द्वेष है।

उपर्युक्त तीनों काव्यों में प्रसाद की स्वतन्त्र प्रवृत्तिवश रहस्यात्मकता के भी यत्र-तत्र दर्शन होते हैं, परन्तु इस काव्य में द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता सर्वत्र छाई हुई है।

'भरना' का प्रकाशन सन् १९१८ में हुआ था। यह प्रसादजी की छायावादी कविताओं का प्रथम संग्रह है। इसके प्रथम संस्करण में केवल २५ कविताएँ थीं, पुनः द्वितीय संस्करण में तीन कविताएँ निकाल दी गईं और कानन-कुसुम की १२ कविताएँ जोड़ दी गईं। इस प्रकार द्वितीय संस्करण में ३४ कविताएँ थीं। ये सभी रचनाएँ १९१८ से पूर्व की हैं। १९२७ ई० में इसका तृतीय संस्करण निकला, जिसमें ५५ कविताएँ थीं। यही भाज भरना का अग्रपना रूप है।

इसमें छायावादी कविताएँ सप्रहीत हैं। द्विवेदी काल में इतिवृत्तात्मक पौली का बोलबाला था, जिसके अनुसार वस्तु का सृज्य वणुं होता था एवं उसमें कल्पना की विचित्र चित्रपटी एवं भावाभिव्यञ्जना को कोई स्थान न था। इसकी प्रतिक्रिया हुई और उसका आघार था बँगला में रचित छायावादी

कविता । शुक्ल जी के अनुसार बंगला में छायावादी कविता से कहाँ जाँ जो पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (Phantasmata) तथा योरोपीय काव्य क्षेत्र में प्रवर्तित धार्मिक प्रतीकवाद (Symbolism) के अनुकरण पर रची गई थी । इनके सर्वप्रथम रचयिता थे श्री खोन्द्रनाथ । उनकी गीताञ्जलि में प्राचीन परम्परा का बाँध तोड़ दिया गया था और एक नई समिध्यञ्जनात्मक शैली को अपनाया गया था । प्रकृति के पीछे एक चेतन विराट् मत्ता का आभास होने के कारण प्रकृति का सर्वावस्था चित्रण करना दूसरी प्रमुख विशेषता थी । हिन्दी में भी यह शैली आई जिसके सर्वप्रथम प्रयोक्ता थे श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय । इनकी शैली पर लिखी गई कविनामों जिनमें वेदना का आधार नवीन स्वानुभूतिमयी समिध्यक्ति रहती थी, छायावादी कहनाई । प्रसाद जी लिखते हैं—

“कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देव-विदेश की किसी सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी समिध्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अधिष्ठित किया गया । बाह्य उपाधि से हट कर आन्तर हेतु की ओर कवि-ब्रह्म प्रेरित हुआ ।”

प्रसाद जी भी इसी शैली से प्रेरित हुए और उन्होंने सर्वप्रथम जो ऐसी कविताएँ लिखीं, वे भरना में सफल हुए । अतः भरना हिन्दी-साहित्य में छायावादी कविनामों का प्रथम मसूदा है । इन कविताओं में नास्तिक प्रयोग भी होते हैं और प्रतीकों का प्रयोग भी, इसीलिए समिध्यञ्जना का सुन्दरतम रूप दृष्टिगोचर होता है । परन्तु यह साठव्य है कि सर्वत्र प्रतीकों से ही छायावाद का आत्र मजबूत हो ऐसा नहीं है । छायावाद की ही पराकाष्ठा रहस्यवाद का रूप धारण कर लेती है क्योंकि छायावादी कवि अन्तरतम की गहराइयों में उतर कर रहस्य का उद्घाटन करने लगता है और उस विराट् चेतन शक्ति से अपना सीधा पवित्र सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है ।

भरना की सभी रचनाएँ उच्चकोटि की नहीं हैं, उनमें अनेक साधारण कोटि की भी हैं । विनाद, बालू की बेला, प्रथम प्रभाव, खोखो द्वार, किरण, अनुभव, बिसरा हुआ प्रेम, दीप, अश्वस्त्य और वन्दन की प्रतीक्षा आदि श्रेष्ठ रचनाएँ हैं ।

‘किरण’ नामक कविता में ‘किसी अज्ञात विश्व की विफल-वेदना-दूती तो मुम बीन’ पंक्ति में किरणों को किसी अज्ञात जगत की विफल वेदना से कहकर रहस्य की विवृति की है । यह छायावाद की सुन्दर रचना है ।

भरना की अधिकांश रचनाओं में कवि रहस्यात्मक भावना से प्रोत-प्रोत है। 'बाबू की बेला' में दैन्यपूर्ण प्रश्नात्मक अनुनय तो देखिए—

ध्राल बचा कर न किरकिरा कर दो इस जीवन का मेला !
कहाँ मिलोगे ? किसी विजन में ? न हो भीड़ का जब रेला ।
'कब' नामक कविता में भी ऐसी ही जिज्ञासा है—

लम्बी विश्व कथा में सुख निद्रा समान इन ध्रालों में—
सरस मधुर छवि शान्त तुम्हारी कब आकर बस जावेगी ।

'स्वप्नलोक' और 'दर्शन' इनकी सुन्दर रहस्यात्मक रचनाएँ हैं। 'स्वप्न-लोक' की निम्न पंक्तियों में प्रियतम का नभ पर पवन-सहारे आना लिखा है—

ध्राल लोल देखा तो चन्द्रालोक से
रंजित कोमल बादल नभ में छा गए
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे ।

'मिलन' में प्रियतम के मिलन से मेदिनी पर स्वर्ग का सुख व्यञ्जित किया है—

इस हमारे और प्रिय के मिलन से,
स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा ।

'बसन्त राका', 'भोजन में' और 'पावस प्रभात' प्रकृति-मम्बन्धी मनोरम रचनाएँ हैं। सारे रहस्य प्रकृति में ही अन्तर्निहित हैं, यह बात हमें इन कविताओं के प्रकृतिस्व सौन्दर्य के साथ-साथ व्यञ्जित हुई जात होती है।

इस संग्रह में 'बिखरा हुआ प्रेम' सर्वश्रेष्ठ कविता है।

'ध्रालू' का प्रथम संस्करण सन् १९२५ में प्रकाशित हुआ था। परन्तु इसके द्वितीय सन् १९३२ के संस्करण में इसे द्बोढा कर दिया गया तथा उसमें क्रम परिवर्तन भी कर दिया गया। प्रमाद जी की यह सर्व-प्रथम ऐसी प्रौढ कृति थी जिसमें लोगों ने 'भरना' को ऋते हुए देखा। इसके ध्रालुओं में वे पन्त के 'पल्लव' को भी भूल गये। इसमें अनिर्व्यजना का मधुरतम रूप भी देखने को मिला और प्रेम-मम्बन्धी सुन्दर-से-सुन्दर उद्गार भी दीख पड़े।

ध्रालू का गूढतम रहस्य यह है कि कवि अपनी वेदना से विरव-वेदना की अनिर्व्यक्ति तक पहुँचा है जिसमें वह वेदना से उद्गत ध्रालुओं के स्थान पर विरव की कल्याण-नामना करता है। अन्तर्गत के रहस्यों की उद्घाटना इसमें यत्र-तत्र ही दृष्टिगोचर होती है, वह भी सीच-तान में।

इसमें वेदना से उच्छ्वलित भाँसुओं की बाढ़ ने सभी को भ्रान्तावित कर दिया । जिस सहृदय ने इसे पढ़ा, उसने वेदना ही पाई और वह भी स्थायी । अनेक व्यक्ति तो इसे पढ़कर वेदना के कवि बन गए । वास्तव में छायावाद का स्वर्णिम प्रभात 'भाँसू' के भ्रोस-बिन्दुओं के साथ ही प्रारम्भ हुआ, जिसने प्रकाश भी दिया और सजलता भी । इसमें समरसता का एक महान् सन्देश है ।

भाँसू का प्रारम्भ कवि की आत्म-वेदना से होता है । कवि अपने दुःख से भाँसू बहाता है परन्तु वह वेदना बढ़ते-बढ़ते विराट् रूप धारण कर लेती है और विद्व-वेदना में परिणत हो जाती है । अब कवि की स्थूल दृष्टि सूक्ष्मता धारण कर लेती है, 'मैं' विद्व में लीन हो जाता है, व्यष्टि समष्टि में समा जाती है ।

इसमें एक भाव-सामंजस्य है और वेदना के विकास में एक क्रम है अतः किसी-किसी ने इसमें सृष्टि की उत्पत्ति एवं प्रलय का (सृष्टि के सौन्दर्य के साथ मिलन एव विरह का) रूपक भी देखा है । यह सब उन्होंने प्रतीकों के अर्थ की खीच-तान करके ही किया है । वास्तव में इस काव्य में 'कामायनी' की भाँति रहस्य-रूपक नहीं है । इसमें प्रसाद जी के वेदनाजन्य भावों की सरल अभिव्यक्ति है, जिससे हृदय की प्यास बढ़ती भी है और घटती भी है । प्रसाद जी ने 'आत्मकथा' नामक कविता में अपने असफल प्रेम का चित्र खींचते हुए लिखा है—

उज्ज्वल गाया कंसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की ।
भरे खिल-खिला कर हँसते होने वाली उन बातों की ।
भिला वहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया ?
भालिगन में आते-आते मुसकया कर जो भाग गया ।

× × ×

उसकी स्मृति पाषेय बनी है पपे पयिक के पन्या की ।

इससे स्पष्ट है कि वे किसी अनुपम मुन्दरी के प्रेम-भासा में धावद हो गये थे और एक दिन मधुर चाँदनी में जब वे मधुरालाप के पश्चान् भालिगन में उसे धावद करने लगे तो वह मुस्करा कर भाग गई । उसकी स्मृति वे जीवन में कभी न भूल सके । भाँसू में ऐसे ही स्थूल प्रेम की अभिव्यक्ति है । एक स्थान पर वे लिखते हैं—

धी जिस अंग के धनु की
पह निसिपिल सिजिनी दुहरी
असवेली बाहुलता या
तनु दधि-सर की नय सहरी !

इसमें स्पष्ट ही शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण है। यद्यपि कही-कही—

इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महामिलन के।

आदि पंक्तियों में रहस्याभिव्यजना है परन्तु वह एक स्पूल का चित्रण करते हुए सूदम की स्मृति-मात्र है। वास्तव में इसमें प्रसाद जी की अपने गत-जीवन की प्रतिध्वनि है जो विश्व के व्यापक-क्षेत्र में व्याप्त हो गई है। अतः यह इनका विरह-काव्य है जिसमें आशा और निराशा के मधुरतम चित्र दृष्टि-गोचर होते हैं। यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रसाद जी ने द्वितीय संस्करण में प्रथम संस्करण की अनेक वर्तमान-कालिक क्रियाओं को भूतकाल का रूप दे दिया है, यथा—

बाँधा है विघ्न को किसने इन काली जंजीरों से।
[प्रथम संस्करण]

बाँधा था विघ्न को किसने इन काली जंजीरों से।
[द्वितीय संस्करण]

उपर्युक्त 'थी' किस अनंग के घनु की' आदि उद्धरण में भी प्रथम संस्करण में 'थी' के स्थान पर 'है' था। 'वह' के स्थान पर भी 'यह' था। 'यह' पास का सूचक है और 'वह' दूर का। जीवन की मधुरतम वह घटना द्वितीय संस्करण के बहुत पहले घटी थी अतः इस संस्करण में यह परिवर्तन कर दिया गया है। उसी वियोग की पीडा भ्रातृ वन कर हमारे सामने आई। प्रसाद जी स्वयं लिखते हैं—

जो घनीभूत पीडा थी
मस्तक में स्मृति सी छाई
दुदिन में भ्रातृ वन कर
वह भ्राज बरसने आई।

इस काव्य में वियोग-जन्य भावों का एक ताँता है जो एक सूत्र में पिरोया हुआ है। कवि को रह-रह कर स्मृति आती है और हृदय में—करणा कलित हृदय में—असीम वेदना हाहाकार स्वरों में गरजती है। मन में प्रसन्न उठता है, 'वह कहाँ गई?' तब उसकी प्रतिध्वनि दित्तज में टकरा कर इतस्ततः घूमती रहती है। बेतना-सरिता में तरंगें उठती हैं, मन-मानस में हिलोरें उठती हैं और जी मिड-मिड कर रह जाता है। परन्तु क्यों? अभाव-युक्त धून्यवत धून्य हृदय बार-बार मही बहना है, ऐसा क्यों है? कारण ज्ञात

होते हुए भी प्रेमी का यह प्रश्न उसकी विकल्पता के प्राबल्य को ही व्यक्त करता है।

उसके हृदय में स्मृतियों की एक बस्ती-सी बन गई है, जहाँ विरहान्नि ने भाग लगा दी है। उसमें दृग-जन का ईंधन है और चलती हुई द्वासें वायु का काम करती हैं। हृदयगत प्रणय-समुद्र में बाढबग्वाला प्रग्ज्वलित हो गई है अतः तन, मन, भावें सभी तो विकल हैं। किमी ने मन का मुख हर लिया है—कभी चाहे करवटें बदलती हैं, कभी मुष्ट व्यथा जग पड़ती है, मुग्न तो सपना बन गया है और नोंद में भी पनकें धाँसुओं में भीगी रहती हैं। प्रेयसी की शौड़ाएँ भादक थीं, पर अब तो हृदय को हिलाने वाली प्रेम की पीड़ा रह गई है। कवि को निराशा है कि उसकी व्यथा-बया को कोई सुनता भी नहीं।

आज उसी की स्मृति धाँसू बन गई है। कवि पूछता है—“क्या तुम मेरी इन बरसा कहानी को सुनने हो।” और कहता है कि मेरे हृदय में तूफान उठ रहा है। कभी-कभी इसी व्यथा के बीच स्मृति की मधुर भलक रम बरसा जाती है। प्रियतम कितना ही निष्पूर हो परन्तु प्रेमी को वह सबंया सुन्दरतम ही दिवनाई देता है। प्रसाद जी के अन्तरतम से भी यही शब्द निकलते हैं—

तुम सत्य रहे विर मुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
ये केवल जीवन-मंशी
बल्याल क्वचित् इम भग के।

× ×

गौरव था, नीचे धाये
प्रियतम मिलने को मेरे
में इठला उठा अश्चिन
देखे ज्यों स्वप्न सवेरे।

कवि को पुनः अतीत की स्मृति ही धाती है और ‘मधु राजा मुसकानी थी’ कहकर पुनः उस पयश्चेत चाँदनी में ज्वालित माधवी निशा का दृश्य सम्मुख आ जाता है। ध्यान आता है कि उसके शुष्क जीवन में पतझड़ या परन्तु उसने उगे हरा-भरा कर दिया। वह—

घन में सुग्गर बिल्ली-सी
बिल्ली में घपन घमक-सी
धाँसों में बाली पुतनी
पुतली में श्याम भनक-सी

घाई। वह अनुपम कला का सौंदर्य, जिस पर विश्व का सारा सौंदर्य राई की भाँति न्योछावर किया जा सकता था, उसके निस्सीम हृदय-गगन में छा गया। इसके पश्चात् कवि उसके मुख के विविध भागों की प्रशंसा करता है और सोचता है कि वह मुक्त अतएव शिथिल लावण्य-चाँदनी उसके मिलन-कुञ्ज में फिर न सोवेगी। अब उसके न रहने से हृदय-कमल मुष्क हो गया है— उसमें न मधुर मधु है, न पराग। उसकी पंखुडिर्पा भी मुरझ गई है। हृदय का सौरभ काफूर हो गया है और अब उसमें केवल विस्मृति है, मादकता है और मूर्च्छना है। हीरे-सा दृढ़ हृदय मला गया है और अब उसमें जलती हुई भस्मि से घूमिल पटन छा गया है। तड़पन के अतिरिक्त अब उसमें कुछ भी शेष नहीं रह गया है। जो विष की प्याली पी थी वह नयनों में मदिरा बन गई है। प्रियतम मादकता की भाँति आया था परन्तु चेतना लेकर चला गया। अब तो इन्द्रपनुप की-सी सतरंगी स्मृति ही भवशिष्ट रह गई है। वही स्मृति कभी हृदय में रस-वर्षा कर देती है और कभी मोतियों के ढेर लुटा जाती है। मलयानिल के चलने पर कभी उसी का स्पर्श जानकर कवि सिहर उठता है, कभी उसकी प्रतीक्षा में अर्थ्य आवाज के तारे गिनता रहता है। उसे पता नहीं था कि इस मुख में दुःख भी था जायगा। कवि इतना थक गया है, इतना विकल है कि मारा संसार उसे मूना और बीहड़ धोख पड़ता है। यह पूछता है—

नाबिक ! इस मुने तट पर
किन लहरों में खे लाया
इम बीहड़ बेला में क्या
धय तक था कोई भाषा ?

अब उसका—

डूबा है हृदय भरस्पल
घाँसु नद उमड़ रहा है।

कवि सच्चे प्रेमियों की भाँति उसका पता लगाने सौरभ बन नम में भी घूमना चाहता है और दीन-हीन की भाँति गिड़गिड़ा कर दूरगत प्रियतम से याचना करता है—

सब शुभन मनोरथ धंजलि
विपरास हो इन घरलों में,
हुवयो न कीट-सा, इनके
कुछ हैं मकरन्द कर्णों में।

अथ विकलतावश उसकी वेदना विपट्टून लेने लगी और उसे अपना दुःख प्रकृति में भी दोष पड़ा—

क्यों धनक रहा कुछ मेरा
ऊँचा की मृदु पलकों में
हाँ ! उलझ रहा कुछ मेरा
सगुप्ता की घन घनकों में ।

यही दुःख विश्व को प्रकित करता-ना शील पड़ा और उसे ऐसा भान हुआ—

नचनी है नियति नटी-भी
बन्दुक कीड़ा-सी करती
इस व्यपित विश्व प्राणन में
घरना अनुत्त मन भरती ।

और बीदह भवनों में उसे कुछ कहीं न दिखलाई दिया और बोला—
“विधाम कहीं जीवन में !”

यद्यपि उसकी याद उसे उम समय भी जनाती है जब म्निग्ध निशा में विश्व निद्रा-विमोर होता है, तथापि उसे उसके प्रकाश में शान्ति भी मिलती है और संसार के लिए भी मंगलमय उत्राने के माय बनने अलते हुए हृदय की बल्यारो शीतल ज्वाला का वरदान माँगना है—

निर्मम जगती को तेरा
मङ्गलमय मिने उत्राला
इस जलने हुए हृदय की
बल्यारो शीतल ज्वाला !

अन्त में कवि पुनः एक बार उन्मादवश आह्वान करता है—

इस स्वप्नमयी संभ्रति के
मन्त्रे जीवन तुम जागो
मङ्गल निररों से रंजित
मेरे सुन्दर तम जागो ।
अनिवार्य के मानन में
सरगित्र का धीरे सोचो
मपुत्रों से मधु मुंत्रारो
बनरप मे किर कृद्द घोचो ।

परन्तु प्रत्युत्तर न पाकर अन्त में कहता है कि तुमने देखा होगा कि सूखी सरिता का हृदय उसके फूलों में वैसा ही शीन रहता है और सूनी कुटिया का दीपक एकाकी जलता हुआ अन्त में बुझ जाता है । एकाकी जीवन इसी प्रकार समाप्त हो जाता है । अतः कम से कम—

सबका निचोड़ लेकर तूम
सुख से सुखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
असू इस विश्व-सदन में ।

इस प्रकार इस काव्य में हम विरही प्रसाद की प्रेमोद्भूत भावनाएँ ही चित्रित हुई देखते हैं । प्रसादजी का हृदय उस आघात को न सहकर तरल हो असू के रूप में बह गया है । इसमें प्रेमी के कामलतम एवं मधुरतम भावों की सुन्दरतम अभिव्यक्ति हुई है । कविता प्रतीत की मधुर स्मृति में ही तो फूटती है । प्रसाद जी—

‘जो धनीभूत पीड़ा थी’—इत्यादि कहकर यही तो व्यञ्जित करते हैं ।

इसमें अपनी पीड़ाभिव्यक्ति के साथ विश्व की चिन्ता भी है अतः भावना के साथ चिन्तन भी है । इस प्रकार प्रेमी कवि कहीं-कहीं दार्शनिक हो गया है जो प्रेमियों के लिए स्वाभाविक है । प्रसादजी की इस भावाभिव्यक्ति में हम साधारण भाव पाते हैं जो प्रत्येक प्रेमी के मानस में तरंगित होते हैं । परन्तु साधारण प्रेमी और प्रसाद जी में यह अन्तर है कि ये कवि भी हैं । अतः इनका भाव-प्रकाशन कवि-कला की शाय पर चढ़कर ही हुआ है, जिससे साधारण जन के लिए दुःसहता-सी प्रतीत होती है । किन्तु यह दोष नहीं कहलाया जा सकता क्योंकि सच्चे प्रेमियों के उद्गार कवि के उद्गारों से कम नहीं होते । उसमें भी यदि प्रेमी विद्वान् हुआ तो उसके भावों में भी गाम्भीर्य होगा ही अतः इसमें बुद्धितत्व प्रधान नहीं है, हृदयतत्व ही प्रधान है । यों तो यह एक विप्र-सम्म शृंगार का काव्य है परन्तु कहीं-कहीं अतीत की भीठी स्मृति में सम्भोग का सा सुख मिलता है, यथा—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निरवास मलय के भोंके
मृगचन्द्र चाँदनी जल से
में उठता था मुँह पीके ।

इस काव्य में नख-निख का वर्णन अनुपम रूप से हुआ है । उसके अलंकारों का प्रयोग भी एक दृष्टि देखिए—

बाँधा था विष्णु को जिसने
इन काली जंजीरों से
भरिण वाले फरियों का मुख
धर्यो भरा हुआ हीरों से ?

उसकी काली धाँसों नीलम की प्याली है—

काली धाँसों में कितनी
धौवन के मद की लाती
मानिक मदिरा से भरदी
जिसने नीलम को प्याली ।

अस्तु अघरों के बीज खचित दगन विद्रुम-सोपी के मंफुट में रखते मोती
के दानों से कम नहीं—

विद्रुम सोपी संपुट में
मोती के दाने कसे ?

इस नखशिख-वर्णन में प्राचीन परम्परा का अनुसरण नहीं है । नवीन
उद्भावनाएँ हैं और नवीन कला के अलकरण हैं ।

इसमें प्रकृति का चित्रण है परन्तु स्वतन्त्र रूप में नहीं और न उद्दीपन
के रूप में ही है वरन् वह भी सहभोगी के रूप में चित्रित हुई है अतः शान्तिकर
है, यथा—

परिचय राजा जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से फिरलें आतीं
मिलनी हूँ गले सहर से ।
में अथक इन नपनों से
निरस्ता करता उस क्षण को ।

इस वाक्य पर मुरी वाक्य का प्रभाव दीप्त पड़ता है क्योंकि फारसी
कविता में प्रेमी द्विपत्न्या को पुल्लिग में ही पुकारते हैं । प्रमाद जी भी सर्वत्र
पुल्लिग का ही प्रयोग करते हैं—

गौरव था, नीचे धापे
द्विपत्न्या मिलने को मेरे ।

× ×

आवृत्ता से धापे तुम
संता से खते गये थे ।

इत्यादि ।

इस काव्य में साक्षात्क धब्बों का बड़ा प्रयोग हुआ है, यथा—'विट्पु मीपी सपुट' से तात्पर्य अघर-संपुट से तथा 'मोती के दाने' से तात्पर्य दाँतों से है। 'विपु' का प्रयोग मुख एवं 'काली जजीरों' का प्रयोग अलकों के लिए हुआ है। 'पतभङ्ग' जीवन की सुष्कता को लक्षित करता है और 'बसन्त' सरसता को। 'स्फुलिंग' तप्त भ्रौमुद्यो के लिए और 'मदिरा' मादकता के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन सब ने विरहोद्भूत सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति में बड़ा योग दिया है।

अलंकारों में उपमा का वैभव बड़े विचित्र रूप में विखरा हुआ दिखलाई देता है। कुछ अनोखी किन्तु सुन्दर उपमाएँ देखिए—

- (अ) ह्रीरे सा हृदय हमार।
 (ब) जल उठा स्नेह, शीपक-सा।
 (स) मकरन्द मेघमाला सी
 यह स्मृति मदमाती आती।
 (द) मादकता से आये सुम
 संता से चले गये मे।
 (ह) आकाश-दीप सा तब यह
 तेरा प्रकाश भिलमिल हो।

रूपक की योजना भी नवीन परिधान में हुई है—

- (क) शीतल (अशाला) जलती है
 ईधन होता दृग-जल का।
 (ख) इस हृदय-रुमल का धरना
 अलि-अलकों की उलभन में।
 (ग) मूस-रुमल समीप सजे धे
 दो कितलप से पुरइत के।
 (घ) तिरती थी तिमिर उदधि में
 नाविक ! यह भेरी तरणी।

इस पर्यालोचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि 'दासू' एक बहुत ही उत्कृष्ट विरह-काव्य है, जिसमें भाषा की प्राञ्जलता, भावों की सुन्दर अभिव्यञ्जना, विरह-वेदना के प्रकाशन में एकसूत्रता, मनोरम अलंकार-योजना और सर्वोपरि भाषुयं और प्रसाद गुणों की निरन्तरतम चाँदनी की छिटकन अपने उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित हुई हैं। यह एक छोटी-सी सरस गुणा-नापी है, जिसमें तीरता-उत्तराता मानस-मराल दुबकियाँ ले-लेकर भी अघाता नहीं है। प्रसाद भी की कृतियों में

रिचात् इसी का स्थान है और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विरह-
ता की दृष्टि से यह अनुपम है ।

३-
आसू के पदचात् सन् १९३३ में हमारे समय आई । यद्यपि
'ना' के समय की भी रचनाएँ हैं परन्तु वास्तव में समूचे ग्रन्थ को
रा पढ़ता है कि वह ग्रामिणों की ही लहर है । परन्तु यह लहर
३- एक चन्द्रानना ने अपनी कनकलता जैमी फायवल्ली की रस-मुष्पा से नदकता
भर दी थी । वह आनन्दविभोर हो गया था परन्तु अघर से लगाने से पूर्व ही वह
छलना से छुना गया और फिर कभी उसे न पा सका । उसने जीवन-यात्रा
एकाकी की भाँति प्रारम्भ करदी, कभी-कभी स्मृति हो आती तो वह कुछ लिख
लेता । 'ग्रामू' ऐसी ही रचनाओं का संग्रह था । परन्तु अपने जीवन की सध्या
तक पहुँचते-पहुँचते उसका ग्रामू नद बन गया, जिसमें लहरों का ज्वार आने लगा
अतः 'लहर' में प्रेम और सौन्दर्य की व्यजना व्यापक धेन में हुई है और अनेक
स्थलों पर कवि रहस्यात्मक जगत में विहार करता हुआ दीख पड़ता है । वहीं-
कहीं श्रान्त की भाँति सत्तार से भाग जाने की इच्छा भी दृष्टिगोचर होती है ।
अतः इसमें विरह, मिलन एवं त्याग के बड़े सुन्दर उद्गार हैं । उपेक्षा, संयम और
साय-साय धाँचल्य भरा उल्लास भी हमें दिखलाई देने हैं । यही कारण है कि
इसमें 'ग्रामू' की भाँति एक भावसूत्रता नहीं है वरन् विचित्र भावों के चित्र
अंकित हुए हैं ।

'माह रे, वह अघोर यौवन' और 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' आदि
में गत यौवन की मधुर स्मृतिदाँ है । 'हे सागर संगम अरण नील' वाली कविता
में रहस्य की भावना का आभास मिलता है । रहस्यात्मक रचनाएँ केवल चार-
पाँच हैं । इनके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें अतीत के चित्र हैं । 'अरो
बदला की शान्त-बदल' और 'जगती की मंगलमयी उपा' में भगवान् बुद्ध की
पूत भावना को चित्रित किया है । 'अशोक की चिन्ता', 'प्रलय की छाया',
'पेसोला की प्रतिध्वनि' और 'सेरसिह का अस्थ-अमर्ण' कविताएँ इतिहास की
कथाओं पर आधारित हैं ।

इसमें कवि का हमें प्रगतिवादी रूप भी दिखलाई देना है, परन्तु कवि
वहाँ भी द्वापावाद की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सता है, यथा—

घोती विभावरी जाग रो !
अम्बर-अनघट में डुबो रही
तारा-घट ऊया-जागरी ।

इस काव्य में साक्षर शब्दों का बड़ा प्रयोग हुआ है, यथा—'विद्रुम सीपी संघुट' से तात्पर्य अघर-संघुट से तथा 'भोती के दाने' से तात्पर्य दाँतों से है। 'विघु' का प्रयोग मूल एवं 'काली जंजीरो' का प्रयोग अलकों के लिए हुआ है। 'पतझड़' जीवन की शुष्कता को लक्षित करता है और 'बसन्त' सरसता को। 'स्फुरलिंग' तप्त भाँसुओं के लिए और 'मदिरा' मादकता के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन सब ने विरहोद्भव सुन्दर भावों की अभिव्यक्ति में बड़ा योग दिया है।

अलंकारों में उपमा का वैभव बड़े विविध रूप में बिखरा हुआ दिखलाई देता है। कुछ अनोखी किन्तु सुन्दर उपमाएँ देखिए—

- (अ) हीरे सा हृदय हमारा ।
जल उठा स्नेह, दीपक-सा ।
(ब) मकरन्द मेघमाला सी
(स) वह स्मृति मदमाती आती ।
मादकता से भाये पुम
(द) संज्ञा से चले गये थे ।
आकाश-दीप सा तब वह
(ह) तेरा प्रकाश भिलमिल हो ।

रूपक की योजना भी नवीन परिधान में हुई है—

- (क) शीतल ज्वाला जलती है
इंधन होता हृग-जल का ।
(ख) इस हृदय-कमल का घिरना
अलि-अलकों की उलभन में ।
(ग) मूल-कमल समीप सजे थे
दो कितलय से पुरइन के ।
(घ) तिरती थी तिमिर उदधि में
नाविक ! यह मेरी तरणी ।

इस पर्यालोचन से हम इस परिणाम पर आते हैं कि 'श्रीमू' एक बहुत ही उत्कृष्ट विरह-नाट्य है, जिसमें माया की प्राञ्जलता, भावों की सुन्दर अभिव्यंजना, विरह-वेदना के प्रकाशन में एकसूत्रता, मनोरम अलंकार-योजना और सर्वोपरि भावपूर्ण और प्रसाद गुणों की स्निग्धतम चाँदनी की छिटवन अपने उत्कृष्ट रूप में प्रकाशित हुई हैं। यह एक छोटी-सी सरल गुणा-वापी है, जिसमें तीरता-उत्तरता मानस-भराल बुबकियाँ से-लेकर भी घपाता नहीं है। प्रसाद जो की कृतियों में

दत्ता इमी का स्थान है और आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विरह-
ता की दृष्टि से यह अनुपम है ।

भाँसू के पदवाच सन् १९३३ में हमारे समक्ष आई । यद्यपि
'ता' के समय की भी रचनाएँ हैं परन्तु वास्तव में समूचे ग्रन्थ को
ता पढ़ता है कि वह भाँसुओं की ही लहर है । परन्तु यह लहर

७- एक चन्द्रानना ने अपनी बनवलिता जैसी कायवल्ली की रस-मुग्धा से नादकता
भर दी थी । वह आनन्दविभोर हो गया था परन्तु अघर से लगाने से पूर्व ही वह
छन्दों से छला गया और फिर कभी उभे न पा सका । उसने जीवन-यात्रा
एकाकी की भाँति प्रारम्भ करदी, कभी-कभी स्मृति हो आती तो वह कुछ लिख
लेता । 'भाँसू' ऐसी ही रचनाओं का संग्रह था । परन्तु अपने जीवन की संख्या
तक पहुँचते-पहुँचते उसका भाँसू नद बन गया, जिसमें लहरों का ज्वार आने लगा
अतः 'लहर' में प्रेम और सौन्दर्य की व्यजना व्यापक क्षेत्र में हुई है और अनेक
स्थलों पर कवि रहस्यात्मक जगत् में विहार करता हुआ दीख पड़ता है । कहीं-
कहीं श्रान्त की भाँति संसार से भाग जाने की इच्छा भी दृष्टिगोचर होती है ।
अतः इसमें विरह, मिलन एवं त्याग के बड़े मुन्दर उद्गार हैं । उपेक्षा, मयम और
साध-नाथ घाचल्य भरा उल्कास भी हमें दिखलाई देने हैं । यही कारण है कि
इसमें 'भाँसू' की भाँति एक भावमूर्तता नहीं है वरन् विचित्र भावों के चित्र
अंकित हुए हैं ।

'घाह रे, वह अघोर यौवन' और 'वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे' आदि
में गत यौवन की मधुर स्मृतिदायी हैं । 'हे सागर सगम अदण नील' वाली कविता
में रहस्य की भावना का आभास मिलता है । रहस्यात्मक रचनाएँ केवल चार-
पाँच हैं । इसके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ ऐसी हैं जिनमें आँसू के चित्र हैं । 'अरो
वदला की शान्त-कण्ठार' और 'जगती की मंगलमयी उषा' में भगवान् बुद्ध की
पूत भावना को चित्रित किया है । 'अशोक की बिन्ता', 'प्रलय की छाया',
'पेगोला की प्रतिध्वनि' और 'गेरबिह का सस्त्र-नमर्पण' कविताएँ इतिहास की
कथाओं पर आधारित हैं ।

इसमें कवि का हमें प्रगतिवादी रूप भी दिखनाई देना है, परन्तु कवि
वहाँ भी छायावाद की सीमा का उल्लंघन नहीं कर सका है, यथा—

घोती विभावरी जाग रो !
अम्बर-वनपट में डूबी रही
तारा-पट अया-नागरी ।

सग-कुल कुल-कुल सा धोल रहा,
 किसलय का अंचल डोल रहा,
 सो, यह सतिका भी भर साईं
 मधु मुकुल नयन रस-गागरी ॥

इस गीत में प्रकृति का मधुरतम आलंकारिक अंकन है, जिसके माध्यम से जागरण का कितना सुन्दर और विचित्र ढंग अपनाया गया है। इसमें पन्त जी का रूखा प्रगतिवाद नहीं।

कामायनी

संक्षिप्त कथा—हिमालय के उन्नत शिखर पर बंटे हुए मनु प्रलय का दृश्य देख रहे थे। सारी पृथ्वी जल-मग्न हो गई थी। प्रलय की भीषणता देख-देख कर वे चिन्ता-निमग्न हो रहे थे। उनकी नौका पास ही बंधी खड़ी थी। प्रलयकालीन समुद्र की बाढ़ ह्रास को प्राप्त हो रही थी। प्रकृति निरंतर कर प्रलय-द्वन्द्व से मुक्त होने लगी थी और मनु शांत भाव में सोच रहे थे कि चिन्ता ही दुख की मूल है, चिन्ता विद्व-वन की व्याप्ती है। चिन्ता करते हुए उन्हें महसा अपने को अमर कहने वाले देवों के विनाश का दृश्य स्मृत हो आया कि किस प्रकार उनका (देवों का) विलास, वैभव और आनन्द-प्रमोद सभी कुछ नष्ट हो गया था। यह सोच ही रहे थे कि पुनः जल में बाढ़ आने लगी। भीषण जलोत्पात होने लगा। उसमें तारे भी बुदबुदों के समान दीप्त पड़ते थे। मृत्यु का ताण्डव-नृत्य हो रहा था। पुनः कुछ काल परचात जल-प्लावन घटने लगा और मनु को आशा बंधी।

काल-रात्रि समाप्त हो चुकी थी अतः प्रकृति-वधू हाग-मूर्छा हो गई थी। परन्तु चेतन-जगत अब भी भयभीत था। मनु को भगवान् की विराट्-शक्ति पर विश्वास होने लगा। उन्होंने जी कर अपने कर्त्तव्य का निश्चय किया और वहीं एक गिरि-गुहा में रहने लगे। वे तपश्चरणा करने लगे और पुनः यज्ञ-होमादि में प्रवृत्त हुए। यह सोच कर कि सम्भवतः उन्हीं की भाँति कोई और भी प्रलय में बच गया हो, वे होम का बचा हुआ अन्न पृथक् रख देते। दानै-दानै. मानवीय इच्छाओं से वे अभिमूढ होने लगे।

एक दिन सत्सा कामगोत्रोत्पन्ना अर्द्धा यही भाई और उतने मनु से पूछा—“हे सुन्दर पुरुष तुम कौन हों?” इस मधुर ध्वनि में विकम्पित हो मनु ने उत्तर दिया—“मैं रहस्यमय जीवन से मुक्त एक व्यक्ति हूँ जो पतनोग्रस्त तारे के समान अन्त हुआ बचकर बाट रहा हूँ। मैं विक्षिप्त सा होकर सब

कुछ भूलता जा रहा हूँ। भला, तुम कौन हो, जो इस पतझड़ में वसन्त के सुकुमार दूत के समान घाई हो।" श्रद्धा ने उत्तर दिया—“भे गन्धर्व देश की कन्या हूँ। मैं तलित-कला का ज्ञान सीखने के लिए घर से निकली थी परन्तु एक दिन सहसा समुद्र में ज्वार धा गया, मैं तभी से एकाकी भटक रही हूँ। यहाँ यज्ञाश्रम को देख कर सोचा कि भवदय ही कोई मनुष्य होगा और मैं चली घाई। तापस! तुम निराश चिन्तामग्न से क्यों हो? तुम मांगलिक काम का तिरस्कार कर जीवन को निष्फल बना रहे हो। जिसे तुम ससार के दुखों का मूल ममजत्रे हो वही तो सत्य है।” मनु ने कहा—“तुम सत्य कहती हो परन्तु मैंने जीवन की भगति देख ली है, इसमें निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं।” श्रद्धा बोनी कि जीवन में हार मानना ठीक नहीं। तप जीवन में सत्य नहीं वरन् जीवन का मुक्त भाकासाधों में निहित है। यह सारा विश्व प्रकृति के बँभव से भरपूर है। यहाँ कर्म का भोग और भोग का कर्म होता ही रहता है। तुम अकेले यज्ञ किस प्रकार करते हो? तुम यत्न में हीन हो अतः चाहो तो भे सहचरी होकर सहायता करूँ। मैं आज से सर्वथा तुम्हारी हूँ और अपना जीवन तुम्हें अर्पित करती हूँ। तुम डरो नहीं, जीवन आरुर्पण का केन्द्र है, समृद्धि तो इसमें स्वयं तिव आवेगी। मानवता की विजय हो गयो मेरी कामना है।

श्रद्धा के मधुरालाप एवं आत्म-समर्पण से मनु में काम का संचार हो गया। उन्हें सौन्दर्य में आकर्षण जान पड़ा और बोले कि तुमने मेरे मूल जीवन-मरस्यल में रस-सरिता प्रवाहित कर दी है। मेरे कानों में कोई मधुर-मधुर रस घोल रहा है। वे धीरे-धीरे चेतना खोने लगे और स्वप्न-लोक में बिहार करने लगे।

मनु की काम-वासनाएँ प्रबल हो गईं। उनके हृदय में यह ध्वनि गुँजने लगी—“मेरे ही संकेत से दैवी-विधान चल रहा था। मैं काम ही तो उनके जीवन की स्फूर्ति था, मैं ही तो उनके किनोद का मुख्य कारण था। रति मेरी सहचरी थी। हम दोनों की ही प्रेरणा से विश्व में शुभ-विधान हुआ। संसार का मंचालक मैं ही तो हूँ।”

काम ने मनु और श्रद्धा पर जादू कर दिया। श्रद्धा रति-काम की ही कन्या थी। मनु के कानों में ध्वनि घाई कि तुम इसके योग्य बनो। मनु जागृत हो गये और सोचने लगे कि हे भगवन्! क्या मैं इसके योग्य हो सकता हूँ। उत्तर न पाकर जब मनु ने नेत्र खोले तो देखा कि पूर्व दिशा सातिमा से रंजित हो गई थी।

दो हृदय परस्पर मिलने के लिए आतुर होने लगे और वासना ने उद्दाम रूप धारण कर लिया। थडा के साथ एक पशु भी भा रहा था। मनु के कानों में काम के शब्दों से प्रभृत भर दिया था अतः काम-वासनावश उन्होंने थडा से अनेक प्रदत्त पूछे। थडा भी मनु का हाथ पकड़ कर खिलखिला पड़ी। मनु के बिजली सी दौड़ गई, उन्हें वह अनुपम सुन्दरी दीख पड़ी और अपने की सर्वतः उसको सौंप दिया। इस सम्पर्ण से थडा लज्जा के वश में हो गई।

मनु की कामोद्दीपना और थडा की लज्जा का मनमोहक प्रसंग प्रवर्तित हो रहा था कि सहसा किलात और आकुली नाम के राक्षस वहाँ खड़े हुए पशु की देख कर ललचाने लगे। वे दोनों भी प्रलय-विप्लव से बच गये थे। वे उस कुज के द्वार पर आये जहाँ मनु और थडा नूतन सृष्टि का उपक्रम करने के लिए चिन्तित बैठे थे और मनु को यज्ञ-कर्म करने के लिए संकेत किया। मनु को पुरोहित की आवश्यकता थी अतः उन्होंने (राक्षसों ने) प्रवचन कर स्वयं ही पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। यज्ञ किया गया, पशु-बलि भी दी गई परन्तु थडा इस जघन्य कर्म से मन्तुष्ट नहीं हुई। वह रुष्ट होकर गुहा में चली गई और सो गई। यह देख कर मनु बड़े तिर्र हुए और वे भी गुहा में गये। गुप्त थडा के सौंदर्य ने उन पर जादू कर दिया और वे मन्द-मन्द स्पर्श करने लगे। थडा की तनु-मृष्टि अकुरित हो गई परन्तु मान-वश उसने अपना रोप प्रकट कर दिया। मनु ने उसे समझाया परन्तु थडा ने यही कहा कि दूसरे प्राणियों की रक्षा का ध्यान हमारा परम कर्त्तव्य है। मनु कामातुर थे अतः उन्होंने थडा को सामयिक वचन दिया और साथ ही सीमरस का पात्र भी।

मनु के हृदय में थडा के प्रति उपेक्षा-सी होने लगी। वे जीवन में नवीनता चाहते लगे और मृगया में ही लीन रहने लगे। थडा की प्रेम-भरी नेष्टायों में अब उनके लिए कोई आकर्षण न रह गया। थडा भी समझ गई अतः वह अब अन्न-चयन एवं तकली बानतने में ही समय बिताने लगी। एक दिन थडा गुहा-द्वार पर मनु की घाट जोह रही थी, दिन ढलने पर मनु आये परन्तु कुछ न बोले। गर्भवती थडा ने जातरभाव से कहा—“आप दिन भर वहाँ भटकते रहते हो ? आखेट ही आपको प्रिय है। पक्षी-मुग्ध अपने शिकारों के माथ नीलों में भ्रान्त मनाते हैं और मैं हतभाग्या एकाकी जीवन बिताती हूँ।” मनु ने उत्तर दिया—“अच्छे ! तुम अन्न-चयन में लगी रहती हो या फिर तकली बानतने में। मैं कुछ भ्राम्य-सा अनुभव करता हूँ। बताओ, तुम्हारी उपेक्षा में क्या रहस्य है।” मनु के हृदय में विनी और बडते हुए थडा के अनु-राग से ईर्ष्या जाग्रत हो गई। थडा उनका हाथ पकड़ कर गुहा में ले गई और

उन्हें मुमन-सज्जा एवं पालना दिखाया। वह बोली, "भाप आखेट में लगे रहते हैं, एक दिन बच्चे के कलरव से यह गुहा-मन्दिर भी सरस हो जायगा।" मनु उपेक्षा से बोले, "बघाई है तुम्हारे सुख पर परन्तु तुम में यह द्वैत क्या? मैं भव यहाँ प्रेम का भिक्षुक बनकर न रहूँगा। तुम अपने सुख में सुखी रहो और मैं अपने दुख में दुखी रहूँगा।" यह कह कर वे अन्य स्थान को चले गए और श्रद्धा वहीं रह गई।

यहाँ से चल कर मनु सारस्वत प्रदेश में पहुँचे। उन्हें श्रद्धा के परिव्राग का दुख था, अतः अत्यन्त म्लान थे। सहसा उस निर्जन में उन्हें अनग की वाणी सुनाई दी कि मनु! श्रद्धा ने तुम्हें अपना हृदय दिया था परन्तु तुमने उसे परित्यक्त कर दिया और भाप दिया कि तुम्हारा प्रजातन्त्र सन्ताप-ग्रस्त रहेगा और तुम भी कभी शान्ति न पा सकोगे। भाप की ध्वनि समाप्त हो गई परन्तु मनु को विकल बना गई। इसी समय सहमा उन्होंने एक मधुर वाणी सुनी और एक सुन्दरी को देखा, जिसने अपना नाम इड़ा बताया। मनु ने अपना नाम बताते हुए उससे जीवन की गुरिषयो को मुलभाने का मार्ग पूछा। उसने उन्हें जड़ीभूत जीवन में चेतनता लाने की प्रेरणा दी। मनु उसको सम्मति से अत्यधिक प्रभावित हुए और कृतज्ञता प्रकट की।

इधर श्रद्धा के पुत्र उत्पन्न हो गया था। एक दिन वह मनु के स्वप्न में मान थी कि बालक का गन्ध सुनाई दिया और पुनः उसे विभटा कर सो गई। उपर मनु इटा के प्रेम-भाषा में भावबद्ध हो गये। उन्होंने उससे बलात्कार करना चाहा। श्रद्धा ने इसे स्वप्न में देखा और वह जग पड़ी। वह बालक को लेकर मनु की खोज में चली।

प्रजा मनु के इस बर्ष से रष्ट थी। एक क्रान्तिपूर्ण संधर्ष की सहर उठ खड़ी हुई। मनु ने उसका दमन करना चाहा परन्तु इडा ने उन्हें समझाया। इस पर इडा गुहा में जाने लगी परन्तु मनु ने दार रोक़ा। सहमा मिह-द्वार टूट गया। प्रजा के नायक थे विलात और भाकुलि। मनु ने नीह को रकना न देखकर बाण-वर्षा की परन्तु विरात होकर गिर पड़े।

रक्षोघ्न घायलों से फटा पड़ा था। मनु को घायल पड़ा देगवर इड़ा को बड़ा शोभ हो रहा था। उसी समय मनु को खोजती हुई श्रद्धा भी वहाँ आ गई। विरात मनु को देगवर उमे बड़ा दुम दुमा। मनु भी दुगी हुए। माँ और पुत्र की परिचर्या ने मनु शीघ्र ही स्वस्थ होने लगे। मनु ने श्रद्धा से कही दूर चलने के लिए कहा परन्तु श्रद्धा ने उनकी दुर्बलता के कारण स्वीकृत न किया। मनु को निर्वेद हो गया था अतः एक रात वे श्रद्धा से उठ गये। प्रातः इडा

श्रीर श्रद्धा ने जब उन्हें न देखा तो वे अत्यन्त दुखी हुईं ।

श्रद्धा कुमार को मान्त्वना देकर इडा के पास छोड़ गईं और उसे राज-धर्म के पालने के लिए शिक्षा दे स्वयं मनु की खोज में निकल पड़ी । एक स्थान पर उसने मनु को देखा । मनु कृतज्ञता से भर गये । उन्होंने श्रद्धा को साथ ले लिया । श्रीर भगवान् के ध्यान में निमग्न रहने लगे । एक दिन उन्होंने उस जगदीश्वर की भव्य मूर्ति के दर्शन किए और श्रद्धा से कहा, “श्रद्धे ! तू मुझे उन चरणों तक ले चल, वही अखण्ड समरस ध्यानन्द है ।”

मनु श्रीर श्रद्धा वहाँ से चल दिए । वे उच्च हिमालयी प्रदेश में चले जा रहे थे कि सहसा मनु को बलान्ति का भान हुआ और बोले, “श्रद्धे ! मैं धान्त श्रीर वतान्त हो गया हूँ । दुर्बल तो मैं हूँ ही अब न चल सकूँगा ।” श्रद्धा ने सम्मत्ता देते हुए कहा कि घबड़ाओ मत, हम सम प्रदेश में आ गये हैं । मनु ने आखिँ खोपी तो देखा कि वे एक ऐसे प्रदेश में चले जा रहे थे जहाँ न भू थी श्रीर न नक्षत्र-ग्रह आदि । वह एक रहस्यमय प्रदेश था, जहाँ तीन दिशाओं के संसार में तीन ही प्रकाश दीप्त पड़े । मनु ने उन तीन आलोक त्रिन्दुओं के विषय में पूछा तो श्रद्धा ने कहा कि वे इच्छा, क्रिया और ज्ञान के सीमा-बिन्दु थे । इनमें प्रथम वह स्थान था, जहाँ से मनोमय विश्व रागादण चेतना की उपासना करता है, माया विश्व के प्राणियों के लिए अपना पाश फैलाती है और जिसकी भाव-मुक्तिका पुण्य-पाप की जननी है । द्वितीय भ्रान्त कर्म-चक्र से युक्त कृष्ण प्रदेश है, जहाँ सर्वदा सघर्ष, कोलाहल और विवर्लता का राज्य रहता है और ममूद्धि और सुयस मृग-भरीविका के समान है । तीसरा ज्ञान का भव्य प्रदेश है जो पुंजीमूत रजत के समान है और जहाँ समरसता है, सभी न्याय एवं तपश्चरण में लीन हैं और अजर-अमर से जीवन का रस माँगते रहते हैं । इन्हीं तीन बिन्दुओं से प्रकाशमान त्रिपुर है ।

एक यात्री-दल अपनी पूर्ण सज्जा के साथ पार्वतीय प्रदेश में आ रहा था । इडा इसमें एक युवक के साथ थी जो धर्म के प्रतिनिधि बेल के ऊपर सोमलता लादे चल रहा था । बच्चे एक गये थे । किमी ने कहा कि अब न चलो, यही ठहरो । इडा ने कहा, “अभी तीर्थस्थान आने वाला है जो एक मनस्वी का साधना-स्थल है । उसकी पत्नी भी उसी की रोज में आई थी और वे दोनों यहीं बैठे संसार का हित-चिन्तन करते हैं ।” विशोर ने पूछा कि यह बेल क्यों लाई हो । इडा ने उत्तर दिया कि यह धर्म का प्रतिनिधि है, हम इस जीवन-पट को धमूत ने पूर्ण करेगे और इगकी बलि देंगे । थोड़ी देर परचात् शानू भूमि आई । मनु यहीं मानस-तट पर बैठे ध्यान में मग्न थे । इडा

न मनु को देता और उनके चरणों पर गिर पड़ी और बोली कि मैं स्वयं भ्रातृ धी और सबको भ्रम में डाल रही थी। मनु ने कलाश की और संकेत करते हुए कहा कि देतो वहाँ दुःख-मुक्त नहीं है, भ्रानन्द ही भ्रानन्द है और समरमता का प्रलम्ब साम्राज्य है एव द्रुत का प्रभाव है और एक ही तत्व है। कामायनी भ्रानन्द में निगमन थी। तदस्त्वात् ममी सच्चिदानन्द में हूव गए।

कथा की पृष्ठभूमि—मनु मन्वन्तर अर्थात् मानवता के नवयुग-प्रवर्तक के रूप में भारतीय धर्म-साहित्य में प्रसिद्ध रहे हैं अतः वैवस्वत मनु ऐतिहासिक पुरुष हैं। पुरूक के उत्तरी छोर पर मनाली में मनु का एक प्राचीन मन्दिर आज भी विद्यमान है। इस काव्य की कथा जन-प्लावन में प्रारम्भ होती है और जल-प्लावन का प्रसंग शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के घ्राट्वे अध्याय से प्रारम्भ होता है, जिसमें उनकी नाव का हिमालय के गिरिप्रदेश में पहुँचने का उल्लेख है। वहाँ जलत्रेक की समाप्ति पर मनु जिम स्थान पर उतरें से उसे मनोरथ मरण कहते हैं।

“अपीपरं वं त्वा, सुशे नाव प्रातिवघ्नीष्व, सं तु त्वा मागिरी सन्त मुदमन्तरचेत्मीद् धावद् धावदुदकं समवापान्-तावत तावदन्वयसंपत्ति इति सद् तावत् तावदेवान्ववससर्प तदप्येत्-नुत्तरस्य गिरेर्मनोवत्सर्पामिति।”

(शतपथ ब्राह्मण ८—१)

बैबिलोनिया, सीरिया, भारत एवं मिस्र आदि देशों के धर्म-ग्रन्थों एवं वाइबल में भी जल-प्लावन का वर्णन आया है।

उपर्युक्त प्रलयकालीन जल-प्लावन में उच्छ्रंसल देवों का विनाशपूर्ण जीवन-व्यापार समाप्त हो गया। कुछ थोड़े ही व्यक्ति बचे, जिनमें मनु के अति-रिक्त थदा, इडा तथा किनात और धातुनी नामक दो अमुर आदि थे। थदा के सहयोग से मनु ने मन्वन्तर की प्रवर्तना की। ऋग्वेद में थदा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की शक्ति मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में मनु को थदादेव कहा गया है—“थदादेवो वं मनुः (काण्ड १ पं० १)। इस थदा को सायणाचार्य ने “कामगोत्रजा थदानामयिका” तिरा कर कामगोत्रोत्पन्ना बतलाया है अतः वह कामायनी भी कहलाती है। इन्हीं मनु और थदा से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ ऐसा भागवत में तिरा है—

ततो मनुः धाददेवः सत्तायामाम भारत ।
धदायां जनयामाम दश पुत्रान् स धात्मवान् ॥

(९-१-११)

धान्दोग्य उपनिषद् में मनु और थदा की भावभूतक व्याख्या भी मिलती

है—“यदा व श्रद्धघाति अय मनुते वाऽश्रद्धधन् मनुते ।” जल-प्लावन के पश्चात् मनु ने श्रद्धा के साहचर्य से उसी गिरि-प्रदेश में नूतन सृष्टि का उपक्रम किया। इसके लिए यज्ञ का विधान हुआ। शतपथ ब्राह्मण में मनु को सर्वप्रथम अग्नि-होत्री लिखा भी है—

“मनुर्हवा अप्रे यज्ञेनेजे, यदनुकृत्येमा. प्रजाः यजन्ते ।” (५—१)

इस प्रथम यज्ञ में किलात और आकुली नामक दो असुर पुरोहित बने—

“किलानाकुली—इति हासुर ब्रह्मावास्तुः । तो हीचतुः श्रद्धादेवो धं मनुः—धावं नू वेदावेति । तो हाणत्योचतुः मनो । आजयाव खेति ।”

इस यज्ञ से मनु में देव-प्रकृति जाग्रत हो गई और उनका इडा से परिचय होने पर श्रद्धा के प्रति उपेक्षाभाव हो गया। मनु और इडा के मध्य निम्न वार्त्तालाप शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—

“तां ह मनुश्वाच—वा असि ?”

“तय दुहिता इति ।”

अर्थात् मनु ने पूछा, ‘तुम कौन हो ?’ श्रद्धा ने उत्तर दिया कि मैं तुम्हारी पुत्री हूँ। इस पर मनु ने पुनः प्रश्न किया कि तुम मेरी पुत्री कैसे हो। श्रद्धा ने कहा क्योंकि मेरा पोषण तुम्हारे हृदय-दधि-घृत आदि से हुआ है।

ऋग्वेद में इडा को मनु की पथप्रदर्शिका और मनुष्यों पर शासनकर्त्री लिखा है—“इडामकृष्वमनुदस्य शामनीम् ।”, (१-३१-११)

ऋग्वेद में इडा से सम्बन्धित और भी मन् मिलते हैं—

“सरस्वती साधयन्ती धियं न इडा देवी भारती विश्वतर्तिः ।

तिलो देवीः स्वपया र्हि रेवमविद्यं पालु शरणां निपद्य । (२-३-८)

‘आनो यज्ञं भारती तूपमेत्विङ्गा मनुष्यदिह चेतयन्ती ।

तिग्री देवीर्वह्निरेवं स्योनं सरस्वती स्यपसः सवन्तु ।” (१०-११०-८)

इन मन्त्रों में सरस्वती और भारती के साथ इडा का नाम भी आया है और उसे बुद्धि का साधक कहा है। लौकिक संस्कृत में तो इडा बुद्धि को कहने ही है।

उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि मनु ने श्रद्धा के सहयोग से सृष्टि का उपक्रम किया और इडा की सहायता से बुद्धि का विकास कर राज्य की स्थापना की।

इडा के धारण्य से श्रद्धा के प्रति उपेक्षा हो गई और मनु इडा पर असात्कार कर बैठे, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें देवी का कोपमाजन बनना पड़ा और दण्ड-भागी होना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण में भी लिखा है—

"तद् देवानां धाम भास ।"

"तं द्रोऽ न्यावर्य विव्याप ।"

इस प्रकार मनु अर्थात् श्रीर इडा तीनों ही ऐतिहासिक महत्व रखते हैं परन्तु इनसे सांकेतिक अर्थ भी निकलते हैं, यथा मनु में मन, अर्थात् से अर्थात् श्रीर इडा से बुद्धि अतः इस कथा में रूपक भी है । अर्थात् श्रीर इडा को मन का उद्गमः हृदय श्रीर मस्तिष्क पक्ष भी कह सकते हैं ।

इडा मनु (मन) श्रीर अर्थात् के बीच सर्वत्र वाधा डालती रहती है इसीलिए मानव दुःख पाता रहता है ।

दूसी मन्त्र के आधार पर प्रसाद जी ने कामायनी की कथा-सृष्टि की है ।

कथा में रहस्यात्मक रचना—यही कहा गया है कि मनु मन का, अर्थात् अर्थात् श्रीर इडा बुद्धि की प्रतीक है । इनका लेकर जो कथा-सृष्टि हुई है, उसमें मनोभावों का बड़ा सुन्दर विश्लेषण हुआ है । प्रकृति के प्रारम्भ में ही मानव-हृदय में अनेक भावों का मध्य होता आया है । जीवन का प्रारम्भ जिस भाव में होता है श्रीर पुनः जिन भावों का क्रमिक विकास होता है तथा अन्त में जीवन की सुन्दरतम समाप्ति जिस भाव में होनी चाहिए, उन्हीं भावों का उद्गमः चित्रण इस काव्य में है ।

इस काव्य में ये पन्द्रह संगे हैं—विन्ता, धामा, अर्थात्, काम, वासना, सज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इडा, स्वप्न, मयर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य श्रीर ध्यानन्द ।

मनुष्य का जीवन विन्ता में ही प्रारम्भ होता है क्योंकि धरना एवं धन्य जनों का विनाश प्रायः उमें विपन्न बनाता रहता है । जब विनाश, विप्लव एवं उद्वेग की घड़ी टन जाती है तो उसमें नवीनता के लिए धामा का मन्त्र होता है श्रीर अर्थात् एवं विद्वान के वचन पर वह भागे बचना है । अधिक अर्थात् (अर्थात् का प्रेम) उसमें धान्य-विकास के प्राधिकार का कारण होती है अतः वह विनाशी हो जाता है । विलास-प्रियता काम की उदीयन करती है जिससे हृदय में वासना का स्थायी वायु-मा हो जाता है । किन्तु अर्थात् की मधुर चेतना सज्जा की उद्भाविका होती है श्रीर वह कर्म में निरत होता है । कर्म-मीन व्यक्ति स्वापान्ध हो जाता है श्रीर उसमें स्वभावतः ईर्ष्या उद्गुत हो जाती है । अब मनुष्य का हृदय काम नहीं करता श्रीर इडा (बुद्धि) सक्रम हो जाती है । इनके सहारे वह भ्रमामय स्वप्न (भावस्वप्न) देखता है श्रीर इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के निमित्त श्रीर मंसपे करना है श्रीर यहाँ तक कि वह धनधनार चेट्टा एवं बनानार भी कर बैठा है । किन्तु जब कामना पूर्ण नहीं होती तो अन्त हुआ निर्वेद की प्राप्ति करता है । अर्थात् उमें पुनः सम्बन्ध देती है श्रीर वह धान्य-

दर्शन प्राप्त करता है और तदनन्तर विराट् की रहस्यमय लीला से परिचित होता है, जिसका ज्ञान उसके अपरिमित आनन्द का कारण बनता है। इस अवस्था की परमावधि पर मनुष्य को परम आनन्द और परम शान्ति ही अनुभूत होती है और उसे ज्ञान होता है—

अपने दुःख-सुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट् यपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

कामायनी की दार्शनिकता—मन निसर्गतः चञ्चल एव विलास-प्रिय है। जब मनुष्य का विलास छिन्न-भिन्न हो जाता है तो उसकी अवचेतना सुप्त-प्राय हो जाती है परन्तु परिस्थिति के सुघरते ही वह पुनः विलास की ओर दौड़ता है। विलास में काम-भावना थड़ा के बिना प्रमर्षादित एवं असयत हो जाती है। थड़ा इसे संयत रखती है, थड़ा का सहारा मानव-मन के लिए एक सम्बल है। भोग-विलासों में मन मन को थड़ा ही उद्धृत करती है। मन पुनः पुनः विषयों की ओर दौड़ता है और जब थड़ा को बाधक पाता है तो इडा (बुद्धि) का आश्रय लेता है। बुद्धि सतकं रहती है परन्तु वह उससे मनुचित लाभ उठाना चाहता है और यहाँ तक कि उससे कामना-पूर्ति के लिए बलात्कार भी करता है। इसी को बुद्धि-व्यभिचार भी कहते हैं। बुद्धि मन का ही मस्तिष्क पदा है। मत्तः वह उसकी पुत्री है। पिता का पुत्री पर यह बलात्कार प्रवृत्ति भी नहीं सहती और उसे मुँह की खानी पड़ती है। ऐसी ग्राहत अवस्था में थड़ा पुनः अपने मध्य रूप में आकर उसे मार्ग दिखाना चाहती है परन्तु अब वह थड़ा और इडा दोनों का ही परित्याग कर देता है, इससे उसे कोई सान्त्वना नहीं मिलती। अन्त में थड़ा ही उमे मार्ग पर लाती है और उसे चिद्दर्शन कराती है। इडा भी थड़ा के समक्ष नतमस्तक हो जाती है। इस प्रकार थड़ा के सम्बल एव इडा के सहयोग से मानव-मन सिद्धि प्राप्त करता है और उसे शिव के दर्शन होते हैं। शिव से तात्पर्य तत्व-दर्शन से है, जिसमें परमानन्द निहित है। थड़ा ही आनन्द की विषायिका है। इच्छा, कर्म और ज्ञान का समन्वय आनन्द-प्राप्ति के लिए परमावश्यक है। इनका पार्यवय ही महान् दुःख है। यही त्रिपुर है, जिसका भेदन करने से शिव त्रिपुरारि कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि इनकी भेद-बुद्धि दूर हो जाने पर शिव का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है और प्रभूत-तत्व की प्राप्ति होती है।

एग वाक्य में शैव तत्वज्ञान की प्रयानता है, जिनके अनुसार सारा विश्व

प्रानन्दमय है। मृष्टि की उदाति प्रानन्द में होती है और स्थिति एवं समाप्ति भी प्रानन्द में ही होती है। प्रानन्द एवं मगल तत्व शिव ही है। शिव के पाँच रूप हैं—मष्टा, संहारक, दिग्म्बर, मन्त्रविद् ऋषि और नटराज। इस काव्य में इन पाँचों के दर्शन हमें मिलते हैं। विश्व-स्रजन में वह प्रथमी शक्ति से काम नेता है। वह स्वयं प्रानन्द के रूप में और शक्ति प्रकृति के रूप में मृष्टि में व्यक्त है। कामायनी में नूतन मृष्टि का विधान इसी शक्ति के बल पर हुआ है। उसका दूसरा रूप है महारक्तता। इस काव्य में संहार का भीषण रूप तो प्रारम्भ में ही हमें दीक्षता है। दिग्म्बर रूप हमें अनन्त की नील सहरोँ पर प्रासनामीन हुआ दृष्टिगोचर होता है। मन्त्रविद् रूप केनाम पर और नटराज दर्शन सगं में जहाँ नू उन्हेँ देवकर विस्मय-भागर में गीने खाने लगते हैं।

शिव के इन पाँचों रूपों में प्रानन्द का विधान है या यो कहिए कि ये प्रानन्द के उद्भावन के लिए ही हैं। इनमें प्रानन्द की उपनबिन् मनुष्य का परम लक्ष्य है। कामायनी में भी इसी प्रानन्द की प्राप्ति के लिए मनु का प्रयत्न है। ये विप्लव के पदचान् मन्त्रन्तर की जो मृष्टि करने हैं उनमें प्रानन्द का विधान ही तो प्रमुख है। इनमें थडा मनु को महारा देती है। मृष्टि में प्रानन्द-पथ में भ्रष्ट करने वाली कामुरी शक्ति सतत प्रयत्न करती रहती है। कामायनी में भी कितान और कामुकी नामक दो भ्रमुर मनु की उन्मान पर ले जाते हैं। थडा मनु (मन) की इन चेट्या से रष्ट हो जाती है परन्तु धन्यमनस्क नहीं। हाँ मनु धन्य विमुक्त हो जाते हैं और इडा (बुद्धि) का महारा लेते हैं। उसके मन्त्रों से मनु (मन) पुनः मपयं करने हुए धनेक कप्यो का सामना करते हैं। प्रान्त में थडा ही महारा देती है, इडा भी उनके समग्र पुष्टने टेक देती है और तमी मनु (मानव-मनु) को शिव-दर्शन होते हैं।

दस शिव-दर्शन की प्राप्ति कोरे बुद्धिवाद से नहीं होनी। प्राञ्जव बुद्धि और थडा की शक्ति ही मानवीय चेतना की इतना उदाती है कि वह भेद-बिहीन हो जाती है। कर्म, भाव (इच्छा) एवं ज्ञान के त्रैत को विद करके ही चेतना-गर लक्ष्य तक पहुँचना है और तमी मानव को इष्ट-निदि होती है। पुराणों में भी शिवजी त्रिपुर का भेदन करके ही मृष्टि में प्रानन्द का विधान करते हैं।

संदेश—कामायनी से हमें जो संदेश मिलता है, उसके कई रूप हैं। मानव थडा के बिना धगल है। उसके बिना वह उनी प्रहार धाया है, पंगु है त्रिम प्रहार नारी के बिना नर। थडा के चरित्र से नर के जीवन में नारी का महत्व भी प्रदर्शित किया गया है।

थडा के बिना कोरी बुद्धि पपभ्रष्ट-कारिका होती है। यद्यपि उसका

सतर्क रूप भी लुभावना होता है और मनुष्य उस पर इतना आसक्त होता है कि बुद्धि-व्यभिचार से भी नहीं चूकता, परन्तु यह उसके लिए शान्ति का कारण नहीं होता प्रत्युत् अपार दुःखों का साधन बन जाता है। श्रद्धा ही जब सहाय देती है तो बुद्धि भी परिष्कृत हो जाती है तथा पंगु मनुष्य श्रद्धा और इडा रूप वैशाखियों से अप्रसर होता है और तभी उद्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचता है। सुबुद्धि समाज के विकास का एक प्रधान कारण है, इस प्रकार इसमें परिष्कृत बुद्धि का भी महत्व स्वीकार किया गया है। भारतीय अध्यात्म में ज्ञान की प्रधानता तो रही है परन्तु विरसित बुद्धिवाद का माहात्म्य स्वीकार करना नवीन युग की चेतना का ही प्रभाव है, वैज्ञानिक युग की देन है।

हमें अनेक स्थलों पर इस युग के दर्शन इस काव्य में होते हैं। कर्म-लोक के दर्शन में हमें आधुनिक युग की भाँकी मिलती है—

अममय कोलाहल, पीड़नमय
विकल, प्रवर्तन महायन्त्र का;
क्षण-भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दान है क्रिया-तंत्र का।

× × ×

यहाँ दासनादेश घोषणा
विजयो की हुंकार सुनाती;
यहाँ भूल से त्रिकल दलित को
पदतल में फिर-फिर गिरवाती।

मनु के नगर-वर्णन में भी आधुनिकता की गन्ध घाती है—

मनु का नगर बसा है सुन्दर सहयोगी हैं सभी घने,
दुड़ प्राचीरों में मन्दिर के द्वार दिखाई पड़े घने;
वर्षा घूप शिशिर में छाया के साधन सम्पन्न हुए,
खेतों में हैं शृषक चलाते हल प्रमुदित अम-स्वेद मने।

इसके अतिरिक्त गान्धीवाद का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। मनु की उपेक्षा में श्रद्धा तरली बलाती है—

तुम दूर चले जाते हो जय
तब लेकर तरली यहाँ घँट;
में उते फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता घोष घँट।

जहाँ अन्य कवि संध्या-सुन्दरी को विविध परिधानों एवं अनकारों से सुशोभित करते हैं वहाँ प्रसाद जो उसे छोड़ उड़ाते हैं—

सन्ध्या घनमाता को सुन्दर
छोड़े रंग-दिरंगी छोड़ ।

इस आधुनिकता की भाँकी में मैं हम यह मन्देश पाते हैं कि साम्य का विधान हो, जीवन में श्रुत्या हो और विवेकशीलता हो जिसमें मनार में विषयव की शान्ति हो और आनन्द का विस्तार हो ।

एक मन्देश नारी-विषयक भी है । नारी नर की शक्ति है । जिस प्रकार सृष्टि में आनन्द की विधानिका गिद-गति है उसी प्रकार नर के जीवन को सक्रिय एवं आनन्द बनाने वाली नारी है । नारी और नर में पूर्ण-पूरण भाव है । नारी के बिना नर अधूरा है और नर के बिना नारी अन्तः विषय-नवानन में दोनों का समान महत्व है । थडा और इडा प्रसंग नारी के दो रूपों के प्रतीक हैं—एक ग्मिर धूमरा धग्मिर । थडा मनु-कुमार (मानव) में इडा के समीप रहने के लिए आदेश देते समय जो बुद्ध कहती है उसमें भी हमें यही ज्ञान होता है कि इडा (बुद्धि) तर्कमय धग्मिर धग्मिर है । परन्तु मानव थडामय होने से विवेकशील है । उनका कर्मध्व है बुद्धि को ज्ञान कर संसार में समरसता एवं प्रेम का प्रचार करना—

यह तर्कमयी तू थडामय,
तू मननशील कर कर्म धनय;
इसका तू सब सन्सार-निचय,
हर से, हो मानव-भाष्य-उदय;
सब की समरसता का प्रचार,
मेरे सुन ! सुन माँ को पुकार ।

इसमें समरसता में परोक्षतः साम्य की स्थापना भी प्रतिबन्धित होती है । कामायनी में हर्षे यह भी मन्देश मिलता है कि संसार में काम-विरहित होना ही श्रेय नहीं । संसार कर्मशेष है परन्तु उसमें थडा और विवेक को सोना नहीं चाहिए । उद्विग्न-पूर्वक दुराचारों की त्यागकर ज्ञान के आशोक में जो कर्म बिये जाते हैं वे आनन्द के विषयक होते हैं । ज्ञान में इच्छा, कर्म और ज्ञान का सम्बन्ध इसी बात को स्पष्ट करता है । जीवन का अन्तिम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति है अतः मनुष्य को उपर्युक्त पथ से ही रहना चाहिए । इसी में वह स्वजीवन में और विरय-जीवन में भी आनन्द के स्रोत बहा सकता है ।

कामायनी में महाकाव्यत्व—संस्कृत के रीति-धाराचार्यों के अनुसार महाकाव्य में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

(क) नायक धीरोदात्त हो और वह थोड़ा कुलोत्पन्न हो ।

(ख) नायिका भी तदनुकूला हो ।

(ग) कथा का विस्तार नायक के अधिकांश जीवन को व्याप्त करता हो ।

(घ) कथा सर्गों में विभक्त हो और सर्ग आठ से अधिक हों ।

(ङ) वर्णन में प्रकृति, रण, विवाह आदि का वर्णन आवश्यक है ।

(च) रसों की योजना में शृंगार, वीर अथवा दान्त प्रमुखतः होने चाहिए ।

(छ) प्रत्येक सर्ग में छन्द-भिन्नता भी हो ।

(ज) जीवन के सभी रूपों पर प्रकाश डाला गया हो ।

(झ) उद्देश्य महान् हो और उसकी परिसमाप्ति सुखमय हो ।

इन लक्षणों में से हमें कामायनी में सभी मिलते हैं । मनु धीरोदात्त नायक है । उनकी प्रसूति देवी है । उनमें समय-समय पर जो दुर्बलताएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे तो स्वभाव-जन्य हैं परन्तु मनु ने उन पर विजय पाई है यही उनकी उदात्तता है । अर्द्ध के समक्ष आत्म-समर्पण कोई दुर्बलता नहीं क्योंकि यहाँ कवि ने नर-नारी का आधुनिक एवं उज्ज्वल सम्बन्ध ही समझ रखा है । अर्द्धा तदनुकूला नायिका है । कथानक मनु के जीवन में सृष्टि के प्रलयकाल से लेकर उनके परिणय, पुत्रोत्पत्ति, दीर्घ संघर्ष एवं उनके पुत्र मानव द्वारा नूतन सृष्टि के उपक्रम तक विस्तृत है । यह सम्पूर्ण कथा पन्द्रह सर्गों में विभक्त है ।

इसमें स्थान-स्थान पर प्रकृति-वर्णन भी हुआ है । अर्द्धा और मनु का प्रेम परिणय विवाह ही है । सामरिक वर्णन भी इसमें मिलता है । मनु और प्रजा के संग्राम का वर्णन बड़ा ही श्रेष्ठपूर्ण है ।

शृंगार, वीर और दान्त रसों की योजना भी इसमें यथास्थान हुई है । अर्द्धा एवं मनु और मनु एवं इडा के प्रेम-प्रसंग में शृंगार की बड़ी झूठी अभिव्यक्ति हुई है । संग्राम में वीररस की व्यंजना भी दर्शनीय है । और निवेद और आनन्द सर्गों में दान्त रस की अभिव्यञ्जना भी बड़ी सुन्दर है ।

सर्गों में छन्द-योजना भी विभिन्नता को लिए हुए है ।

इसमें मानव-जीवन के प्रायः सभी रूपों का भंगन हुआ है । इसमें

मध्य-जीवन की स्थापना का महान् उद्देश्य है और उसका पर्यवसान आनन्द में ही हुआ है।

इस प्रकार इसमें महाकाव्य के सभी सशण विद्यमान हैं परन्तु हमें मध्य-विद्वामी की भाँति पुरानी कमोटी पर ही एकान्ततः नहीं कमना चाहिए। प्रसाद जी ने सभी सशणों की योजना करते हुए भी उसको नवीन रंग में रंग दिया है। वर्णन, अभिव्यंजना शैली एवं वस्तु और धलंकार-विधान आदि सभी में नवीनता है, जिसका निर्देश हम काव्य-सौष्ठव में करेंगे।

शामायनी में काव्य-सौष्ठव—रामचरित-मानस के परवानु कामायनी ही एक ऐसा महाकाव्य है जो अपनी समता नहीं रखता। अभिव्यंजनात्मक शैली का यह उन्मूलनम आदर्श है और प्रसाद जी के काव्य-कला-विकास की यह पराकाष्ठा है। विन्ननप्रधान काव्य होने पर भी भाषा का साहित्य, उसमें सांश्रणिक प्रयोग तथा उसका विचित्र समन्करण आदि गुण एवं भावों की मनोरम अभिव्यक्ति और एक निर्वाय संगीतात्मकता इस काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। कथानक में रहस्यात्मक रूपक का निर्वाह और वह भी सरस एक ऐसी विशेषता है जो महदुर्लभ है।

शृंगार एवं वीररति रसों का विषणु प्रमशः बड़ा ही मधुर एवं धोजपूर्ण है। कामायनी के ममश मनु के वासनाप्रस्त हृदय की टविन धक्का तां देखिये—

मधु बरसती विष् करिण हँ कौपती सुकुमार ।
 पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधु भार ।
 तुम समीप, अघोर इतने धात्र क्यों हँ प्राण ?
 दूर रहा है कित्त सूरभि से तूत हाकर ध्राण ?
 भात्र क्यों सन्देह होता रुटने का ध्यर्य ;
 क्यों मनाना चाहता सा बन रहा असमय ?
 धमनियों में येदना-मा रखन का संचार ;
 हृदय में है कौपती षड्जन निये सधु भार ।

इसमें दैन्य, अप्रिय, वैकल्प, धीत्वष्ट्य एवं विरमय आदि भावों की कौसा सुन्दर योदना हुई है।

इसी प्रकार कामायनी की विरह-वेदना भी दर्शनीय है—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा ;
 एक विष्र बस रेसाओं का, अत्र उसमें है रंग कही !

वह प्रभात का हीनकला शशि, किरन कहीं चाँदना रही,
 वह संध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहाँ ।
 जहाँ तामरस इन्दीवर या सित शतदल है मुरझाये
 अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये;
 वह जलघर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं,
 शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमताल में जम जाये ।

इसमें कामायनी का विरह-जनित रूप त्रिविध प्रकार में वर्णित हुआ है ।
 यह उल्लेख भक्तकार का अदृष्टपूर्व उत्कृष्ट उदाहरण है ।

निम्न पद्य में इडा के नवशिख का वर्णन भी परम्परा की कारा से दूर
 नूतन शैली से हुआ है—

विपरीतों अभक्तों ज्यों तर्क जाल

वह विद्व-बुकुट-सा उज्ज्वलतम, शशिलड सदृश या स्पष्ट भाल,
 दो पद्म पलाश चपक से दृग देते अनुराग विराग ढाल ।
 गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश वह श्रानन जिसमें भरा गान,
 यक्षत्यल पर एकत्र धरे मंशुति के सय विज्ञान ज्ञान ।
 था एक हाथ में कम कलश समुधा जीवन रम सार लिए,
 दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय श्रवलय दिए ।
 त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा श्राल ।।
 धरणों में थी गति भरी ताल ।

मनु और प्रजा के मध्य हुए रण का वर्णन बीररस वा बड़ा शोचपूर्ण
 सजीव चित्र है—

अंधड़ था बड़ रहा, प्रजा दल था भुंभलाता,
 रण वर्षा में शस्त्रों सा विजली क्षमकाता ।
 किन्तु क्रूर मनु धारण करते उन धारणों को,
 बढ़े कुचलते हुये लक्ष्य से जन प्राणों को ।
 तांड्य में थी तीव्र प्रगति, परमाणु विकृत थे,
 निपति विकर्षणमयी, प्राप्त से सय श्याकुल थे ।
 मनु किर रहे अलात-शक से उस घन तम में,
 वह रतिम उग्माद नाघता कर निर्भय में ।

इसी प्रकार प्रलय-वर्णन आदि में भयानक आदि रसों को भी बड़ी
 गन्दर धमिशक्ति हुई है । जल-प्लावन के दो पद्य नीचे दिए जाते हैं—

सहरे ध्योम धूमती उठती,
 घपलायें असंख्य मचनीं;
 गरल जलद की खड़ी भड़ी में,
 वूँहें निज संसृति रचती ।
 घपलायें उस जलधि, पिद्व भें,
 स्वयं घमत्कृत होती यीं;
 ज्यों विराट वाङ्मय ज्वालायें,
 संड-संड हो रोती यीं ।

रसो के चित्रण में माधुर्य, श्रोज एव प्रसाद गुणों की योजना बड़ी ही रम्य है, जैसा कि हमें उपर्युक्त उद्धरणों में दृष्टिगोचर होना है ।

उपर्युक्त वर्णनों के अनिश्चित इसमें प्रकृति-चित्रण बड़े सजीव, सुन्दर एवं नूतन ढंग में हुआ है । कामायनी के प्रारम्भ में ही प्रकृति का भीषण रूप हमें दृष्टिगोचर होता है—

पचभूत का भैरव मिथल, शंघाघों के शकल-निपात
 उल्का लेकर घमर शक्तिर्षा, लोज रहों ज्यों लोया प्रात ।
 बार-बार उस भीषण रथ से, कँपती धरती बेल विशेष
 मानो नील ध्योम उतरा हो, आलिपन के हेतु भरोष ।
 उधर गरजती सिन्धु-सहरिषा, कुटिल काल के जालों-सी
 चली धा रही फेन जगलतीं, फन फँलाये म्पालों-सी ।

इस भयावह रूप की शान्ति पर प्रकृति का शान्त एवं रम्य रूप भी हमें घासा मर्ग के प्रारम्भ में दीव्य पटना है—

वह चित्रण मूल प्रकृति का, पाज लगा हँसने फिर से
 बर्षा बीती, हुआ सृष्टि में, शारद विकास नये तिर से ।
 नव होमल आलोक विलसता, हिम संसृति पर भर अनुराग
 सित सरोज पर फोड़ा करना, जैसे मधुमय सिग पराग ।
 धीरे-धीरे हिम आच्छादन, हटने लगा घरातल से
 जर्गी बनस्पर्तिर्षा घलसाईं, भुल घोनी द्रोतम जय से ।
 मेघ-निमोहन करती मानो, प्रकृति प्रमुद सगी होने
 जलधि सहरिषों की श्रेणसाईं, बार-बार जाती सोने ।
 सिन्धु-जोत्र पर घरा-वधू भङ्ग, तनिक सङ्कुचित बँटो-सी
 प्रतय-निगा की हलचन स्मृति में, मान बिदे-सी पेंटी-सी ।

चाँदी-सी जगमगाती रात का एक लघु चित्र कैसा सुन्दर है—

धवल मनोहर चन्द्र-बिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ ।

सन्ध्या को एक स्थान पर वे छोट का परिधान ओढ़े हुए लिखते हैं—

सन्ध्या घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-विरंगी छोट,
गगन-चुम्बिनी शैल-भेणिसाँ
पहने हुए तुपार-किरीट ।

प्रसाद के प्रकृति-चित्र बड़े ही सजीव हैं । उनमें स्फूर्ति होती है और होता है सुपमा का साम्राज्य । निम्नांकित एक भादक चित्र में भला कौन न मग्न-मुग्ध-मा हो जायगा—

नव नील-कुञ्ज हं भीम रहे
कुसुमों की कथा न बन्द हुई;
है अन्तरिक्ष घामोद भरा
हिमकणिका ही मकरन्द हुई।
इत इन्दीवर से गन्धभरी
गुनती जाली मधु की धारा
मन-मधुकर की अनुरागमयी
वन रहो मोहिनी-सी कारा ।

इस महाकाव्य-सागर में से ऐसे अनेक चित्र-रत्न निकाल कर सम्भुषण रखे जा सकते हैं । अब इसमें प्रयुक्त अलंकारों पर तनिक दृष्टिपात करते हैं । प्रसाद जी की सबसे प्रिय है उपमा । उनकी रम्यतम उपमाओं का एक अच्छा नीचे दिया जाता है—

ओ चिन्ता की पहनी रेखा,
धरी विषय वन की व्याप्ती;
उजालामुण्डो स्फोट के भीषण,
प्रथम कल्प-सी मतप्राधी ।

× × ×

मृत्यु, भरी चिर-निद्रे ! तेरा
 भ्रंक हिमानी-सा शीतल
 × × ×
 कुसुम-वंभव में लता समान
 चन्द्रिका से लिपटा घनदयाम ।
 × × ×
 नील परिधान बीच सुकुमार
 सज रहा मुदुल धवललता भ्रंग;
 लिता हो ज्यों विजली का फूल
 मेघ-वन बीच गुलाबी रंग ।
 × × ×
 पहिली-सा जोवन है ध्यस्त ।
 × × ×
 बिलरी झलकें ज्यों तर्कं जाल ।

व : विद्वत् मुकुट-सा उज्ज्वलतम शशिखण्ड सदृश वा स्पष्ट भाल
 दो पद्म पलाश चपक से दृग् देने धनुराग विराग डाल ।
 इन उपमाओं में माकार मुन्दरतम रूप में, निराकार मुन्दरतम नाकार-
 रूप में घोर अजीब मनोहर सजीव रूप में विचित्र हुए हैं ।

रूपक का विचित्र रूप-वंश भी निम्न पद्यों में दर्शनीय है—

हे अभाव की चपल बालिके,
 री सलाट की सल लेला !
 हरी-भरी सौ दौड़-धूप, धो
 जन-माया की चत-रेखा !

इसमें बिना की अभाव की चपल-बालिका और सलाट की सल रेखा
 आदि बनाया गया है । एक स्थान पर रजनी की विद्वत्-कमल की मृदुल
 मधुरी कह कर मधुर कल्पना की माकार रूप ही दे दिया है—

विद्वत्-कमल की मुदुल मधुरी
 रजनी तू किस कोने से—
 धानी छूम-छूम चल जाती
 पड़ी हुई किस टोने से—

सरिता और धौलों में नारी एवं नर का धारोत भी निम्न उद्धरण में
 बितना हृदयहारी है—

भजलता पड़ी सरिताओं की
 शैलों के गले सनाय हुए,
 जलनिधि का अंचल व्यजन बना
 धरणी का, दो-दो साथ हुए ।

इस काव्य में विविध छन्दों की योजना भी प्रसंगानुसार ही हुई है । यद्यपि इसमें अलंकारों एवं छन्दों की नैसर्गिक छटा से कला का उत्कृष्ट रूप हमें दृष्टिगोचर होता है तथापि हम इसे भाव-प्रधान काव्य ही कहेंगे । इसमें ऐतिहासिक कथानक के साथ रहस्यात्मक रूपक की योजना एक प्रमुख विशेषता है । चिन्तन-प्रधान काव्य होने से भाषा और भाव में गाम्भीर्य भी पर्याप्त है परन्तु विरसता का नेशमात्र भी नहीं है । इसमें मधुरता का मधुरतम रूप, सरसता का सरसतम नृत्य और वातावरण में तरंगित ममृणता का पेशलतम विलास अपनी उत्कृष्ट आकृति के साथ प्रस्तुत हुए हैं । कल्पना-परिचां रंग-विरंगे पदों में हमें तीरती दिखलाई देती है, तथा व्यंजना का अभिभावक रूप भी हृदय को रजित किए बिना नहीं रहता । प्रभूर्त पदार्थों में भी भूर्त उपमाओं एवं रूपकों का विधान प्रसाद की सूक्ष्म चामत्कारिक काव्य-शक्ति का परिचायक है । साथ-साथ जीवन की अनुभूतियों की यह एक विचित्र चित्र-शाला है । इसका उद्देश्य भी महान् है जिसकी उपलब्धि में प्रसाद जी यथार्थ से आदर्श की ओर बढ़े हैं ।

प्रसाद की नाटकीय कला—

प्रसाद जी की रचनाओं से प्रतीत होता है कि उनका जीवन-विकास दार्शनिक के रूप में प्रमथः हुआ । वे एक गम्भीर चिन्तन-प्रिय एवं सुविचारक थे । उन्हें अतीत बड़ा प्रिय था और वे उसमें अन्तःप्रकाश देखते थे जो भविष्य को आलोकित करता थाया है और करता रहेगा । भारत की प्रायः संस्कृति की उपासना में उनको यही अद्वा उन्हें प्रेरणा देती रही । अतएव वे उसके गायक, चित्रक एवं वर्णन-वर्त्ता और प्रचारक रहे ।

उनके प्रायः सभी नाटक अतीत के चित्रों से युक्त अतः उज्ज्वल इतिहास की आधारशिला पर खड़े हैं । वास्तव में वे प्राचीन आर्य-संस्कृति के सफ़ाकारक हैं । 'वामना' और 'एक घूंट' ही प्रतीकात्मक नाटक हैं और उनमें ऐतिहासिक तत्व नहीं । शेष 'राज्यधी,' 'विनाश,' 'अज्ञातशत्रु,' 'जनमेजय का नागपञ्च,' 'स्वल्पशुभ,' 'चन्द्रशुभ' और 'ध्रुवस्वामिनी' आदि सभी ऐतिहासिक हैं । परन्तु इन्हें केवल इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठ ही समझना उपयुक्त नहीं, इनके पात्रों के चरित्र आदर्श हैं और वे हम प्रकार चित्रित किए गए हैं कि वे सार्वकालिक से प्रतीत होते हैं । उनमें हमें मानव-जीवन के विविध रूपों की झंकी मिलती है ।

उनसे प्रस्तुत धार्मिक भारतीयों के लिए ही अनुकरणीय नहीं है वरन् विश्व के लिये अनुकरणीय है। मित्र-मित्र नाटकों में तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण मौलिक होते हुए भी वास्तविकता में रिक्त नहीं है और वह उस समय की अस्तित्वात् चेतना का प्रदर्शक एवं वातावरण का प्रकाशक है।

इनके ऐतिहासिक नाटकों के नायक एवं नायिका प्रसिद्ध राजवंशों से सम्बन्ध रखते हैं। केवल 'विशास' का नायक एक स्नायक है। इनमें से 'राज्यधो' और 'ध्रुवस्वामिनी' के नाम नायिका पर रखे हुए हैं और शेष के नायकों के नाम पर।

कहा जा चुका है कि प्रसाद जी चिन्तनप्रिय थे और ये एक दार्शनिक परन्तु नाटकों में अनेक स्तरों पर दार्शनिकता का पुट देते हुए भी उन्होंने कहीं शुष्कता एवं निष्क्रियता नहीं माने दी है। उनके सभी पात्र सक्रिय, सचेत और सजिवेक हैं। गौतम एवं चाणक्य आदि अनेक पात्र मानव-जीवन की उच्च में उच्च भावनाओं को उद्गारित करते हैं परन्तु फिर भी उनके स्तूर्तिहीन जीवन की गिंसा नहीं मिलती प्रस्तुत जीवन में मजबूती एवं क्रियाशीलता का पाठ मिलता है।

प्रसाद जी देवी जीवन से प्रभावित थे परन्तु वे इसी मनुष्य में उसे देखना चाहते थे। वे अमरभूमि में देवों को इन मर्त्यलोक पर उतार कर अभि-नय कराने और मनुष्य को धार्मिक उपस्थित करने ऐसा उन्हें स्वप्न में भी अभिप्रेत नहीं था। वे मानव में उज्ज्वल देव-प्रकृति के दर्शक और प्रदर्शक थे। कुरुमा, धृष्टा और विदर्हण के बिह्व भी मनुष्य में वे कलक के छोटे समझने से अन्तः मनुष्य की इन दातवी बाली रेखाओं को धार्मिक के उज्ज्वल पदों में हटाने का ही उन्होंने कार्य किया है और सभी प्रकार के पात्रों का अंकन करते हुए भी जीवन के धार्मिकमय अर्थरूपों को उपस्थित किया है। गौतम, वेदव्यास, मन्त्रगुप्त, स्कंधगुप्त और दाण्डिधायन और प्रत्यातकीर्ति आदि पात्र ऐसे ही अशु पुरय पात्र हैं। नारियों में भी राज्यधो, मन्दिता, देवनेता और वानेविद्या अपने अर्थवत्तम रूप में चित्रित हुई हैं।

इनके नाटकों में ऐतिहासिकता के साथ सामूहिक प्रेम भी सृष्ट हृष्टि-गोचर होता है। हमें उनके अतीत के सामूहिक विषयों में एक ममृगता और पठनी है अन्तः वे घुँघने नहीं हैं वरन् वे भागमान् और अविष्य के लिए अर्चनादृष्ट (व्यापकानोह) का कार्य करते हैं। वे धार्मिक हैं अन्तः इति-हाम के घुँघों में उठाए हुए मूत्र एवं मूत्र कनेधर नहीं वरन् मनोवैज्ञानिक शक्ति में उठे हुए मजबूत एवं सच्चे प्राणी हैं जिनमें मानव अपने नाना रूपों में अस्तित्व

दीख पड़ता है। मानव-मन में विविध भावों का संघर्ष होता रहता है और विशेषतः राग-द्वेष का। प्रसाद जी के प्रायः पात्रों में यह भाव-द्वन्द्व बड़े ही मनो-वैज्ञानिक ढंग से दृष्टिगोचर होता है। आम्भीक, भटार्क, जनमेजय, विशाल एवं सुवासिनी आदि पात्र इसके जाल में तो पड़े हैं परन्तु शिकार नहीं हुए हैं और इससे उदधृत होकर विकास की ओर गए हैं। हमें प्रसाद जी के चित्रण में एक विशेषता दीख पड़ती है कि उनके पात्र निपट भिन्न रंगों से रजित नहीं वरन् वे केवल कतिपय ही रंग प्रवाहिनियों में डुबकी लेते हुए एक मर्यादित पारा में चलते हैं। यद्यपि वे इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों एवं वातावरणों से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु चित्रण में एकसूत्रता है।

प्रसाद जी नाटकों में सर्वत्र आदर्शवादी ही दिखलाई देते हैं। उन्होंने आदर्शों को तीन प्रकार से उपस्थित किया है—(१) उन पात्रों के द्वारा जो सर्वथा उज्ज्वल चरित्र हैं, (२) उन पात्रों द्वारा जिनका चरित्र प्रारम्भ में उज्ज्वल नहीं है परन्तु पुनः आदर्शों की ओर बढ़ा है और (३) कुछ पात्रों के दुराचार से मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करा कर। प्रथम श्रेणी में आने वाले पात्र हैं गौतम, व्यास और देवमेना आदि। द्वितीय श्रेणी में भटार्क, आम्भीक, विरहक और धान्तिभिक्षु आदि हैं और तृतीय में नन्द, महापिगल, प्रपञ्चबुद्धि, देवगुप्त और विजया आदि पात्र आते हैं।

वास्तव में प्रसाद जी ने कथानक इतिहास में लेते हुए भी चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक रीति से किया है अतः नाम प्राचीन होते हुए भी वे पात्र सांस्कृतिक से हैं। ऐतिहासिक नाटकों में 'अज्ञातशत्रु' के अतिरिक्त सभी के नायक धीरोदात्त हैं। अज्ञातशत्रु का नायक अहंकारी एवं दम्भी है अतः धीरोदात्त है। प्रसाद जी इन नाटकों में आधुनिकता लाना चाहते थे अतः उन्होंने पात्रों की प्रायः भीड़ लगा दी है जिनमें अनेक पात्र मौनिक हैं। कथानक इसीलिए बड़े हो गए हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ नाटक 'चन्द्रगुप्त' को ही लीजिए, उसमें राजनीति के जाल को जटिल बनाने के लिए इतने पात्र और घटनाओं की योजना की गई है कि कथानक ही एक जटिल अजाल बन गया है। 'विशाल' से लेकर 'चन्द्रगुप्त' तक यह जटिलता क्रमशः वृद्धि को प्राप्त हुई है। प्रसाद जी में एक दोष रहा है कि वे किसी घटना की सघटना के लिए पात्र का निर्माण करते हैं और उगका कार्य समाप्त होने ही उगकी हत्या करा देते हैं। 'चन्द्रगुप्त' में मालविका और मत्स्याणी का ऐसा ही अन्त हुआ है।

इनके चित्रण में संघर्ष अधिक है। 'चन्द्रगुप्त' में मगध में एक मूढ़ राज्य की स्थापना के लिए चन्द्रगुप्त नन्द, आम्भीक, सिकन्दर और मित्युकम

के विरुद्ध खड़ा होता है। 'स्कन्दगुप्त' में भी मगध के सिंहासन के लिए पुरगुप्त और मटाकं स्कन्दगुप्त से संघर्ष करते हैं। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में तक्षक जनमेजय का विरोध करता है। इस विरोध में जातीय गन्ध भी है। 'राज्यश्री' में हर्षवर्धन नरेन्द्रगुप्त और देवगुप्त से युद्ध ठानता है। इन नाटकों में संघर्ष राजनैतिक है। 'विशाख' और 'ध्रुवस्वामिनी' में संघर्ष का कारण प्रेम है। 'विशाख' में चन्द्रलेला विशाख और नरदेव के कलह का कारण बनती है और 'ध्रुवस्वामिनी' में ध्रुवस्वामिनी चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के संघर्ष का। इनके नाटकों में संघर्ष घमंभावना से भी गुंथा हुआ है। बौद्ध-धर्म विशेषतः इसका केन्द्र बना हुआ है। 'राज्यश्री' में हर्ष और मुमनध्वज बौद्ध-धर्म का सुन्दर रूप हमारे सम्मुख रखते हैं और शान्तिभिक्षु भ्रष्ट हुआ दीखता है। 'विशाख' में महापिंगल आदि भिक्षु तान्त्रिक आदि रूपों में चित्रित हुए हैं। 'प्रजातक्षत्रु' में भगवान् बुद्ध के भव्य दर्शन होते हैं। और 'स्कन्दगुप्त' में प्रपञ्चबुद्धि और धानुमेन के मध्य विरोध है। इन नाटकों में बौद्ध जन अपने भव्याभव्य रूप में किसी न किसी प्रकार सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक संघर्ष के कारण हुए हैं।

प्रसाद के नाटकों में नारी-पात्रों का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है और वह दो रूपों में—एक तो सर्वथा आदर्श रूप में और दूसरे अनादर्श रूप में। देवसेना, राज्यश्री, वागवी, मल्लिका, कान्हेनिया और चन्द्रनेमा आदि उत्कृष्ट स्त्री-पात्र हैं जो महान् नारी-गुणों से युक्त हैं। इनमें स्कन्दगुप्त की पत्नी देवसेना का चरित्र सर्वश्रेष्ठ है। वह अपनी सपत्नी विजया से रञ्चमाण भी ड्रेप नहीं करती अतः उसकी उदारतायत्ना अनुकरणीय है। राज्यश्री अपने पति के मारने वाले को भी क्षमा कर देती है। वागवी अज्ञातक्षत्रु पर कभी क्षोभ नहीं दिगाती वरन् सीतेला पुत्र होते हुए भी उसे उसकी उदृष्टता के लिए क्षमा ही करती रहती है। मल्लिका भी अपने पति के हत्यारे को क्षमा-दान देती है। कान्हेनिया विदेशी होती हुई भी पवित्र भारतीय नारी है। चन्द्रनेमा का आचार धोखेवत्य का आदर्श है। कुछ स्त्री-पात्र ऐसे भी हैं जो चरित्र-हीन हैं। विजया, दामिनी और गुरमा आदि नारियाँ ऐसी ही हैं। ये सभी वाक्या की पुनर्निष्ठा हैं। विजया का मन इतना चंचल है कि स्कन्दगुप्त ने भी प्रेम करनी है और मटाकं ने भी तथा पुरगुप्त भी उसके मानस का हंग बना हुआ है। दामिनी वेद की पत्नी होती हुई भी लज्जक और उत्तक में विनाश करना चाहती है और गुरमा की दो भाँतें दो और लगी हुई हैं—एक देशगुप्त की और तो दूसरी विषटपोर की और। परन्तु इन दुस्परिच पात्रों के चित्रण में भी एक मनोवैज्ञानिक आचार है।

प्रसाद जी के नाटकों में सकलनश्य का विशेष ध्यान नहीं रखा गया है। देश-कालादि का समुचित विचार नाटकों में परमावश्यक होता है परन्तु इनके नाटकों में इस तत्व को अनादृत-सा किया गया है। घटनाओं का सम्बन्ध विविध काल और स्थानों से जोड़ा गया है और इसके लिए अनेक पात्र भी गढ़े गए हैं जिससे नाटक प्रायः पु्युलकाय हो गए हैं।

सौली नाटकीय कला के अनुसार ही है परन्तु गद्य-गीत की छटा यत्र-तत्र दोखती है। अनेक स्थानों पर नाटककार कवि होकर चमका है। गीतों में तो उन्कृष्ट काव्य-सौन्दर्य है ही, गद्य में भी सगीतात्मकता एवं काव्य-कला के दर्शन होते हैं। वास्तव में इन्हीं गुणों ने सकलनश्य के दोष को नगण्य-सा कर दिया है। प्रसाद जी परतत्र भारत में उत्पन्न हुए थे अतः इनके नाटकों में देशप्रेम अत्यधिक मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। नाटकों में प्रायः राजनैतिक संघर्ष इसी प्रेम के परिणाम हैं। कहीं-कहीं सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों से ऊब कर दार्शनिक धरातल पर खड़े हुए पात्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' एवं 'अज्ञातशत्रु' आदि प्रायः सभी नाटकों में यह दार्शनिकता अपना रूप दिखाती है। यह लेखक के अपने हृदय का उद्गार है। कहीं-कहीं दीर्घ वक्तुताएँ अलरती हैं, यद्यपि वे नीरस नहीं हैं। मघर्ष में अन्तर्द्वन्द्व ने नाटकों को सचेष्ट-सा बना दिया है। सरसता, उक्ति-विचित्रता, सगीतात्मकता एवं काव्यात्मकता आदि गुण तो इनके नाटकों के प्राण हैं।

इनके श्रेष्ठ नाटक प्राचीन नाट्य सौली पर लिखे हुए नहीं हैं। उनमें आधुनिकता अधिक है। प्रारम्भ में न नाग्दी है और न प्रस्तावना। अरु दृश्यों में विभक्त नहीं हैं। 'चन्द्रगुप्त' में दृश्य-परिवर्तन केवल १, २ आदि सख्याओं से हुआ है और 'स्कन्दगुप्त' में पट-परिवर्तन से ही। विष्कम्भक, अज्ञातशत्रु आदि भी वही दृष्टिगोचर नहीं होते। भरतवाक्य भी नहीं है और न प्रायः विदूषक आदि के ही दर्शन होते हैं। स्कन्दगुप्त में केवल मुद्गल ही ऐसा पात्र है जो विदूषक का अभिनय कर रहा है परन्तु इन प्राचीन सत्वों के अभाव में भी नाट्य-कला की दृष्टि से इस सम्बन्ध में कोई विरूपता नहीं हुई है। प्रसाद जी ने 'स्वगन' भाषण का प्रयोग भी किया है। वाणक्य, स्कन्दगुप्त, जनमेजय और देवमेना आदि स्वयं अपने से ही अपने भावों को मुख से प्रकट करते हैं। कहीं-कहीं यह स्वगन-संविधान दीर्घ हो गया है जो अस्वाभाविक है। यत्र-तत्र हत्या आदि के दृश्य भी आधुनिक ढंग पर रंगमंच पर दिखाई देते हैं यथा जनमेजय के नागयज्ञ में जरत्साह की हत्या आदि।

इनकी भाषा कुछ कठिन है और कविता तो अत्यन्त गम्भीर है परन्तु साथ ही यह भी कहना पड़ता है कि काव्यसूत्र एवं गीत ही इन नाटकों की जान है। दार्शनिकता, गम्भीरता और विशालकायता ने इनके चन्द्रगुप्त आदि कई नाटकों को अनभिनेय सा बना दिया है।

अब इनके नाटकों पर एक विहंगम दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। 'सज्जन' में चित्ररथ द्वारा दुर्योधन के पकड़े जाने पर युधिष्ठिर की सज्जनता का चित्रण है। इस पर भारतेन्दु जी का प्रभाव स्पष्ट है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना आदि भी हैं और कविता ब्रज में है। यह इनका आदि प्रयास है।

'कल्याणो-परिणय' भी एक छोटा सा नाटक है। 'चन्द्रगुप्त' का अनुर्थ भ्रंक इसी का परिवर्तित रूप है। इनमें नान्दी एवं भरतवाक्य तो हैं परन्तु प्रस्तावना नहीं। इसमें सेलूकम और चन्द्रगुप्त के युद्ध के पश्चात् कल्याणो का परिणय चन्द्रगुप्त से होता है। यही कल्याणो कानैलिया है क्योंकि वह दोनों पक्षों के कल्याण का कारण बनती है। इसके गीत कुछ सुन्दर हैं।

'करुणालय' एक गीति-नाट्य है। जिसमें सत्यवादी हरिदचन्द्र को करुण कहा है। यह भी अपनी लघुता के समान ही लघु स्तर का है।

'प्रापदिचत' एक छोटा रूपक है, जिस पर शेक्सपीयर के मेकवेथ का प्रभाव प्रतीत होता है। इसमें सस्कृत नाट्य-विधान का अभाव है और घापुनिकता के दर्शन होते हैं। इसके कथानक में पृथ्वीराज के प्रति धैर्यमनस्य के लिये जयचन्द का प्रापदिचत है, जिसे वह देशद्रोह का प्रापदिचत कहता है। इस प्रापदिचत में दो विद्याधरियों का विरोध हाथ है। इसमें प्रसाद जी के देवी विद्वास पर भी प्रकाश पड़ना है।

'राज्यश्री' (वर्तमान सस्करण) चार भ्रंकों का एक छोटा सा रूपक है। यह इनका सर्वप्रथम नाटक है, जिसमें भ्रंकों का प्रयोग हुआ है। इसमें पूर्व नाटकों में केवल दृश्यों का व्यवहार हुआ था। इसमें नान्दी एवं भरतवाक्य हैं किन्तु प्रस्तावना नहीं। इसकी पद्य भी सही बोली में है। प्रसाद जी ने इसका उद्देश्य केवल हर्ष की बहिन राज्यश्री का चरित्रचित्रण ही बतलाया है। हर्ष तो केवल अन्तिम दो दृश्यों में ही दिखलाई देता है। इसमें राज्यश्री का चरित्र अत्यन्त उज्ज्वल एवं माहसपूर्ण है। राज्यश्री पति के भाग जाने पर मालवराज देवगुप्त के हाथों में पड़ जाती है। दस्यु उसे मुक्त करते हैं और दस्युओं से दिवाकर मित्र उसकी रक्षा करता है। यह दस्युदल शान्तिदेव का था जिसने गुरमा का त्याग कर राज्यश्री को बनात् ग्रहण करना चाहा। राज्यश्री जब जनने लगी तो हर्ष सहमा घा गया और वे प्रयाग चले गये। गुरमा भट्ट हो

कर देवगुप्त की सहचरी बन गई परन्तु शान्तिदेव उसे पुनः भगा लाया और दोनों गायक हो गए। पुनः दोनों राज्यवर्धन की हत्या का कारण बन कर भागते हैं और प्रयाग में पकड़े जाते हैं। राज्यश्री उस पतिघाती को क्षमा कर देती है। नारी का जीवन-दर्शन इनके नाटको में यही से प्रारम्भ होता है। इसमें सुरमा द्वारा गाए हुए गीत और अन्त में भरतवाक्य, गीतिकाव्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। इसके पूर्व संस्करणों में तो प्रायः थियेट्रीकल प्रभाव था क्योंकि बात-बात में सङ्गीतात्मकता दृष्टिगोचर होती थी।

'विशाल' सर्वप्रथम नाटक है जिसमें प्रसाद जी की काव्य-कला अपने मौलिक रूप में आविर्भूत हुई। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है और राज-तरंगिणी से ली गई है। यह काव्य में भी बड़ा है जो अरसी घुठों में तीन अंकों में समाप्त हुआ है। यह इनका प्रथम सफल नाटक है, जिसमें मानव-जीवन का चित्रण सुन्दर रूप में हुआ है। इसके सम्भाषण छोटे और भाषा सरल है परन्तु गीत अधिक हैं जिनमें कुछ तो निम्न कोटि के हैं। इसमें चन्द्रलेखा और बौद्ध-भिक्षु प्रेमानन्द का चरित्र सुन्दर है। प्रेमानन्द ही इसमें एक काल्पनिक पात्र है। राजा नरदेव चन्द्रलेखा को उसके पति विशाल से छीन लेता है परन्तु प्रेमानन्द का सेवाभाव और जनता का विरोध उसकी रक्षा करता है। इस नाटक में नान्दी तो नहीं है परन्तु भरतवाक्य अवश्य है।

'अज्ञातशत्रु' भी ऐतिहासिक नाटक है, जिसका सम्बन्ध आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व की कथा से है। इसमें हमें मगवान बुद्ध के समुज्ज्वल दर्शन होते हैं। बिम्बसार, पद्मावती और वासवी आदि बौद्ध मार्ग के संरक्षक थे और अज्ञातशत्रु, देवदत्त और ध्वलना इसके विध्वंसक। इसकी पृष्ठभूमि में यह विरोध भी एक आधार है।

इसके कथानक में तीन राज-परिवारों का सम्बन्ध है। मुष्य केन्द्र है मगध, जहाँ बिम्बसार के राज-श्राग कर्त्तव्य पर अज्ञातशत्रु की माँ ध्वलना मूत्रधार बनी हुई है। वह बड़ी सपत्नी वासवी को पीछे हटाकर और राजमाता बनकर सबको अपने सकेत पर नयाना खाहती है। वामवी कोशलाधिपति प्रसेनजित की बहिन है। वासवी के अधिकार का प्रदल कोशल को मगधराज अज्ञातशत्रु के शिष्ट सहा करता है। वासवी का सम्बन्ध मगध और कोशाब्धी से तो था ही, उसकी पुत्री पद्मावती का विवाह कोशाब्धी में हुआ था अतः उसमें भी सम्बन्ध था। वामवी की सहाय्यतायं कोशाब्धी नरदा उदयन भी अज्ञातशत्रु का विरोधी बना। इस प्रकार मगध, कोशल और कोशाब्धी तीन राज-परिवार एक नाटक की कथा के आधार हैं। इसकी महायनायं कुछ ध्वान्तर प्रयोग भी हैं

जिनके प्रधान पात्र हैं विरहक, मागधी, गीतम् एवं देवदत्त आदि ।

इस प्रकार कथानक का त्रिमुखी होना जटिलता का कारण हो गया है । परन्तु ये आन्तरिक और बाह्य द्वन्द्व नाटक की सफलता में भी कारण बने हैं । मानव-हृदय में विरोधी भावनाएँ हैं । इसमें हम उन भावनाओं के प्रतीकमूलक पात्रों को द्वन्द्व करना हुआ देखते हैं । बिम्बसार, गीतम् एवं वासवी सत्य और दया की सजीव प्रतिमा हैं तो भजातशत्रु, देवदत्त और छनना छन और निर्दयता की मूर्ति हैं ।

नायक भजातशत्रु का व्यक्तित्व छनना ने दबा दिया है । वह उसके हाथ की बटमूलकी है तथा नायक के दया-आधिपत्यादि गुण उसमें नहीं हैं वरन् वह क्रूर, छली और भवमंथ सा है । अपने विरक्त पिता के विरह भी पड्यत्र करता है और मातृवत् दुलार करने वाली मौतेनी माँ वासवी के साथ उदृण्डता का व्यवहार करता है । हाँ, नाटक के सम्पूर्ण कथानक का केन्द्र वही है अतएव नायक है ।

बिम्बसार एक विरक्त व्यक्ति है अतः भवमंथ है । उसने राज्य का त्याग छनना के दर से कर दिया है । उसका जीवन पवित्र तो है पर अनुकरणीय नहीं ।

इस नाटक में एक गतिशील पुरुष पात्र है कीरल का राजकुमार विरहक परन्तु उसने मागधी (दयामा) पर जो प्रत्याचार किया है वह अनीतिपूर्ण है ।

स्त्रीपात्रों में वासवी का चरित्र परमोज्ज्वल है । वह सच्ची पतिव्रता, दयाशीला और आत्मल्यमयी नारी है । भजात को वह पुत्रवत् ही गमभनी रही और अन्त में छनना को भी उसके समझ गिर झुलाना पड़ा ।

इस नाटक की भाषा बटिन है, सम्भवतः दार्शनिकता ने सम्भोरता ना दी है । संश्रुतबहुल होने से भी भाषा जन-आधारण के लिए दुरुह हो गई है । नाटक कुछ लम्बा भी है अतः अभिनेयता में बाधा पड़ती है । इसके गीतों में पर्याप्त माधुर्य एवं सौष्टव हैं । इसमें वसन्तक का हाम-परिहाम बड़ा मनोरञ्जक एवं ऊँचा है ।

यह एक सुखान्त नाटक है । नारा संघर्ष अन्त में समाप्त हो जाता है, और भगवान् बुद्ध आकर धानोर्वचन कहते हैं ।

'जनमेजय का नागयज्ञ' भी ऐतिहासिक नाटक है । तक्षक ने महाराज जनमेजय के पिता परीक्षित की हत्या की थी अतः जनमेजय ने नाग जाति से उसके प्रतिशोधार्थं उत्तक की प्रेरणा से नाग-यज्ञ किया है । नागराज तक्षक

इसके प्रतिपदा में नागों की रक्षायं झूठे होते हैं। इसी द्वन्द्व का चित्रण इस नाटक में है। इसके इतिहास में पौराणिकता है।

यह नाटक भी व्यास जैसे तत्त्वज्ञानियों की दार्शनिकता से बोधिन है। भाषा भी गम्भीर है। परन्तु गीत उतने उत्कृष्ट नहीं जितने अजातशत्रु के हैं। इसके कथानक में जटिलता नहीं है।

इसमें वेद, व्यास एवं उत्तक और वपुष्टमा आदि के चरित्र उज्ज्वल हैं। पुरुष पात्रों में काश्यप और स्त्री पात्रों में दामिनी चरित्रहीन हैं। काश्यप लोभी और स्वार्थी है तथा दामिनी आचार्य वेद की पत्नी होती हुई भी दुश्चरित्रा है।

'कामना' एक प्रतीकात्मक रूपक है। इसकी कथा का सार यही है कि फूलों के द्वीप में तारा की सन्तान मुर्गों से रहती आई थी। वहाँ सुख और शान्ति का अखण्ड साम्राज्य था। किन्तु इस पुरातन संस्कृति में विदेशों से आई नवीन सभ्यता ने विष घोल दिया। मुरा और प्रमदा का प्राबल्य हो गया और वह मुख्यमय जीवन दुःखमय हो गया।

इसमें प्राचीन आर्य संस्कृति के जिसका सुन्दरतम रूप सहस्रो वर्ष पूर्व नगरों से कोमो दूर ग्रामों में दोख पड़ा था, पाश्चात्य सभ्यता के द्वारा विनाश का मायिक चित्रण है। इसमें मनोभावों का जो मानवीकरण है वह उसी रूप में नहीं है परन्तु सन्तोष-विवेक आदि सजीव पात्रों के रूप में चित्रित हुए हैं। सन्तोष, विवेक, करुणा, कामना आदि सभी पात्र सकलेवर अभिनय करते हैं और हमें अपने चरित्र में भुला देते हैं।

इसमें भाषा सरल एवं भाव मधुर है। सर्वत्र सुकोमलता छिटक रही है। नाटक प्रतीकात्मक होता हुआ भी प्रतीकात्मकता के भार से दबा नहीं है।

'स्कन्दगुप्त' का कथानक भी इतिहास पर आधारित है। यह पाँच अंकों में ममाप्त होने वाला एक उच्च-कोटि का नाटक है। इसका नायक स्कन्दगुप्त है, जो राज्याधिकार के मुष्ठ से उदासीन है। उसका प्रतिपत्नी है उसका विमातृ-भ्राता पुरगुप्त जिसके पद्यों में उसकी माता अन्नदेवी, प्रपञ्चबुद्धि और अटकों आदि महायत्ना देते हैं। स्कन्दगुप्त पुरगुप्त के लिए सब कुछ त्याग करने की प्रतिभा करता है और यहाँ तक कि आजीवन कुमार रहने का प्रण लेना है। स्कन्दगुप्त के नीरोग जीवन में एक सरग धारा प्रवाहित करने वाली है मानव-मुषारी देवगेता। इस प्रकार इस नाटक के नायक-नायिका हैं स्कन्दगुप्त और देवगेता तथा प्रतिनायक है पुरगुप्त।

इसमें भी कथानक जटिल हो गया है यद्यपि उसमें अर्थप्रवृत्ति एवं अवस्थाओं का समुचित विधान है। इन नाटक में कोई प्रस्तावना नहीं है परन्तु नाटक के प्रारम्भ में ही स्कन्दगुप्त के इस कथन में कि 'अधिकार मुख कितना मादक और मार-हीन है' नाटक का बीज एवं लक्ष्य अन्तर्निहित है। भक्त दृश्यों में विभक्त नहीं हैं वरन् दृश्य-पट-परिवर्तन से जागृत हैं। कहीं-कहीं पटपरिवर्तन भी नहीं लिखा है, प्रस्थान से ही दृश्य-परिवर्तन हुआ है। आधुनिक शैली पर लिखा गया यह नाटक श्रेष्ठतम नाटकों में से है। इसमें प्राचीन नियमों पर बल न देकर चरित्र-चित्रण पर ही बल दिया गया है।

इस नाटक की सर्वश्रेष्ठ विशेषता चरित्र-चित्रण ही है। पात्रों के चरित्र का अंशा सुन्दर चित्रण इसमें हुआ है वंसा अन्यत्र नहीं। 'स्कन्दगुप्त' धीरोदात्त है। वह धैर्यशील, दृढमकल्पी, दूरवीर, चरित्रवान् एवं विनम्र है। वह महान् त्यागी और निःस्वार्थ है और इसी भावना के बगीभूत हुआ वह साम्राज्य का संरक्षण करता है परन्तु फिर भी स्वयं अधिकार-मुख से उदासीन है। विमान-भ्राता पुरगुप्त के लिए वह सर्वस्व का त्याग करने के लिए उद्यत है। नायिका 'देवमेना' तो इनकी अमर पात्री है। वह भी तदनुकूल उदार, एकमना, सहनशीला, माहमिक एवं त्यागभूति राजकुमारी है। उसका प्रेम पावन मन्दारिनी के प्रवाह के समान है। वह अनुपम सुन्दरी है—मन में शौञ्चवत्य है, बचन में संगीत का माधुर्य है और वाय में विलसणु लावण्य है। स्कन्दगुप्त के विजया के प्रति भूल से धातृष्ट हो जाने पर वह ईर्ष्या से जलती नहीं और न अपने प्रिय के पथ का रोड़ा ही बनती है।

'मातृगुप्त' एक भावुक कवि है। प्रथम वह साहित्य-सेवा के निमित्त राजाश्रय लेता है और पुनः अपने मित्र धातुमेन की प्रेरणा से राजनीति में पथ रखता है। इसकी बलिताओं में देशभक्ति गूँज रही है। यह सम्भवतः कानिदास ही है। मातृगुप्त का मित्र 'भुद्रगल' इस नाटक में विद्रोहक का काम कर रहा है परन्तु उसका हास्य बुरूपनापूर्ण नहीं है वरन् सात्विक एवं आत्हादक है।

'पुरगुप्त' विमाता का पुत्र है अतः उसमें ईर्ष्या, जलन एवं घेर की पर्याप्त मात्रा स्वाभाविक है।

'भटाकं' एक स्वाभिमानी और स्वाधेयपूर्ण धरति है। वह एक मन्त्रा सैनिक है अतः धीर है, पराक्रमी है। वह राजनीति में परिचित नहीं है अतः शीघ्र ही पर-प्रपञ्च में बँककर दुर्गुणों से परिपूर्ण हो जाता है परन्तु सर्वथा चरित्रहीन नहीं होता। वह अन्तर्दोषी की सहायता देता है। देशकी की हत्या के प्रयास में उगरी निर्यत्ता के दर्शन होते हैं परन्तु उसमें दया भी विद्यमान है।

महामन्त्री आदि के आत्महत्या कर लेने पर वह परचाताप करता है। यह वह पाप है जिसमें मानव के सुन्दर-असुन्दर दोनों पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं।

'देवकी' पटरानी है परन्तु उपेक्षिता है तथापि वह उदार है और धर्म में मलग्न है। धनन्तदेवी उसे सताती है परन्तु वह अविचल है। उसका साहस और धैर्य अनुकरणीय है। 'धनन्तदेवी' में सपत्नीत्व अपने स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है।

'शर्वनाग' के चरित्र में पक्ष-विपक्ष की सहानुभूति के मध्य एक अच्छा द्वन्द्व दिखलाया है।

बन्धुवर्मा एवं धातुसेन आदि देश के सच्चे प्रेमी हैं।

इस प्रकार इसमें चरित्र-विचरण मनोवैज्ञानिक ढंग पर है और प्रसंगा-नुकूल है। सैनिक एवं अधिकारियों का नाम कर्मानुसार प्राचीन परिपाटी पर ही रखा गया है। नामों के साथ उनके क्रिया-कलापों में भी साम्भिर्य है। कहीं-कहीं कुछ अस्वाभाविक घटनाएँ भी दीख पड़ती हैं, यथा स्कन्दगुप्त के द्वारा देवकी की और मानुगुप्त द्वारा देवसेना की रक्षा कुछ ऐसी ही है।

इसमें भाषा का प्रयोग प्रसंगानुकूल है अतः शुष्क एवं वृत्तियों की योजना बड़ी मनोरम है। इसके गीत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। मानुगुप्त की निम्न पक्तियों में एक बौमल विकलन तो देखिए—

मैं व्याकुल परिरम्भ-भुङ्गल में बन्दी झली-सा काँप रहा।

एलक उठा प्याला, लहरों में मेरे सुख को माप रहा।

सजग सुप्त सौंदर्य हुआ, हो चपल चली भीहँ मिलने।

सौन हो गई लहर, लगे मेरे ही नय छाती छिलने।

उच्छ्वसित प्रिय के प्रति विजया के आह्लाहन में कितनी विकलता है—

उमड़ खली भिगोने आज,

तुम्हारा निरखल भ्रंजल छोर।

नयन-जल-धारा रे प्रतिकूल।

देख ले तू फिर कर इस छोर।

× × ×

और विमोचनस्या में उमकी मादकता भी दर्शनीय है—

अपह-धूम को श्याम लहरियाँ उत्तर्भो हों इन झलकों से,

मादकता-सासी के शोरे इपर फेंके हों पत्तियों से।

व्याकुल विगलो-सी तुम मचरतो धार्द्र-हृदय-धनमाता से,

आँसु बरनी से उलठे हों, अथर प्रेम के प्याला से।

देवसेना के निम्न उद्गारों में हृदय के अन्तरतम की सूक्ष्म भाँकी कितनी गम्भीर किन्तु मनमोहक है।

सब जीवन बीता जाता है

धूप-छाँह के खेल-सहसा

X X X

माम्मी ! साहस है खेतोगे !

जर्जर तरौ भरी पयिकों से—

भइ में क्या खोलोगे ?

अलस नील घन की छाया में—

जलजालों की छल-माया में—

अपना बस तोलोगे !

स्वन्द्युप्त के शब्दों में देशप्रेम की पूँज भी मुनिए—

बजा दो वेणु मनमोहन ! बजा दो।

हमारे सुप्त जीवन को जगा दो

शिमल स्वातन्त्र्य का बस मन्त्र फूँको।

हमें सब भीति-अग्न्यन्त्र से छुड़ा दो।

इस प्रकार गीतों की मधुरतम एवं सुन्दरतम योजना इसमें हुई है। गीतों के अतिरिक्त सम्भाषण भी नाट्यकला के अनुसार थोड़ा-बहुत का है।

मुद्रगत का परिहास कही भी निम्न स्तर पर नहीं उतरा है।

इस नाटक में स्वगत का प्रयोग भी है परन्तु अस्वानाविक नहीं।

मनुष्यों की उपस्थिति में स्वगत का व्यवहार न कर लेखक ने बड़ी बुद्धिमत्ता का प्रमाण दिया है क्योंकि यह निश्चय अस्वानाविक है कि लोग बैठे भी हों और सुनें भी नहीं।

रंगमंच पर युद्ध और हत्या इस नाटक में नवीन प्रभाव के परिणाम हैं। परन्तु हम इसे दोष नहीं कह सकते।

‘एक घूँट’ प्रतीकात्मक नाटक है। यह एक दृश्य का सर्वप्रथम एकांकी है। इसमें कुँज, लता, धानन्द, रगत एवं मुकुल आदि सभी प्रतीक हैं। इसमें धानन्दवाद की स्थापना है।

‘अन्धगुप्त’ चार अंकों में समाप्त होने वाला एक बहुत्काय नाटक है। यह २१४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह नाटक भी प्राचीन परिपाटी को छोड़कर नवीन शैली पर लिखा गया है अतः इसमें नान्दी, प्रस्तावना एवं भरत-वाक्यादि

नहीं है। अन्त में सेल्युकस द्वारा चन्द्रगुप्त एवं कार्नेलिया के हाथ मिला देने पर जो पुष्पवृष्टि और जयध्वनि होती है वह आशीर्वचन ही है। अंक भी दृश्यों में विभक्त नहीं है तथा दृश्य-परिवर्तन पट-परिवर्तन एवं प्रस्थान आदि से सूचित किए गए हैं।

इन्होंने सन् १६०७ में 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक लेख लिखा था। इसी आधार पर 'कल्याणी-परिणय' नाम का नाटक लिखा जो आगे चन्द्रगुप्त के चतुर्थ अंक के रूप में परिवर्तित हो गया। चन्द्रगुप्त के विषय में यह लेख एक नवीन और गम्भीर खोज थी। अब तक इतिहास एवं विद्वान् चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी-मुरा नामक नाइन से उत्पन्न होने के कारण मौर्य एवं वृषल कहते आए हैं परन्तु प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय सिद्ध किया है। ईसा से ८०० वर्ष पूर्व जैनतीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के समय में यज्ञ आदि कार्यों से खोई हुई अपनी धर्म-प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के लिए ब्राह्मणों ने अर्बुद-गिरि पर एक महान् यज्ञ किया। देश-देश के क्षत्रिय भी एकत्र हुए। वे ब्राह्मणों के इस यज्ञ से संस्कृत होकर चार जातियों में विभक्त हुए। इनका नाम अग्नि-कुल हुआ। इन चार जातियों में प्रभार जाति भी थी, जो आगे शनैः-शनैः बड़े उत्कर्ष को प्राप्त हुई। इसकी पैंतीस शाखा हुई परन्तु मौर्य नाम की शाखा विशेष प्रसिद्ध हुई। प्रसाद जी लिखते हैं कि बीड़ों के विवरण से ज्ञात होता है कि दीगुनाक बड़ी महानन्द के सकर पुत्र महापद्म के पुत्र धननन्द से मयाध का सिंहासन लेने वाला चन्द्रगुप्त मौरियों के नगर का राजकुमार था। यह मौरियों का नगर पिप्पली कानन था, और पिप्पली कानन के मौर्य नृपति लोग भी युद्ध के शरीर-भस्म के भाग लेने वालों में एक थे। वास्तव में महापद्म और धननन्द के लिए जो बातें कही गई वे भूल से यूनानी लेखकों ने चन्द्रगुप्त के लिए लिख दी। यूनानी लेखकों ने लिखा है कि जैण्डोमस (मैण्ड्रीकोटस) ने सिकन्दर से युद्ध किया और उन्होंने जैण्डोमस से चन्द्रगुप्त अर्घ्य लिया, जो वास्तव में नन्द के लिए था। चन्द्रगुप्त से सिकन्दर का युद्ध नहीं हुआ, हाँ लक्षगिला में वह एक बार जमते मिला अवश्य था। मौर्यों की पहली राजधानी पिप्पली कानन थी और चन्द्रगुप्त के समय से पाटलिपुत्र हुई जिसका वर्णन मेगस्थनीज ने किया है।

यह एक नई खोज थी। सम्वृत में विनासदत्त ने जो मुद्राराक्षस लिखा था, उसमें चन्द्रगुप्त को मुरा-पुत्र ही माना है। एवं उगे चाणक्य के हाथ की बटपुस्तकी बना दिया है। वास्तव में वह नाटक राजनीति एवं दूटनीति का भसाडा है जिसमें एक और नन्द का अभिभावक मंत्री राक्षस है और दूसरी

श्रीर नन्द का महाशत्रु एवं चन्द्रगुप्त का शुभचिन्तक चाणक्य । इन दो मल्लों का राजनैतिक दंगल जमा हुआ है जिसमें शीप लोग साधन हैं ।

इसके पश्चात् द्विजेन्द्रसाल राय ने बंगला में चन्द्रगुप्त लिखा जो इतिहास पर ही आधारित था और उसमें कोई नवीन खोज का आश्रय नहीं था । सन् १९१७ में इसका अनुवाद हिन्दी में भी हुआ । पुनः पं० बदरीनाथ भट्ट ने भी चन्द्रगुप्त नाटक लिखा ।

इन सभी में चन्द्रगुप्त को वृषल ही माना गया । पुनः प्रसाद जी ने यह नाटक उपर्युक्त खोज के आधार पर लिखा । इसमें चन्द्रगुप्त को मौर्य धार्मिक माना गया एवं नाटक में राजनैतिक दंगल के साथ-साथ शृंगार की सरस छटा भी छिटकाई गई । चन्द्रगुप्त भी केवल चाणक्य के हाथों में खेलने वाली कठपुतली न रह कर धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित हुआ है । द्विजेन्द्र बाबू ने भी इस विषय में मौलिकता वर्ती है । द्विजेन्द्र बाबू और प्रसाद जी दोनों ने वास्तव में चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के युद्ध में भारत और यूनान की सम्पर्कानुओं को टकराया है जिसका मेल सेल्यूकस की पुत्री के गाय चन्द्रगुप्त के विवाह से होता है । द्विजेन्द्र बाबू ने उसका नाम हेलेन रक्ता है और प्रसाद जी ने कानेलिया । नन्द की हत्या दोनों ने शकटार से कराई है । प्रसाद जी केवल शकटार को ही उसकी मृत्यु का कारण बताते हैं परन्तु राय महोदय शकटार, चाणक्य और मुरा तीन को । शकटार और कात्यायन को उन्होंने एक ही माना है । प्रसाद जी ने वरसिंह को कात्यायन माना है । द्विजेन्द्र बाबू ने नन्द के साथ उसके बंधन की सम्पर्कानु दी परन्तु प्रसाद जी ने उसकी पुत्री कल्याणी से पिता की मृत्यु पर धाँसू बहाये हैं । उसने चन्द्रगुप्त से प्रेम भी किया था परन्तु प्रसाद ने यह आत्म-हत्या कर लेती है ।

द्विजेन्द्र बाबू न चाणक्य के हृदय में नन्द के प्रति प्रतिशोध की भावना में यह धपमान कारण लिखा है जो उसको वीरोहित्य के निमित्त बुलाये जाने पर नन्द के साथे बाबाल ने किया था । प्रसाद जी लिखते हैं कि इनमें पुराना वैर था । नन्द ने चाणक्य के पिता चाणक की सम्पत्ति हर ली थी । पुनः तदानीला से सोटने पर नन्द ने भरी समा में उसका धपमान किया था ।

सिकंदर और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भी कुछ भेद है । द्विजेन्द्र बाबू भी चन्द्रगुप्त का सिकंदर में आशात्कार कराते हैं परन्तु चन्द्रगुप्त को सहसा भगा देते हैं । प्रसाद जी चन्द्रगुप्त से बटोर दान भी बहलाते हैं । द्विजेन्द्र बाबू ने सिकंदर को युद्ध में पायल भी नहीं बतलाया है । शीप कथा में कुछ सामंजस्य है ।

मुद्राराक्षस के वसंतोत्सव को इन दोनों नाटककारों ने विजयोत्सव में बदल दिया है। चाणक्य इसके रोकने की आज्ञा देता है, जिस पर चंद्रगुप्त उसे पकड़ने का आदेश देता है। यह प्रसाद जी की अपनी उद्भावना है। इसी समय मालविका के बलिदान से चंद्रगुप्त की रक्षा होती है, यह भी प्रसाद जी की मौलिकता है। राय महोदय ने भी छाया नाम की युवती का स्रजन किया है परन्तु वे अन्त में हेलेन के साथ छाया को भी चंद्रगुप्त की सहघर्मिणी बना देते हैं।

मुद्राराक्षस की भाँति प्रसाद जी ने भी राक्षस की मुद्रा से काम लिया है परन्तु द्विजेन्द्र बाबू ने नहीं।

इस प्रकार इन दोनों नाटकों में पर्याप्त भेद है। अतः मुद्राराक्षस और चंद्रगुप्त के रहते हुए भी प्रसाद जी का यह नाटक नितान्त मौलिक है।

प्रसाद जी की यह बड़ी प्रौढ़ कृति है। पं० रामचन्द्र गुप्त ने स्कन्दगुप्त को इनका सर्वश्रेष्ठ नाटक लिखा है परन्तु हमारी सम्मति में चंद्रगुप्त ही सर्वश्रेष्ठ है। यद्यपि इनमें स्कन्दगुप्त से कही वस्तु-जटिलता है तथा समय-मंकलन की भी उपेक्षा की गई है, जिससे नाटक के बृहत्काय हो जाने से अभिनेयता में बाधा पड़ी है तथापि नाट्यकला की दृष्टि से मौलिक्य नहीं। भाषा भी काव्योचित है। हाँ, कहीं-कहीं चाणक्य आदि के सम्भाषण इतने लम्बे हो गए हैं जो अक्षरते हैं।

नाना पात्रों की कल्पना भी जटिलता का एक कारण है। प्रसाद जी का यह दोष कि कहीं-कहीं घटना के लिए पात्रों का निर्माण करना और पुनः उसका गला घोट देना यहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। मालविका और कल्याणी आदि की हत्या इमी के परिणाम हैं।

इसकी शैली में कोई शैथिल्य नहीं और उद्देश्य भी महान् है—एक मुद्दह आर्य-शासन की स्थापना।

इस नाटक में चरित्र-चित्रण बड़ी उत्तम रीति से हुआ है और इसी ने इस नाटक को श्रेष्ठता प्रदान की है।

‘चंद्रगुप्त’ इस नाटक का श्रीरोदात्त नायक है। वह धीर-वीर, वृत्तज्ञ, निडर एव पराक्रमी है। वह गुरुभक्त, देशभक्त और जनता-भक्त भी है तथा सच्चा मित्र और प्रगाढ़ प्रेमी भी है। चाणक्य की बुद्धि एवं दूरदर्शिता तो उसकी पथप्रदर्शिका थी ही परन्तु उसकी भाषाशुद्धता, अदम्य उत्साह, हृद-मंकल्य और घोर पराक्रम आदि गुण भी उसके उत्थान का कारण हुए। देशभक्ति उसमें पहले से ही थी। आम्भीक को देन के प्रति कर्त्तव्य सुझाने का उसका प्रयत्न इसका चोतक है।

उसका पराक्रम इसी से विदित होता है कि भक्तेला ही नन्द के नारावास से चाणक्य को छुड़ा लेता है, किन्तुप्य से द्वन्द्व-युद्ध कर उसे पराजित करता है, शिवन्दर भी उसके हाथों धायल होता है तथा सेल्लुकम पराजित होता है और यहाँ तक कि विजयोत्सव के रोक देने पर चाणक्य को भी पकड़ने का वह आदेश देता है।

उसका जीवन कर्तव्य, परिश्रम एवं सघर्ष का केन्द्र बना हुआ है। युद्ध पर युद्ध करता है परन्तु विचलित नहीं होता। चाणक्य की सहायता उसके लिए वरदान बनो हुई है और साथ ही साथ प्रेम-व्यापार भी उसे गुप्त एवं विरक्त नहीं होने देता। उसकी निर्भीकता ने शिवन्दर, सेल्लुकम, दाण्ड्यायन आदि सभी प्रभावित है। साथ ही वह दयालु एवं उदार भी है। सेल्लुकम की व्याघ्र से रक्षा करना उसकी महान् उदारता का प्रमाण है।

चन्द्रगुप्त में माना, गुरु एव देश के प्रति प्रेम उच्च कोटि का है। उसके हृदय में पुत्रप्रीति-प्रेम भी है। कानैलिया के प्रति उसका प्रेम सरा और मनो-वैज्ञानिक है अतः उसमें क्रमिक विकास है।

वास्तव में चन्द्रगुप्त में सम्राट् बनने के समस्त गुण हमें दिखलाई देते हैं। वह गणराज्यों को एकीभूत कर हृदय साम्राज्य की स्थापना करता है।

‘चाणक्य’ इस नाटक का सब से जटिल चरित्र है क्योंकि वही तो सूत्रधार है। राजनीतिक प्रस्तावे का संचालक वही तो है। वह विद्वान्, विचक्षण, दूरदर्शी, अविश्वस्य किन्तु महान् राजनीतिज्ञ आदित्य है। इनका साहस, राजनीति-पटुता और हृदय अत्यन्त दुर्मम है। चाणक्य की कूटनीति विद्व-प्रसिद्ध है।

चाणक्य ने यह स्पष्ट देख लिया था कि मगध का क्रूर राजा नन्द, पञ्चनद का अधिपति पर्वतेन्दर, गान्धार-नरेश आम्भीक एव अन्य मातङ्ग, शुद्रक आदि गणतन्त्र भरने ही में लीन एव परस्पर महानुत्थिहीन थे अतः उसे भारत का भविष्य अन्धकारपूर्ण दृष्टिगोचर हुआ। शिवन्दर के आक्रमण के समय भारत की रक्षा का आधार इसे सब का संगठन दीक्षा अन्वय उसने राजनीति की बागडोर अपने हाथ में ली और चन्द्रगुप्त को मगध-शासन का नेता स्वीकार किया। पहले वह नन्द के यहाँ बन्दो होता है पुनः मुक्त होकर चन्द्रगुप्त और सिहरण ने मातङ्गों और शुद्रकों को संगठित कराया है। तदनन्तर शिवन्दर के विरुद्ध पर्वतेन्दर की सहायता करना है और अन्त में नन्द पर आक्रमण करने के लिए पर्वतेन्दर को लोभ देकर साथ लेजा है परन्तु उसकी हत्या करा देता है। चन्द्रगुप्त की रक्षा में भी मातङ्गिका की हत्या उसी की कूटनीति का परिणाम था। इस प्रकार वह कठोर भी था परन्तु सब कुछ धार्मिक-साम्राज्य की स्थापना

के लिए ही था। उसने कभी स्वार्थ नहीं सोचा, जो कुछ किया वह देश एवं चन्द्रगुप्त के लिए। उसकी महत्वाकांक्षा अपनी महत्वाकांक्षा नहीं। स्थायी शांति के लिए वह कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का विवाह भी करा देता है। वास्तव में वह राजनीति का सर्वज्ञ था।

इस नाटक का नायक है चन्द्रगुप्त और राजनीति का सूत्रधार है चाणक्य। 'कार्नेलिया' को हम नायिका का स्थान देने हैं। यह प्रीक होती हुई भी भारतीय हो गई है। चन्द्रगुप्त के प्रेम ने उसे सच्ची भारतीय नारी बना दिया है। दण्ड्यायन के आश्रम में उसे सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त के दर्शन हुए तभी से वह यहाँ की भाषा, संगीत और रहन-सहन भी सीखती है।

उसका प्रेम सादिक है, जिसका विशास क्रमशः हुआ है। उसकी भावुकता और सहृदयता एक रमणी के उपयुक्त ही है।

इनके अतिरिक्त राक्षस, सिकन्दर, सेल्युकम, पर्वतेश्वर, वरसचि, मालविका, कल्याणी एवं अलका आदि का चरित्र भी बड़े उज्ज्वल मनोवैज्ञानिक ढंग पर चित्रित हुआ है।

इस नाटक के गीत तो प्रमाद जी की समूल्य रचनाएँ हैं। मुवातिनी की निम्न पंक्तियों में कोमल भाव की सूक्ष्मता तो देखिए—

हे साज भरे सौंदर्य !

यता दो मौन बने रहते हो क्यों ?

राक्षस भी इसके उत्तर में हँसी का शीत न लग जाय मत दुर्बल चाह बाहर निकलने से रोकता है—

निकल मत बाहर दुर्बल चाह !

सनेगा तुझे हँसी का शीत !

कार्नेलिया के—

भ्रष्टण यह मधुमय देश हमारा

जहाँ पहेव अनजान शक्तिज को मिलता एक सहारा।

आदि गीत में भारत की सुन्दर वसुधारा का कैसा मनोरम वर्णन है।

प्रेम के आवेश में गाया गया प्रत्येक गीत इस नाटक में मधु का ध्याता ही है। ऐश्वर्य पर्वतेश्वर के समस्त गाती हुई अलका के गाने में यस्ती का कैसा भासना भूम रहा है—

समय-विह्वल के दृष्टान्त में रजन-चित्र-सी चित्रित कौन—

सुष हो सुन्दरि तरल-नारिके ! बोलो कुछ, बँटो मत मौन !

मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान ?

रूप निशा की ऊया में फिर कौन मुनेगा तेरा गान !

अपने प्रिय के प्रेम में निमग्न कल्याणी की कुमुदवन्धु (चन्द्र) के प्रति

विनय पर भी एक दृष्टि डालिए—

सुधा सोकर से नहला दो !

तहरे डूब रही हों रस में,

जायें न रह वे अपने धन में,

रूप-राशि इस ध्ययित हृदय-सागर को—

बहला दो !

इसी प्रकार 'मधुप कब एक कली का है' और 'सखे ! यह प्रेममयी राजनी' भादि गीत भी अनुपम सौन्दर्य और सरसता से युक्त हैं ।

वास्तव में यह नाटक अभिनेय हो या न हो परन्तु काव्य की दृष्टि से अनुपम रत्न है, राजनीति की मंजूषिका है और मधु का कोप है ।

'ध्रुवस्वामिनी' यह नाटक तीन अंकों में समाप्त हुआ है और प्रत्येक अंक में एक ही दृश्य है । यह नाट्य-विधान पाश्चात्य ढंग पर है और केवल प्रयोगमात्र है । सम्भवतः इसकी सीली पर सिनेमा-शैली का प्रभाव है । निर्देश तो साक्षान् ऐसे ही हैं ।

यह भी ऐतिहासिक नाटक है । मगधाधिपति चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त थे । उनकी पत्नी ध्रुवदेवी अनुपम सुन्दरी थी । दकों ने मगध पर आक्रमण किया और रामगुप्त को पङ्कज से सन्धि के लिए विवश किया, जिसके प्रस्ताव में ध्रुवदेवी का दकाधिपति को सौंपना भी था । चन्द्रगुप्त को यह बहुत बुरा लगा और ध्रुवस्वामिनी का रूप धारण कर वह शकरराज के पास गया और उसे मार डाला । इससे ध्रुवस्वामिनी की अनुरक्ति चन्द्रगुप्त पर हो गई, जिसका परिणाम हुआ दोनों भाइयों में वैमनस्य और रामगुप्त की हत्या । इसी पर इसका कथानक आधारित है ।

इतिहास समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त के बीच किसी गुप्त राजा का नामोल्लेख नहीं करता परन्तु राजशेखर ने लिखा है—

शिवारुद्रगति सखाधिपतये

देवी ध्रुवस्वामिनी ।

यस्मात् सगृह्यत साहसो

नियवने धीरामगुप्तो नृपः ।

ध्रुवस्वामिनी की मुक्ति बाणभट्ट की निम्न पंक्तियों से प्रतीत होती है।

‘अरिपुरे च परदालप्रकामुर्क कामिनीवेशश्वन्नगुप्तो
शकपतिमशासयत् ।’

पं० भाण्डारकर और जायसवाल जी ने भी रामगुप्त को ऐतिहासिक पुरुष माना है।

यह सब कुछ होते हुए भी इसकी ऐतिहासिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता। देवर और भाभी का प्रेम-व्यंजन भी उचित नहीं जँचता।

इस नाटक में ऐतिहासिकता की अपेक्षा समस्यामूलकता अधिक है। समस्या है मोक्ष भयवा तलाक की। सम्भवतः प्रसाद जी इसे उचित समझते थे। उनके समक्ष गृहमूत्रों का यह प्रमाण भी था—

नाट्ये मृते प्रयजते, क्लीबे च पतिते पती ।

पञ्च स्वपत्नु नारीणां, पतिरन्यो विधीयते ॥

इन स्थितियों में से रामगुप्त क्लीब की स्थिति में था। पुरोहित रामगुप्त को क्लीब कहकर मोक्ष की आज्ञा भी देता है—“जिते अपनी स्त्री को दूसरे की धर्मशामिनी बनने के लिए भेजने में कोई संकोच नहीं, वह क्लीब नहीं तो और क्या है? मैं स्पष्ट कहता हूँ कि धर्मशास्त्र रामगुप्त से ध्रुवस्वामिनी के मोक्ष की आज्ञा देता है।” परन्तु यह नहीं कह सकते कि रामगुप्त शरीरतः क्लीब था।

कुछ भी हो प्रसाद जी ने इस समस्या को इच्छा से या अनिच्छा से लोगों के समक्ष रक्ता है, ग्राह्य या अग्राह्य करना तो जनता-जनार्दन का ही काम है।

इसमें हिजडे आदि से परिहास का वातावरण बड़ा मनोरंजक हो गया है। भाषा सरल है और सम्भाषण भी लघु है। इसमें कुछ गीत भी हैं जो बड़े सुन्दर हैं। यह नाटक भी प्रसाद के श्रेष्ठ नाटकों में से एक है।

प्रसाद की श्रौपन्यासिक कला—

प्रसाद जी के तीन उपन्यास उपलब्ध हैं—कंकाल, तितली और इरावती (अपूर्ण)। ‘कंकाल’ सन् १९२६ में प्रकाशित हुआ था और ‘तितली’ १९३४ में। यद्यपि ‘तितली’ का लिखना सन् १९३२ से आरम्भ हुआ था और जागरण में दमका पाराकाहिक रूप से प्रकाशन हुआ था परन्तु जागरण के अन्त होने में दमका प्रकाशन रक गया और सन् १९३४ में पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुआ। ‘इरावती’ जीवन के अन्तिम दिनों में लिखा गया परन्तु इसके पूर्ण

होने से पूर्व ही प्रसाद जी का स्वर्गवाम हो गया अतः निघनोरान्त इसका प्रवासन हुआ ।

प्रसाद जी नैसर्गिक कवि थे अतः नाटक, उपन्यास और यहाँ तक कि उनकी कहानी और निबन्धों में भी हम उनकी काव्य-कला की झँकी पाते हैं । उन्होंने अपने उपन्यासों में मानव-जीवन के सुन्दर और असुन्दर दोनों ही पक्षों का चित्रण किया है । इनका मानव-दर्शन पारदर्शक शीशे में प्राप्त होने वाले सधु चित्र के पूर्ण एवं भावपूर्ण दर्शन के समान है । ये भारतीय सभ्यता के उपासक और अतीत के श्रद्धालु गायक हैं । अतः नवीन में भी उनकी योजना और स्थापना करते हैं । इन्होंने वर्तमान का चित्रण यथार्थ-प्रदर्शन के लिए ही किया है परन्तु आदर्श की स्थापना के लिये अतीत का ही सहारा लिया है अतः यथार्थवाद का पर्यवमान इन्होंने आदर्शवाद में ही किया है । मनुष्य राजनीति और समाजनीति में अनुचित लाभ उठा सकता है परन्तु वास्तविक कल्याण व्यक्तिगत साधना में ही होना है और उसमें विद्व-कल्याण भी ।

इनके उपन्यासों की कथावस्तु में दृढ़ बन्ध नहीं है । 'कंकाल' और 'तितली' दोनों ही उपन्यासों में प्राधिकारिक कथावस्तु के साथ एक प्रमुख प्रागर्गिक कथावस्तु भी चलती है जो यद्यपि प्रमुख कथानक को आगे बढ़ाती है परन्तु कुछ स्वतन्त्र रूप सा लिए हुए है । 'कंकाल' में देवनिरजन और किशोरी की कथा के साथ-साथ मंगल और तारा की कथा भी चलती है । इसी प्रकार 'तितली' में मधुवन और तितली (बंजी) की प्राधिकारिक कथा के साथ इन्द्र-देव और शंला की प्रागर्गिक कथा चलती है । 'कंकाल' में तीन उप-कथाएँ और भी हैं—(१) विजय और पट्टी की कथा, (२) वायम और लज्जा की कथा और (३) गाला-भूजर की । इसी प्रकार तितली में भी माधुरी और अनवरी आदि अंगतः उपस्थापनों का मूजन करते हैं । परन्तु प्रसाद जी में एक विशेषता है कि वे कथानक के विकास में एक जान डालते हुए चलते हैं । यद्यपि दूर तक प्रमुख कथा चलती और पुनः प्रागर्गिक कथावस्तु में दब सी जाती है परन्तु उसमें बल पाती हुई पुनः उभरती है और विकसित होती है । इनके उपन्यासों की शक्ति को हम आरोहावरोह युक्त कह सकते हैं ।

'इरादती' ऐतिहासिक उपन्यास है परन्तु उसमें अनेक ऐतिहासिक सूत्र हैं, यथा प्रसाद जी ने मोर्य सम्राट् मगधनुर के पदचान् बृहस्पतिमित्र को सिंहासनाहृत् किया है जो असत्य है क्योंकि इतिहास के अनुसार उसके पदचान् बृहद्रथ मही पर बैठा था, जिसे उसके सेनापति पुष्यमित्र ने मारकर शुद्ध अंग की नींव डाली थी । इसके अनिश्चित मगधनुर के पदचान् बृहस्पतिमित्र (इति-

हास सम्मत बृहद्रथ) के समय में डिमित एवं कर्निग-सम्राट् खारवेल का भगव पर आक्रमण भी इतिहास-विरुद्ध है क्योंकि खारवेल के शिला-लेख के अनुसार इसका एव डिमित का समय १७५ ई० पूर्व है जबकि बृहस्पतिमित्र (इतिहास सम्मत बृहद्रथ) का समय १६२ ई० पूर्व था ।

इनके उपन्यासों में नाटकीय तत्व भी मिलता है । 'कंकाल' और 'नितली' नाटक के दृश्यों की भाँति चार-चार खण्डों में विभक्त हैं । सम्भाषण में भी नाटकीय भाषा का सा आनन्द मिलता है । 'इरावती' भाषा और शैली की दृष्टि से चन्द्रगुप्त और स्कंधगुप्त से अधिक मिलता है । कथनोपकथन का ढंग प्रायः नाटकीय ही है । परन्तु भाषा उनसे कहीं-कहीं कठिन हो गई है तथा ऐतिहासिकता में उनसे अधिक स्वच्छन्दता का प्रयोग किया गया है ।

'कंकाल' घटनाप्रधान है, अतः उसमें यथार्थ की प्रधानता है, 'नितली' कथा-प्रधान है अतः उसमें यथार्थ की समाप्ति आदर्श में हुई है और 'इरावती' में ऐतिहासिकता प्रमुख है किन्तु यहाँ भी आदर्श की ओर झुकाव है । वास्तव में प्रमाद का अतीत-चित्रण आदर्श से रिक्त नहीं ।

'कंकाल' की रचना उस समय हुई थी जब कि चन्द्रगुप्त जैसा प्रौढ नाटक प्रमाद जी ने लिख लिया था अतः इस उपन्यास में भी प्रौढता है । जिस प्रकार चन्द्रगुप्त में एक भारतीय गणराज्य-संघ स्थापित करने का ध्येय था, उसी प्रकार इसमें भी एक भारत-संघ की योजना का प्रयत्न है । इस संघ का उद्देश्य आर्य-मंस्कृति का फैलाना है जिसमें जातीयता एवं साम्प्रदायिकता में ऊपर उठकर मानवता के ही महत्त्व का प्रचार है । मानव-गमाज में पुरुष ही नहीं स्त्री का स्थान भी ऊँचा है और होना चाहिए, यह भी इसका ध्येय है ।

यह एक सामाजिक उपन्यास है, जिसमें समाज के विकृत रूप का चित्रण है । इसमें पात्रों में ऊँचापन भर कर भी उनकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला गया है । प्राचीन कथानक में समाज के ऐसे विकलांग का दर्शन नया है, जो कुरचिपूर्ण एवं अनुपचार्य सा प्रतीत होता है । पात्र प्रायः दुराचारपूर्ण से विभ्रत किए गए हैं । किशोरी व्यक्तिवारिणी है, तारा विषवा से उत्पन्न लड़की है जो युवा प्रेम का परिणाम है और युवती होने पर एक वेश्या के यहाँ रहती है तथा एक पुत्र को जन्म भी देती है, माना हत्यारे की पुत्री है और घंटी एक चरित्रहीन बाल-विषवा है । पुरुषों में श्रीचन्द्र किशोरी को परित्यक्त सा कर देता है और स्वयं एक विनायी धनिक है । दिनरिच्छजन पहले तो साधु बनता और पुनः उसी वेष में किशोरी से व्यक्तिचार में लीन रहता है । तारा के गर्भ रहने पर मंगल लगे विवाह में पूर्व ही छोड़ जाता है और किशोरी का जारज पुत्र विजय तो

महान् दुराचारी है। बायम भी एक घनलोत्रुन एवं बहाने से धर्म की भाङ्ग में शिकार खोलने वाला ईसाई है।

इन सभी पात्रों के जीवन को दलदल में फँसाकर एक सुन्दर भूमि पर लाने का प्रयत्न इस उपन्यास में है। अन्त में उपर्युक्त भारतीय धार्मिक-मय की स्थापना की गई है।

इसमें व्यंग्य की प्रधानता है। पात्रों में गुह्य दुराचार, माधु-मण्डनी का दम्भ एवं तीर्थों में पापाचार आदि ऐसी बातें इसमें चित्रित हुई हैं जो वास्तव में गतितांग समाज पर व्यंग्य करना ही है। इसी लिये इसमें यथार्थ का चित्रण हुआ है और दुःखान्न घटना में इसका पर्यवसान है।

इसमें बधावस्तु की प्रधानता नहीं है, घटनाओं को विशेष महत्व दिया गया है तथा चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता तो है परन्तु उन्हें घटनाओं के अनुसार ही ढाला गया है। उपर्युक्त पात्रों का चरित्र इस बात का प्रमाण है। इसमें एक-दो पात्र ही ऐसे हैं जो उच्च-कोटि के हैं तथा गोस्वामी। परन्तु प्रसाद जी का सद्यः सौ चरित्रों में भी आदर्श-संस्थापन की धोर ही रहा है। पुरुष स्त्री की उपभोग्य समझना है धनः उमकी इन भोगेच्छा के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों की क्या दुरवस्था होती है यही इनमें चित्रित है।

इसमें प्राचीन समाज में व्याप्त दम्भ, पापाचार एवं कुप्रथाओं का चित्रण तो है परन्तु वह आज के ही प्रकाश में। वास्तव में आज का ही कृत्रिम एवं विदम्बनापूर्ण जीवन इसमें चित्रित हुआ है। किन्तु माय ही प्रसाद जी की सत्कारवादिना भी मिट्ट होनी है। किशोरी और देवनिरजन का तीर्थों में संयोग देववदा ही हुआ है। इसी प्रकार मंगल तारा की सहायता की जाता है परन्तु वन में जाने पर देव गाला में मिला देता है।

कंजाल की भावा प्रोद एवं ससृजगमित है। अनेक स्त्रियों पर भापा में नाटकीय रीति भी रीत्य पड़ती है। कहीं-कहीं प्रसाद गद्य से उब कर गद्य भी पढ़ते हैं। घण्टी गान्नी है—

रिवा के हिया में परी है गठि में बचने जनन से सोनुं।

और कहीं-कहीं तो गद्य में भी काव्य का आनन्द आता है—

“दूही की ध्यातियों में मकरन्द-भदिरा पीठर मधुरों की टोतियाँ मड़गाड़ा रहीं थी और दक्षिण पवन मौलसिरी के धूमों की कौड़ियाँ कँक रहा था।”

नितली

संक्षिप्त कथा—धामपुर के यमोशर इन्द्रदेव इन्द्र के लोटे हैं और करने

साथ एक भयंज युवती शैला भी लाए हैं। उनकी जमींदारी में बंजरिया में एक बृद्ध रामनाथ और बजो उपनाम तितली रहते थे। मधुवन भी इन्हीं के पास रहता था। रामनाथ ग्रामीणों को पढाया करता था। तितली रामनाथ की पुत्री नहीं थी वरन् उसके स्वामी देवन्दन की पुत्री थी जो देवन्दन की भवम्हा बिगड जाने पर और वहाँ से चले जाने पर उसे एक स्टेशन पर भिलमर्गों में मिली थी। मधुवन शेरकोट के जमींदार का पुत्र था परन्तु घामपुर के जमींदार से मुकद्दमे में हार जाने पर वह अपनी बहिन राजकुमारी से अलग रामनाथ के पास ही रहता था।

शैला इन्द्रदेव के परिवार में कलह का कारण हुई। इन्द्रदेव की माँ श्यामदुलारी को उसके धाने से बड़ा दुख हुआ। इन्द्रदेव की बहिन माधुरी घामपुर में ही रहती थी क्योंकि उसके पति श्यामलाल शराबी और व्यभिचारी थे। माधुरी का पुत्र कृष्णमोहन पढता था। माधुरी को चिंता थी कि यदि शैला से इन्द्रदेव का विवाह हो गया तो उसका और उसके पुत्र का क्या होगा।

नगर में धनवरी नाम की एक चरित्रहीन डाक्टरनी भी थी, जो शैला को मार्ग से हटाना चाहती थी अतः माधुरी से उसकी सूत्र पटली थी। धनवरी और माधुरी ने पट्टपत्र से श्यामकुमारी को उसी घर में लाकर रक्खा, जहाँ गाँव में इन्द्रदेव और शैला रहते थे ताकि माँ उसे अछूत समझकर अपमानित करे।

वहाँ का तहसीलदार मधुवन की अकड से उससे चिड़ता था। जब बलवटर साहब प्यारे और उन्होंने ग्रामसुधार की योजना बनाई तो तहसीलदार के कहने में धोपघालय आदि के लिए शेरकोट को ही उपयुक्त समझा गया। इन्द्रदेव ने ग्रामसुधार का काम शैला के सुपुर्द कर दिया। उसे जब तहसीलदार के पट्टपत्र का पता चला तो उसने शेरकोट के स्वान पर नीलकोठी को अर्पणा समझा, जिसके स्वामी थे बटेली साहब जो वास्तव में शैला का मामा था।

शैला विरोध में परिविज हो गई थी। उसने स्वतंत्र रूप से कार्य करना सोचा। वह रामनाथ से पढती थी। उसने हिन्दू होने की इच्छा प्रकट की। रामनाथ ने मधुवन और तितली का विवाह और शैला की दीशा का दिन निश्चित कर दिया। उपर धनवरी और माधुरी चाहती थी कि यदि तितली का विवाह इन्द्रदेव से हो जाय तो शैला मार्ग से हट जायगी। तितली से इन्द्रदेव और शैला का परिवय शिकार लेलते हुए ही भी चुका था अतः शैला का वहाँ धाना-जाना और पढना बल रहा था। माधुरी ने मुसदेव चौबे को राजकुमारी के पास मधुवन और तितली का विवाह रोहने के लिए भेजा। राजकुमारी मुसदेव से मन ही मन प्रेम करती थी अतः उसने उसकी बात मान ली। परन्तु

रामनाथ ने कोई चिन्ता न की और विरोध के होते हुए भी दोनों कार्य सम्पादित कर दिए ।

एक दिन श्यामलाल घामपुर आया । उसने शैला से अश्रुयुता दिखाई । शैला ने इन्द्रदेव से कहा, जिससे वे बड़े दुखी हुए । इन्द्रदेव शैला में प्रेम करते थे अतः कलक्टर वाटसन के साथ शैला का खुना व्यवहार उन्हें खलता था । एक दिन उन्होंने श्यामलाल और धनवरी को घनाचार करते देख लिया जिससे वे क्षुब्ध होकर वहाँ से चले गए । श्यामलाल अपने साथ एक पहलवान भी लाया था । एक दिन दंगल हुआ, जिसमें मधुवन ने उस पहलवान को पछाड़ दिया । इसमें तहसीलदार और भी जलने लगा । तदनन्तर श्यामलाल धनवरी को लेकर कनकता चला गया । शैला ने माधुरी को सांग्रना दी, जिसमें माधुरी शैला का शुभचिन्तक समझने लगी । श्यामदुलारी ने जमींदारी का दानपत्र माधुरी के नाम लिखना चाहा और शैला में सलाह की । तदनन्तर श्यामदुलारी, शैला और माधुरी इस कार्य के लिए शहर गए ।

इधर गाँव में एक विवाह हुआ, जिसमें मैना देव्या का नाच था । राजकुमारी भी शेरकोट से देखने आई । अधिक रात्रि होने में वह शेरकोट चली, मार्ग में चौबे जी मिल गए और दोनों पाप-लिप्त होकर शेरकोट चल दिए । उपर एक हाथी बिगड़कर मैना पर झट्टा और मधुवन मैना को बचाकर शेरकोट की ओर भागा । मार्ग में चौबे को देखकर जल गया और उसे मूव मारा । चौबे ने तितनी में मैना की बात कह दी जिसमें तितनी को मधुवन पर सन्देह हुआ ।

रामजस मधुवन का मित्र था । तहसीलदार और चौबे ने उसे भी बहूत सताया । जब उसने चौबे की ये बातें सुनीं तो और भी जल गया । एक दिन वह अपने मोलाम हुए खेत से होने माने लगा और साथ में और भी लडके थे । वहाँ फौजदारी हो गई, जिसमें रामजस के साथ मधुवन ने भी भाग लिया । मधुवन पर मुकद्दमा चला । लडने के लिए रुपये न थे अतः वह रात्रि में राजकुमारी को लेकर महुँत के पास गया । वहाँ दुष्ट ने राजकुमारी को बुरी इच्छा से पकड़ लिया । वह बिल्मार्द, मधुवन ने महुँत का गला घोटकर मूर्च्छित कर दिया और रुपये लेकर भाग गया । भागकर वह मैना के यहाँ पहुँचा और प्रातः ही वहाँ से बनारस भाग गया ।

इन्द्रदेव घामपुर में बनारस ही थे गए थे और बकालत करने थे । वे जिस परिवार में ठहरे थे, रत्रिस्ट्री के लिए गई हुई श्यामदुलारी भी वहाँ ठहरी । इन्द्रदेव ने शैला से सारी बात जानकर माँ के नाम रत्रिस्ट्री

कर दी। वही वकील करने के लिए तितली भी पहुँच गई परन्तु इन्द्रदेव का नाम सुनकर वह वहाँ से चली गई। परिवार की मालकिन नन्दरानी के प्रयत्न से इन्द्रदेव का विवाह शैला से हो गया।

मधुवन गाँव के ही एक लडके रामदीन के साथ, जो रिफार्मेटरी स्कूल में अभी आया था, कलकत्ते चला गया। यहाँ पहले कुलीगीरी की पुनः बीरू नामक एक गिरोहपति के प्रयत्न में रिक्शा हाँकने लगा। एक दिन नसे में चूर श्यामलाल और मैना रिक्शा में सवार हुए। श्यामलाल बार-बार शीघ्र चलने के लिए कहता था। मधुवन को क्रोध आ गया और उसने दोनों को पटक दिया और मारा भी। इसी समय पुलिस भी आ गई और दोनों को जाने ले गई। वहाँ मैना ने मधुवन को पहचान लिया। मधुवन पर पिछले अभियोग भी चले और उसे दस वर्ष की सजा हुई।

इधर तितली ने मन को धैर्य दिया और एक स्कूल चलाया। शैला ने भी सहायता दी। श्यामदुलारी बीमार पड़ गई थी। अब उसका मन भी द्रवित हो गया था और माधुरी भी पिघल गई थी। परिवार में प्रेम बढ़ने लगा और शीघ्र ही सुखमय वातावरण हो गया।

उपर मधुवन ने जेल में अच्छा व्यवहार दिखाया जिससे श्रावण से दो वर्ष पूर्व ही वह छोड़ दिया गया। वह वहाँ से कलकत्ते के पुराने साथी मनी-गोपाल के साथ हरिहर दंष्ट्र के मेले में चला गया। वहाँ चौकीदारी कर ली। वहाँ उमरें एक दिन मैना के जाने की आवाज सुनी और पास के तम्बुओं में चौबे और तहमीलदार की बातें करते हुए सुना। वे दोनों गाँव से निकाल दिए गये थे और महन्त के साथ इस मेले में आये थे। इस बातचीत से उभे यह भी पता चला कि तितली के पुत्र उत्पन्न हुआ था। उसे सन्देह हुआ और मनीगोपाल से गाँव जाने की मताह की। रात को एक हाथी बिगड़ गया, जिसने चौबे, तहमीलदार और मैना को बुचल दिया और महन्त भी आहत हुआ। प्रातः मधुवन घर चले दिया।

धामपुर स्वर्ग बन गया था। तितली का पुत्र मोहन चौदह वर्ष का हो गया था। रामजस के साथ वह प्रायः रहता था। रामजस ने उमसे पिछली सारी घटनाएँ कह दी थी। एक दिन रात के घोंघेरे में आते हुए मधुवन को भूत समझकर वह डोड़ा आया और उभे युवार हो गया। किवाड़ बन्द कर माता ने उभे सुला लिया और वह सोचने लगे कि मोहन बड़ा होकर मुझे कलबिनी सम्भोगा। उद्विग्न होकर वह गंगा में डूबने के लिए चली परन्तु ज्यों ही दरवाजा खोला, उभे मधुवन सदा दिराई दिया।

तितली की समीक्षा—तितली एक कथा-प्रधान उपन्यास है और इसमें आदर्शवाद की प्रधानता है अतएव इसका अन्त सुखमय है। इसमें मानव-जीवन के विविध रूप बड़े सुन्दर और स्वाभाविक रूप में चित्रित हुए हैं। इसमें दो समस्याएँ उलझती-मुलझती चलती हैं—एक तो ग्रामीण-जीवन की समस्या और दूसरी पारिवारिक समस्या। प्रथम समस्या अंग्रेजी शासन के अनाचारपूर्ण व्यवहार से जटिल थी, जिसमें अज्ञातता विज्ञान अधिकारियों, जमींदारों एवं कारिन्दों का शिकार होता था तथा उसका धन-मान आदि सभी कुछ नुस्तता था और दूसरी जिसमें भारत के घनिक परिवारों के पड़्यन्त, बलह एवं उखाड़-पछाड़ और विलास के चित्र हैं।

इन दोनों समस्याओं का यथार्थ चित्रण है परन्तु प्रत्येक चरित्र के चित्रण से आदर्श उपस्थित किया है। तितली, मधुवन, इन्द्रदेव एवं शैला सभी आदर्श चरित्र हैं। कंकाल में यथार्थवाद की प्रधानता है, जबकि इसमें आदर्शवाद की। वह घटना-प्रधान है और यह चरित्र-प्रधान। जाटकीय शैली एवं काव्य का रसास्वादन दोनों में मिलता है। तितली को भाषा कंकाल में अपेक्षाकृत सरल है। तितली में भी कंकाल की भाँति कवि लेखक गा उठा है—

मदमाती कीइतिषा बोले डार-डार।

प्रसाद भाग्यवादी थे अतः कंकाल की भाँति इस उपन्यास में भी नियति का खेल दिखाई देता है। शेरकोट का उत्तराधिकारी रामनाथ के पाम रहना है, तितली से उसका विवाह होना है, भागा-भागा फिरता है, जेन जाना है और सन्दन की भित्तिारिन शैला यहाँ के जमींदार इन्द्रदेव की गृहिणी बनती है तथा चौबे, तहमीनदार और मँना बनकसे में हाथों के पैरों कुचने जाने हैं; ये सब नियति के ही खेल हैं।

कंकाल में भी दो कथाएँ हैं और इसमें भी दो हैं—एक तितली और मधुवन की दूसरी शैला और इन्द्रदेव की। परन्तु दोनों में मानवस्य है। प्रधान-कथा तितली और मधुवन की है, उसमें द्वितीय कथा ने योग ही दिया है और वह भी रोचकता से।

इस उपन्यास में भी प्रेमचन्द के मेधासन एवं प्रेमाश्रम की भाँति प्रारम्भ में रामनाथ का एवं अन्त में तितली का विदामय स्थापित हुआ है। पामपुर भी प्रेमाश्रम के लगनपुर की भाँति अन्त में स्वर्ग बन गया है।

इसकी कथावस्तु कंकाल की अपेक्षा आधुनिकता अधिक लिए हुए है। चरित्र-विपरीत की दृष्टि में यह उपन्यास उमरे बड़ी धेनु है। इसमें कंकाल की भाँति पात्रों में दुश्चरित्रता नहीं। इसकी तितली और शैला आदर्श नारी हैं।

वहाँ की किशोरी आदि इनके पासंग में भी नहीं। तितली तो आर्य नारी का पूर्ण आदर्श है। उसका साहस, धैर्य और कार्यपटुता आदि गुण श्रद्धा के उद्भावक हैं। रामनाथ के चरित्र में हम एक गान्धी जी के भक्त को देखते हैं। इन्द्रदेव और मधुवन दोनों में परिस्थिति-भेद तो है परन्तु स्वभाव प्रायः सम स्तर का है। राजकुमारी साधारण कौटि की विधवा, अनवरो एक अविवाहित डाक्टरनी, माधुरी एक परित्यक्ता एवं श्यामदुलारी एक राजमाता के वास्तविक नमूने हैं। चौबे, तहसीलदार एवं महत भी अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसमें नगर और ग्राम का वास्तविक रूप हमारे सामने उभरित होता है, वहाँ के जीवन के प्रत्येक रूप पर प्रकाश डाला गया है। ग्राम के किसान भी हैं, खेती भी है, भगड़े भी हैं, अधिकारियों से भिड़न्त भी है और मर्यादित प्रेम भी है तथा नगर का विलासमय जीवन भी है, पशुपत्र भी है, कलह भी है, दम्भ भी है और उच्छ्वललता भी है।

वास्तव में यह उपन्यास प्रसाद जी की अमर कृति है।

प्रसाद की कहानी कला—

प्रसाद जी ने सर्वप्रथम 'चित्राधार' में दो कथाएँ प्रकाशित की—ब्रह्मपि और पचायत। ये दोनों पौराणिक कथाओं से सम्बन्ध रखती हैं अतः दोनों धार्मिक हैं। 'ब्रह्मपि' में राजपि विश्वामित्र का ब्रह्मपि बनने के लिए वसिष्ठ से द्रव्य-युद्ध है। 'पचायत' में स्कन्द और गणेश में कौन बड़ा है इसका समाधान है।

ये दोनों ही कथाएँ उच्च-कौटि की नहीं। भाषा और भाव की दृष्टि से ये प्रसाद जी की प्रारम्भिक रचनाएँ होने की स्पष्ट ही सूचना देती हैं। 'समी नै' के रयान पर 'समी नै' का प्रयोग इन पर ब्रजभाषा के प्रभाव की उद्घोषणा करता है। उस समय ये कविता तो ब्रजभाषा में लिखते ही थे।

इनका सर्वप्रथम मौलिक कहानियों का संग्रह या 'छाया' जिसमें पाँच कहानियाँ सम्प्रहीत थीं। यही हिन्दी का प्रथम मौलिक कहानियों-संग्रह है। इसकी 'ग्राम' नामक कहानी प्रसाद की सर्वप्रथम कहानी थी, जो इन्डु में सन् १९१० में प्रकाशित हुई थी। छोटी-छोटी ग्राम्याविकारों में घटनाओं का पूर्ण चित्र न होने और केवल उनकी छाया रहने के कारण ही इस संग्रह का नाम 'छाया' रखा था। इसके सन् १९१२ के द्वितीय संस्करण में छ कहानियाँ और बड़ा दो गईं।

'छाया' की कहानियों में द्विवेदी युग की स्पूनता है। भाषा में भी पूर्ण निम्नार नहीं और न अघाघ गति है। कथानक का विकास प्रायः मन्द है और जोररयन भी सीमितपूर्व है। इनमें वे असोक, जहानारा आदि जो ऐति-

हासिक कहानियाँ हैं, वे भी कला की कसौटी पर खरी नहीं उतरती ।

सन् १९२६ में इनका 'प्रतिध्वनि' नामक कहानी-संग्रह निकला, जिसमें १५ कहानियाँ संग्रहीत हैं । ये सभी कहानियाँ छोटी हैं परन्तु 'ध्याया' की कहानियों से उत्तम हैं । उनकी अपेक्षा इनमें मूढमता है । जहाँ उनमें यथार्थ एवं घादरों का चित्रण था, इनमें हृदयहारिता के साथ प्रभाव-स्फासिता भी है । इनमें कवि प्रसाद की मधुर उद्भावनाएँ देखने को मिलती हैं, जो मन को मोहती हैं, मस्तिष्क को शान्ति देती हैं और आत्मा में समुज्ज्वलता लाती हैं ।

ये कहानियाँ कवि-कृति हैं अतः कहानी में कविता का आनन्द मिलता है । इनमें 'प्रलय' रहस्यात्मक कहानी है ।

'शूद्र साई', 'पाप की पराजय' एवं 'प्रतिमा' में मनीषाओं का बड़ा सुन्दर विद्वेषण हुआ है । 'चक्रवर्ती का स्तम्भ' में ऐतिहासिकता की झलक है और 'कलावती की शिक्षा' में समाज की कुत्सा का चित्र है ।

ये कहानियाँ छोटी हैं अतः इनमें भी चरित्र-चित्रण उचित ढंग से नहीं हुआ । इन सब में 'शूद्र साई' और 'पाप की पराजय' श्रेष्ठ कहानियाँ हैं क्योंकि इनमें भावों का यथार्थ चित्रण हुआ है ।

इसके पश्चात् सन् १९२६ में इनकी दो मसूह-रचनाएँ प्रकाशित हुई— (१) आकाशदीप और (२) आधी । 'आकाशदीप' में १६ और 'आधी' में ११ कहानियाँ हैं ।

'आकाशदीप' की कहानियाँ इनकी कला के उत्कृष्ट नमूने हैं । 'प्रतिध्वनि' की भाँति इनमें भी 'हिमालय का पथिक' और 'वैरागो' आदि छोटी कहानियाँ हैं, जिनमें गद्य-भोज का आनन्द मिलता है । इन सब में 'आकाशदीप' ही सर्व-श्रेष्ठ है, जो जावा आदि द्वीपों में भारतीय उपनिवेश की याद दिलाती है । इसे हम ऐतिहासिक कहानी कह सकते हैं । इस संग्रह की ऐतिहासिक कहानियों में 'स्वर्ग के स्वर्णहर में' नामक कहानी बड़ी सुन्दर है । ये दोनों कहानियाँ कथानक की दृष्टि से माधारण व्यक्ति के लिए बड़ी जटिल हैं ।

इस संग्रह की कहानियों में भाषा परिमार्जित है और शैली में प्रवाह एवं माधुर्य है तथा प्रसन्न की वाच्य-प्रियता और दार्शनिक गम्भीरता स्पष्ट झलकती है । इन कहानियों को ही पढ़कर एक व्यक्ति कह सकता है कि यह लेखक कवि होना चाहिये और वह भी ध्यायावादी ।

'आधी' की कहानियों में हम एक विनीयता देखते हैं और वह यह है कि उनमें मानव जीवन का वास्तविक चित्रण है । 'मधुघा' हमारी सर्व-श्रेष्ठ कहानी है । इसमें 'दागी', 'वनमंग' और 'धुरस्वार' ऐतिहासिक हैं ।

इनका अन्तिम संग्रह है 'इन्द्रजाल'। इसमें १४ कहानियाँ हैं। इसकी सभी कहानियाँ कहानी-कला के उत्तम नमूने हैं। 'इन्द्रजाल', 'सलीम', 'गुंडा' और 'मालवती' तो हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठतम कहानियों में से हैं। 'मालवती' इस संग्रह की सभी ऐतिहासिक कहानियों में जटिल होते हुए भी सुन्दर है। इन कहानियों में भी मानव-जीवन का ही विविध रूप से चित्रण है। भावों की मूढता एवं भाषा की परिष्कृति तथा चरित्र-चित्रण की चारुता इन कहानियों की विशेषताएँ हैं।

प्रसाद जी की कहानियों का विभाजन स्थूल रूप में हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

ऐतिहासिक—तानसेन, शरणागत, सिकन्दर की शपथ, बितौर-उद्धार, अशोक, जहाँनारा, खडहर की लीपि, चक्रवर्ती का स्तम्भ, आकाशद्वीप, ममता, स्वर्ग के खडहर में, व्रतभंग, नूरी, गुंडा, विराम बिन्दू और मालवती आदि।

नग्न-प्रेम-सम्बन्धी—रसिया बालम और प्रणय-चिन्ह आदि।

मनोवैज्ञानिक—प्रतिमा और परिवर्तन आदि।

रहस्यात्मक—प्रलय और समुद्र-मंथरण आदि।

सामाजिक—विजया (विधवा-विवाह-सम्बन्धी) और विराम-चिन्ह (हरिजन-सम्बन्धी) आदि।

इनकी अधिकांश कहानियों में प्रेम-सत्त्व की व्याप्ति है तथा कल्पना की कोमल उड़ान है अतः अभिव्यंजनात्मक शैली की छाप है। इन कहानी-संग्रहों में कला-विकास क्रमशः हुआ है यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। प्रसाद जी प्रेमचन्द जी की भाँति कहानी-सम्राट तो नहीं परन्तु इस क्षेत्र में ऊँचे स्थान पर समाप्त हैं।

प्रसाद की निबन्ध-कला—

प्रसाद जी ने अपने जीवन में लगभग बीस निबन्ध लिखे, जिनमें कुछ प्रारम्भिक माधुर्य निबन्ध हैं, कुछ ऐतिहासिक और कुछ साहित्यिक। इनकी तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है—

प्रारम्भिक विविध-विषयक—प्रकृति-सौंदर्य, भक्ति, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, चणू, कवि और कविता, कविता समावाद, मोघों का राज्य-परिवर्तन, मरीज और हिन्दी-कविता का विकास।

ऐतिहासिक—चन्द्रगुप्त मोघों और आर्षावर्त का प्रथम सम्राट्।

इनके अतिरिक्त राज्यश्री, विशाल, अजातशत्रु जनमेजय का नागयज्ञ, स्वप्नप्रसन्न, चन्द्रगुप्त, द्रुवस्वामिनी और कामायनी की भूमिकाएँ भी ऐतिहा-

सिके निबन्ध ही है। परन्तु इनका निबन्ध के रूप में पृथक् प्रकाशन नहीं हुआ।

साहित्यिक निबन्ध—काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का प्रयोग नाटकों का आरम्भ, रंगमंच, आरम्भिक पाठ्य वाच्य एवं यथार्थवाद और छायावाद।

आरम्भिक निबन्ध कालक्रम से इन्दु में प्रकाशित हुए थे। 'प्रवृत्ति सौन्दर्य' 'भक्ति' और 'सरोज' ये तीन निबन्ध चित्राधार में संग्रहीत हुए और 'चम्पू' उर्वशी की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ था। छाप पुस्तकाकार में कभी संकलित नहीं हुए।

ये सभी निबन्ध साधारण कोटि के हैं। भाषा संस्कृतगर्भित है और शैली भी समस्त-सी है परन्तु वे परिष्कृत नहीं। उनमें गद्य-काव्य का सा आनन्द आता है। इनमें कवि प्रसाद की कल्पना, छायावादिता, काव्यानुराग और सस्मृत-प्रियता स्पष्ट भलवती है। 'सरोज' एवं 'चम्पू' आदि निबन्धों में सस्मृत के ग्रन्थों से उद्धरण दे देकर अपनी बात को पुष्ट करने की शैली अपनाई गई है। ये इनके आरम्भिक निबन्ध होने के साथ-साथ इस क्षेत्र में इनके आरम्भिक प्रयत्न को ही उद्घोषित करते हैं। इनमें शैली की विविधता तो दोष पड़ती है परन्तु भाषा का एक रूप ही है।

ऐतिहासिक निबन्ध प्रायः सभी नाटकों की भूमिका के रूप में ही लिखे गये। कामायनी का आमुख भी ऐतिहासिकता लिए हुए है। केवल 'चन्द्रगुप्त मौर्य' और 'धार्मावर्ति का प्रथम सम्राट्' पृथक् प्रकाशित हुए थे। प्रथम पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ था और पुनः 'चित्राधार' में संकलित हुआ। द्वितीय पहले नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुआ और पुनः 'कोशोत्सव स्मारक संग्रह' में संग्रहीत हुआ।

ये सभी निबन्ध उच्च-कोटि के गवेषणात्मक निबन्ध हैं। इनमें प्रसाद जी के समाज पाण्डित्य का पता चलता है और ज्ञात होता है कि पुराणों, बौद्ध-ग्रन्थों एवं अन्य प्राचीन शास्त्रों का उन्होंने कितना अनुशीलन किया था। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' निबन्ध में चन्द्रगुप्त का मुरा नादन से उत्पन्न बृहल के स्थान पर पिप्पली वानन का मौरिय क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए उन्होंने जिन युक्ति-प्रयुक्ति एवं प्रमाणों का प्रयोग किया है, वे उनके प्रकाण्ड ऐतिहासिक ज्ञान, तार्किक बुद्धि एवं गवेषणात्मक मननशीलता का परिचय देते हैं। कामायनी के आमुख में भी उनका गम्भीर वैदिक साहित्य का अध्ययन विदित होता है। उनके प्रौढ़ साहित्यिक निबन्ध 'वाच्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में संग्रहीत होकर प्रकाशित हुए। ये विवेचनात्मक निबन्ध हैं और इनमें पर्याप्त मौलिकता

है। इन्होंने काव्य की व्याख्या बड़े धनूठे ढंग से की है। नाटकों के विवेचन में 'भाँटों के अनुकरण को' संस्कृत के 'भाण' से प्रसूत हुआ और 'नाटकी' को 'नाटकी' का अपभ्रंश मानते हैं। ये निबन्ध पूर्वं-निबन्धों से उसी प्रकार प्रौढ़ हैं जैसे पूर्वं काव्य-ग्रन्थों से प्रासू और कामायनी। प्रसाद छायावादी एवं रहस्यवादी कवि थे और वे उच्चकोटि के नाटककार एवं कथाकार अतः उन्होंने इन निबन्धों में साहित्य के विविध अंगों एवं वादों के सम्बन्ध में बड़ा गम्भीर विवेचन किया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

साहित्यिक कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी का जन्म मेदनीपुर, बंगाल में सन् १८६६ (सं० १९५३) में हुआ था। इनके पिता पं० रामधरहाय जी मूलतः उम्राव जिलान्तर्गत गडाकोला गाँव के निवासी थे किन्तु बंगाल की महिषासत रियामत में नौकर होने के कारण मेदनीपुर में आ बसे थे। यहीं सूर्यकान्त जी का जन्म हुआ। बंगाल में उत्पन्न होने और जन्मनः वहीं रहने के कारण बंगला इनकी मातृभाषा हो गई। मेदनीपुर में ही इनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। इनकी प्रतिभा बाल्यकाल में ही प्रखर थी अतः बंगला में पद्य-रचना में सानची-घाटची कथा में ही करने लगे थे। १६-१७ वर्ष की अवस्था में इन्होंने वही के राजकीय स्कूल से दशम कक्षा पास की किन्तु इसके परचाय ही इनके जीवन में विपत्तया प्रारम्भ हो गई और आगे शिक्षा न हो सकी। अध्ययन-काल में इन्हें संगीत की शिक्षा भी मिली थी। तेरह वर्ष की अवस्था में ही इनका विवाह हो गया था। पत्नी का नाम मनोहरादेवी था, जिसमें दो सन्तान हुई—एक पुत्र और एक पुत्री।

जब इनकी अवस्था २० वर्ष की हो थी, इनके पिता का देहान्त हो गया और इन्हें रियामत में एक छोटी नौकरी करनी पड़ी। देवी प्रबोध भटक रहा था, इन पर दुर्भाग्य आघात पर आघात करने लगा। माल डेढ़ मालके परचाय ही इनका अंश की महामारी बड़े विकराल रूप से फैली और इनकी पत्नी कान के कारण माल में खनी गई। इन्हें सार में उनकी बीमारी का समाचार मिला था परन्तु इनके पहुँचने से पूर्व ही वे जीवन-सीना समाप्त कर चुकी थी। शीघ्र ही वे पर पहुँचे परन्तु केवल दो दिन में ही इनके ज्येष्ठ भ्राता, भाभी, भतीजा और दादा भी इस मगार को त्याग कर परलोक मियारे। इनका हृदय-शारीरिक हृदय-इन आघातों को सहन कर मृष्टि के अन्तर्गत त्रिपाठी पर विचार करने लगा। परिवार तो समाप्तप्राय था, अब केवल उसमें इनके अतिरिक्त छ. प्राणी थे, जिनमें दो

इनकी संतान और चार इनके दादा के पुत्र थे। प्रायिक स्थिति बड़ी विपम थी, आजीविका का कोई विशेष साधन न था और पैतृक सम्पत्ति भी कोई विशेष नहीं थी और उस पर भी छः प्राणियों के पालन-पोषण का भार था अतः जीवन भी विपम चाल से चलने लगा।

इस महामारी की ऐसी गहरी छाप इनके हृदय पर लगी कि इन्होंने अपने 'अलका' नामक उपन्यास की शृङ्खला इसी पर आधारित की। इस उपन्यास का नायक विजय और नायिका शोभा के परिवार के सभी व्यक्ति महामारी में कालकवलित हो जाते हैं। वास्तव में यह इन्हीं के जीवन की एक भाँकी है।

कर्मव्यशील युवक ने विपत्तियों से प्रेम करना प्रारम्भ किया। इष्ट मित्रों ने पुनः विवाह-वन्धन में बँध जाने का अनुरोध किया परन्तु इन्होंने स्वीकृत न किया और देवादेश को आज्ञाकारी की भाँति शिरोधार्य किया। द्वितीय बार प्राण-ग्रहण न करने में एक कारण यह भी था कि इनकी पत्नी इनके अनुकूल ही थी अतः उससे अत्यधिक प्रेम था और इमीलिए उसकी स्मृति इनके हृदय-पटल पर अंकित हो गई थी। वह एक विदुषी नारी थी और हिन्दी से अत्यधिक प्रेम रखती थी। हिन्दी के प्रति प्रेरणा इन्हें पत्नी से ही मिली थी। इन्होंने 'कुल्नीघाट' में लिखा है कि मेरी पत्नी हिन्दी को विदुषी थी और मैं उससे नितान्त अपरिचित था अतः जब मैंने उससे हिन्दी की प्रशंसा सुनी तो मैं भी हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ। वास्तव में इस प्रेरणा के पदचाल ही इन्होंने हिन्दी का अध्ययन प्रारम्भ किया परन्तु प्रायिक स्थिति विशेष अच्छी न होने के कारण अध्यापक न रुका सके। 'सरस्वती' और 'मर्यादा' नामक पत्रिकाओं को मैगाने लगे और उन्हीं के स्वाध्याय में ज्ञानार्जन करने लगे। अटूट उत्साह और सतत प्रयत्न से वे सफल हुए और शीघ्र ही कुशल हो गए। 'गोतिका' नामक कविता-ग्रन्थ को अपनी पत्नी मनोहरा देवी की समर्पित करते हुए इन्होंने इस धामार को स्वीकार किया है।

बँगला वा इन्हें पर्याप्त ज्ञान था ही, हिन्दी का ज्ञान भी परिवृद्ध हो चुका था और अंग्रेजी से भी वे बहुत कुछ परिचित थे। इन्होंने इन भाषाओं के मान्य लेखकों की कृतियों का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही रवीन्द्रनाथ, रामचन्द्र परमहंस, विवेकानन्द और चण्डीदाम आदि की रचनाओं को पढ़ाया, जिनका इन पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इनकी दार्शनिकता पर विवेकानन्द का बड़ा प्रभाव था।

साहित्य-सेवा—

पढ़ने कहा जा चुका है कि इनमें कवि-प्रतिभा बाल्यकाल से ही थी।

बंगला में तो कविता ७-८ वर्ष की अवस्था में ही करने लगे थे, हिन्दी में भी २० वर्ष की अवस्था में कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। इनकी हिन्दी की सर्वप्रथम रचना 'टुहरी की कनी' है। पुनः रवि बाबू की अनेक बंगला कविताओं का हिन्दी-अनुवाद किया, जो 'रवीन्द्र-कविता-संग्रह' में सम्मिलित हैं। पुनः १९१६ ई० में इन्होंने 'हिन्दी-बंगला का तुलनात्मक व्याकरण' लिखा जो सरस्वती में प्रकाशित हुआ।

इनका वास्तविक साहित्यिक जीवन इनके 'समन्वय' के सम्पादन-कार्य में प्रारम्भ हुआ। राज्ज की नौकरी छोड़ने के पश्चात् इनका परिचय सन् १९२० में महावीर प्रसाद द्विवेदी से हुआ। कानपुर की 'प्रभा' पत्रिका में प्रकाशित निराला जी की एक कविता 'अध्यात्म फल' को पढ़कर द्विवेदी जी बड़े प्रसन्न हुए थे अतः उन्होंने इनकी नौकरी के लिए बड़ा प्रयत्न किया। जब रामकृष्ण मिशन, अन्मोड़ा के अध्यक्ष स्वामी माधवानन्द ने नवीन पत्र निकालना चाहा और उनके सम्पादन के लिए द्विवेदी जी से पूछा तो उन्होंने इन्हीं का नाम निर्दिष्ट किया परन्तु उन्हें एक अधिक अनुभवी व्यक्ति मिल जाने के कारण इनका कार्य न हो सका। तदनन्तर सन् १९२२ में इन्होंने 'समन्वय' नामक पत्र में 'पुष्पावतार श्री रामकृष्ण' नामक एक लेख दिया, जिसमें प्रसन्न होकर पत्र के प्रबन्धक ध्यानबोधानन्द ने इन्हें कवचते बुला लिया और पत्र का सम्पादन-कार्य इनको सौंप दिया। इस काल में उन्होंने अनेक लेख एवं कविताएँ लिखीं। उन कविताओं में अद्वैत की भावना प्रभुष्टित हो रही है। सन् १९२३ में इनकी कविताओं का एक संग्रह 'धनामिका' नाम से निकला।

समन्वय का सम्पादन करते हुए वे अन्य पत्र-पत्रिकाओं को भी कविता एवं कहानियाँ आदि भेजने में परन्तु वे समाह्वन नहीं होती थीं, जिसमें हतोत्साह होने जा रहे थे। इनके अन्दर में इनका मुक्त-छन्द भी एक कारण था। यदि कोई आशयान्त का आशय था तो वे उसे 'मत्तवाना' के सम्पादक महादेव बाबू। इन्होंने उन समय 'मुकुट की बीबी' नामक एक कहानी लिखी थी, उसके प्रारम्भ में वे लिखते हैं—'बहुत दिनों की बात है, ठक में लगातार साहित्य-अमुद्र-सन्धन कर रहा था। पर निराला रहा था केवल गहन—दान करने वाले अकेले महादेव बाबू, मत्तवाना सम्पादक जो शीघ्र रत्न और रत्ना के निराले की आशा से परिवारम मुझे मथने जाने की सलाह दे रहे थे।'

अन्त में मुक्त कवि की अत्यन्त निराश देगकर सन् १९२४ में महादेव बाबू ने इन्हें 'मत्तवाना' के सम्पादन-विभाग में से निराला और शीघ्र ही प्रमुख सम्पादक बना दिया। यहीं से इनका साहित्यिक मूल्य हुआ। इन्होंने अपना

उपनाम 'निराला' 'मतवाला' के ही अनुप्रास पर रक्ता । अब तो इनकी कविताएँ मतवाला के मुखपृष्ठ पर निकलने लगीं । इनके मुक्त-छन्द का बड़ा विरोध हुआ, पत्रों में भालोचनाएँ निकली । गोष्ठियों में निन्दा की गई परन्तु क्रान्तिकारी निराला उस विरोध से विचलित नहीं हुए और 'स्वच्छन्दाः कवयः' के अनुसार स्वच्छन्द रूप से कविता-कुमारी की उपासना में लगे रहे । अब तक जो कविताएँ लिखी थी, उनका एक संग्रह 'भ्रनामिका' नाम से महादेव बाबू ने प्रकाशित किया । तदनन्तर 'परिमल' नाम का एक संग्रह प्रकाशित हुआ, जिसमें भ्रनामिका की अच्छी कविताएँ ले ली गईं और अधूरी छोड़ दी गईं । प्रागे भ्रनामिका का द्वितीय संस्करण निकला, जिसमें बड़ा परिवर्तन कर दिया गया ।

ये साहित्यिक क्षेत्र में एक क्रान्ति ला देना चाहते थे भ्रतः केवल छन्द के विषय में ही थे स्वच्छन्द न थे, भावों में भी क्रान्ति के पक्षपाती थे । इन्होंने सामाजिक क्षेत्र में दूसरों के कर्णों पर बन्दूक रखकर नहीं चलाई, जो भी मुधार चाहा उसे पहले अपने यहाँ से ही प्रारम्भ किया । 'पर-उपदेश मुगल बहुतेरे' के अनुसार लोग दूसरों को उपदेश तो करते हैं परन्तु स्वयं उस पर नहीं चलते । निराला जी में यह बात नहीं थी । जब इन्होंने अपने पुत्र का विवाह किया तो एक स्यान से पर्याप्त दहेज का वचन दिए जाने पर भी एक निर्धन परिवार में किया और इसी प्रकार अपनी कन्या का विवाह भी किसी धूमधाम से न कर केवल कुछ इष्ट-मित्रों के बीच एक योग्य वर के माथ कर दिया ।

इन्होंने 'मतवाला' का सम्पादन दो-ढाई वर्ष तक किया । पुत्र अपने जामाता शिवशेखर द्विवेदी के प्रबन्धकत्व में निकलने वाले 'रंगीला' नामक पत्र का सम्पादन-कार्य संभाला परन्तु अस्वस्थतावश गलबत्ते से बासी चले प्राये । यह घटना सन् १९२७ की है । दो वर्ष तक ये अस्वस्थ रहे । इसी बीच इन्होंने 'गंगा-पुस्तकमाला' का सम्पादन अपने हाथों में ले लिया । इसी कार्यालय से 'मुषा' नामक पत्रिका निकलती थी, जिसका सम्पादन ये ही करते थे ।

उपरिलिखित विवेचन से ज्ञात होता है कि निराला जी को लगभग आठ वर्षों में चार पत्रों का सम्पादन करना पड़ा । समस्तः आर्थिक संकट ही इसमें कारण था । प्रायः कभी और व्यय का भार इन्हें इसके लिए बाध्य करता था । ये जो कुछ भी लिखते थे, वह धनोत्पादन के लिए ही । इस काल में इन्होंने बहानी-संग्रह 'निली', 'चतुरी चमार', 'मुगुल की बीबी' और 'सखी' एवं 'भयारा', 'भयवा', 'प्रभावती', 'निशगमा' ये चार उपन्यास लिखे । प्रागे चल कर इन्होंने दो उपन्यास और लिखे—'बाने कारनामे' और 'चोरी की पकड़' । ये सभी आजीविका के लिये ही लिखे थे भ्रतः इनमें जनसाधारण की रुचि का

विशेष ध्यान रखा गया है। इसी लिए इन पुस्तकों में नाट्य एवं भौतिकवातिक कला का प्रदर्शन उच्च कोटि का नहीं है और साधारण रचि की होने के कारण साधारण कोटि की ही रह गई है। 'प्रबन्ध-संग्रह' नामक निबन्ध-संग्रह इसी काल में लिखा गया था।

निराला जी की विफट धार्मिक परिस्थिति का प्रभाव उनके कदा-साहित्य पर ही पड़ा, कविता के क्षेत्र पर उसके चरण न पड़ सके इसलिये इन की कविता में इनका सच्चा आत्म-दर्शन मिलता है। 'गीतिका' इनकी ऐसी ही काव्य-रचनाओं में से है, जिनमें मुक्त छन्द में भावों का प्रकाशन हुआ है। नाम से ही विदित होता है कि यह एक गीति-संग्रह है, जिनमें प्रायः परम्परागत शैति नहीं हैं तथापि मगीत का पूरा-पूरा बंधन है।

गीतिका के पश्चात् उनकी रचनाओं में निवार आया और तपे हुए हृदय ने वे भी खरी निबन्धों। 'राम की शक्ति पूजा', 'सरोज-स्मृति' और 'तुलसीदास' आदि ऐसी ही इनकी शीघ्र रचनाएँ हैं।

तदनन्तर हम इनकी रचनाओं में एक मोड़ देखते हैं। देश में राजनैतिक आन्दोलन प्रबल हो रहा था अतः राजनैतिक नेताओं का अत्यधिक सम्मान होता था। इनसे उनमें घनिष्ठता की मात्रा बधित हो गई थी और वे साहित्यिक व्यक्तियों को तनिक भी मूल्य नहीं देते थे और न हिन्दी का विशेष महत्व स्वीकार करते थे। यहाँ तक कि महात्मा गांधी भी हिन्दी के साहित्य एवं साहित्यकारों को सम्मान की दृष्टि में नहीं देखते थे। साहित्य-सम्मेलनों में भी श्रेष्ठ साहित्य-कारों की अपेक्षा राजनैतिक नेताओं को ही विशेष महत्व दिया जाता था। यह बात निराला जी को विशेष असह्य थी। इन्होंने फैजाबाद के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन में भी इसका घोरतम विरोध किया। 'प्रबन्ध-प्रतिभा' नामक निबन्ध-संग्रह में इन्होंने ऐसे प्रश्नों को बड़े व्यंग्यात्मक ढंग से लिखा है। तदनन्तर इन्होंने अनेक निबन्ध एवं व्यंग्यात्मक रचनाएँ लिखीं, जिनमें ऐसे व्यक्तियों पर टाने बने गये थे। 'कुतुरमुत्ता', 'गर्भ पकौड़ी', 'विन्सेनुर बकरिया' आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं तथा 'बाहुक' नामक निबन्ध-संग्रह भी ऐसी ही कृति है।

—इन उपर्युक्त कृतियों के प्रतिष्ठित इन्होंने बंकिम-चन्द्र के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया तथा रामचन्द्र एवं विवेकानन्द के व्याख्यानों का सम्पादन किया और अनेक रस-घनधार एवं कानून सम्बन्धी स्टुट ग्रन्थ लिखे। रामायण की टीका भी इन्होंने की। एक 'समाज और अनुष्ठान' नामक नाटक भी लिखा जो प्रकाशित न हो सका।

निराला जी का जीवन संघर्षात् से ही संकटपूर्ण रहा। इष्टयनों के

वियोग, परिवार के विनाश, सहयोग के अभाव और जीविकोपार्जन में बाधाओं ने इन्हें उद्विग्न बना दिया। इनमें शुष्कता बढ़ती गई, जिससे इनका हृदय दार्शनिक होता गया। प्रकाशको ने इन्हें समुचित प्रतिदान न दिया। नौकरी के वे विरोधी थे परन्तु करनी पड़ती थी तथा निम्न स्तर की रचनाएँ इनका उच्च दार्शनिक कवि-हृदय सह न सकता था पर लिखनी पड़ती थी। इन सब बातों ने साहित्यिक-मय के गामी निराला को विजित भ्रान्त पथिक की भाँति बना दिया जिसके परिणाम-स्वरूप इन्हें अपना जीवन निष्फल सा दीख पड़ा। इस समय की रचनाओं में ये भाव स्पष्ट प्रकृत हैं। 'अणिमा' में सप्रहीत कविताओं में विपाद की रेखा हमें दृष्टिगोचर होती है। गजल और कजलियों के सग्रह 'बेला' और 'नाए पत्ते' भी उनकी इस मानसिक स्थिति की व्यक्त करते हैं।

इस साहित्य-संज्ञन के पर्यालोचन से हमें विदित होता है कि निराला जो ने कविता के साथ-साथ उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध और आलोचना सभी कुछ लिखा परन्तु वास्तव में वे कवि ही थे। न वे उपन्यासकार बन सके और न कहानीकार, न नाटककार प्रसिद्ध हुए और न निबन्धकार, वे केवल कवि ही बन सके और कवि रूप में ही विख्यात हुए।

क व्यक्त विचार-धारा—

निराला हम युग के एक क्रान्तिप्रिय छायावादी कवि हैं। उन्हें कभी भी काव्य में छन्द, कल्पना एवं भावाभिव्यक्ति का तथा समाज में परम्परागत प्रथाओं का बन्धन मह्य नहीं हुआ है। शोध से ही विषय पारिवारिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों से वेष्टित होने के कारण युवावस्था में ही वे जरूरी दार्शनिक की भाँति हृदय से शुष्कप्राय हो गये थे। हृदय को सरस और तरल रखने वाली वामाङ्गी वाम विधाता ने छीन ली थी अतः अर्द्ध-प्रसिद्ध की भाँति उनकी साधना में सदैव स्वच्छन्दता रही। यही कारण है कि सामाजिक और साहित्यिक दोनों ही क्षेत्रों में वे क्रान्तिप्रिय रहे।

काव्य में उनकी मूल स्वच्छन्दता हमें छन्द के विषय में सील पड़ती है। उन्होंने हम अग्रह से सहमत न होकर कि कविता के लिए मात्रिक या वणिक छन्द निरान्त आवश्यक है, स्वच्छन्द एवं मुक्त छन्दों का प्रयोग किया। स्वच्छन्द छन्द से तात्पर्य उन मात्रा-वृत्तों से है, जिनके पदों में भावाभिव्यक्ति के अनुसार मात्राओं का न्यूनार्थिक रूप में घटन होता है और मुक्त-छन्द से अभिप्राय उन वर्णवृत्तों से है, जिनके चरणों में मात्राओं की पूर्ण स्वतन्त्रता है। स्वच्छन्द और मुक्त छन्दों में हम अग्रह पर एक स्पून भेद यह भी होता है कि स्वच्छन्द छन्द गेय होते हैं और मुक्त छन्दों में यह गेयता अनिवार्य नहीं है।

यदि हम संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी के साहित्य पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि उनमें पिगल का विशेष अभिनिवेश है। गीतिकाव्य में संगीत की अनेक राग-रागिनियों का भी आग्रह रहा है। संस्कृत में जयदेव का गीतगोविन्द और हिन्दी में विद्यापति की पदावली तथा सूर-तुलसी आदि के पद ऐसे ही संगीतमय काव्य हैं। मद्यपि पदों में मात्रा-वर्णों की अपेक्षा सुर-ताल का विशेष ध्यान रहता है तथापि उनमें मात्रा-वर्णों का दीर्घ व्यतिक्रम एवं अभिचार नहीं रहना। इससे पूर्व वैदिक साहित्य में भी छन्द का महत्व माना गया है क्योंकि छन्द को वेद के उपाङ्गों में गिना गया है। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने तो 'छन्दम्' शब्द से वेद ही अर्थ लिया है, यथा—

'छन्दसि पुनर्वैश्वोरेकवचनम्', 'छन्दसि परेऽपि' इत्यादि।

हाँ, यजुर्वेद में कहीं-कहीं छन्द का महत्व दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि अनेक ऋचाओं में छन्द-विभिन्नता है और मात्रा एवं वर्णों का भेद भी अधिक है, यथा—

सपर्यगाच्छुक्रमकायमन्नमस्नाविरशुशुद्धमरापविद्धम्।

कविमंतीषी परिभूः स्वयम्भूर्पायातप्यतोऽर्षान् व्यदधाच्छा-

द्वतीम्यः समाम्यः ॥

सम्भवतः यह वैदिक साहित्य में पद्य की ओर प्रगति का पूर्व रूप है, जिसका सुस्पष्ट रूप हमें उपनिषदों में मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक मसृष्ट एवं हिन्दी साहित्य में छन्द का विशेष माहात्म्य रहने हुए भी कुछ सीमा तक अतिक्रम रहा है।

काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद करके छन्दोयुक्त रचना के प्रतिरिक्त भाष्यायिका एवं नाटक आदि को भी काव्यान्तर्गत ही परिगणित किया गया है अतः निर्दोष, सगुण एवं सालकार चमत्कारोत्सादक रमात्मक वाच्यों से पूर्ण गद्य भी काव्य माना गया है। इस दृष्टि से काव्य और कविता में इतना अन्तर है कि कविता कवि की वह संगीतमय एवं छन्दोयुक्त कृति है जो काव्य के व्यापक क्षेत्र में केवल मुक्तक एवं प्रबन्ध-विभाग में अन्तर्निहित होती है। भाषाभिव्यक्ति में यह विज्ञानत्रय हमें उत्तरोत्तर स्वतन्त्रता का परिचय देना है।

गमार के अनेक विद्वान् इसीलिए भाषाभिव्यञ्जना के लिए छन्दबद्धता को श्रुतान्ता मानते हैं और कविता के लिए पिगल ही नहीं संगीत को भी पूर्णतः अनिवार्य नहीं मानते। अमेरिका के प्रसिद्ध कवि वान्ट द्विटमैन ने ऐसी ही अपनी प्रथम रचना 'लीव्ज ऑफ् ग्राम' (पास की पतियाँ) सन् १८५५ में प्रकाशित की। मद्यपि वहाँ के लोगों ने उसकी ऐसी रचनाओं को विशेष महत्व

नहीं दिया, जिनमें छन्द एवं तुक की व्यवस्था नहीं थी, तथापि यह प्रथा बल पकड़ती गई और सन्तः सन्तः पाश्चात्य देशों में इसका प्रचार हो गया। वहाँ के कलाकारों ने बन्धान्धन पर चढ़ा कर कविता के अनेक ढंग निकाले, जिनका अनुकरण भारत में सर्वप्रथम बंगाल में हुआ और जो वहाँ से हिन्दी में प्रचलित हुए। इसके प्रतिरिक्त वस्तुविधान और भावाभिव्यञ्जना की भी अनेक सरणियाँ प्रसारित हुईं। बँगला के अग्रिम छन्द के आधार पर जयशंकरप्रसाद, रूपनारायण पाण्डेय और मैथिलीशरण गुप्त ने भी ऐसे छन्दों का प्रयोग किया। परन्तु छायावादी कवियों ने इनमें और भी परिवर्तन किए। पन्त और निराला ने तो भावों के अनुकूल मात्राओं का न्यूनाधिक चयन यथेष्ट माना में किया है और निराला तो इस विषय में निराले ही हैं क्योंकि उनके मुक्त छन्द एवं स्वच्छन्द छन्द पर्याप्त विरोध एवं विवाद के विषय रहे हैं।

‘परिमल’ की भूमिका में निराला जी ने लिखा है “मनुष्यों की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छन्दों के शासन से भ्रमण हो जाना।”

ऐसी कविता को वे मानव के लिए कल्याण का मूल मानते हैं—“मुक्ति काव्य कभी साहित्य के लिये अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उसमें साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।”

वे वेदों में भी इन प्रवृत्ति को देखते हैं और अपने भ्रान्तियों से कहते हैं कि जब वेदों में भी स्वयं परमात्मा खड-छन्द और कंचुआ-छन्द लिख सकते हैं तो मैंने कौनसा अपराध कर डाला।

वास्तव में निराला जी इस प्रवृत्ति को बड़ी श्रेयस्कर मानते हैं। ‘प्रनामिका’ की कविता ‘प्रगल्भ-प्रेम’ में उन्होंने लिखा है—

भात्र नहीं है मुझे और कुछ चाह
अर्थ विक्रम इस हृदय-कमल में धातु
प्रिये, छोड़कर बन्धनमय छन्दों की छोटी राह।
गङ्गामिनि, वह पथ तेरा संकीर्ण कंठकाशीर्ण
कंठे होमी उतते पार।

इस प्रकार निराला जी ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए बन्धन-हीन मार्ग को ही अपनाया। इनकी रचनाओं में हम इनके विचारों को अनेक रूप में व्यक्त हुआ देखते हैं। कुछ रचनाएँ छायावाद और रहस्यवाद की हैं, कुछ सामाजिक हैं, कुछ राष्ट्र-हित सम्बन्धी हैं, कुछ शृंगार की हैं, कुछ प्रकृति

से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ में शुभ कामताएँ हैं। इनके प्रतिरिक्त कुछ रचनाएँ व्यंग्यात्मक भी हैं।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में कवि का सिद्धान्त प्रकृत ही है, जैसा कि निम्न पद्यांशों से प्रतीत होगा—

तुम तुंग हिमालय-शृंग और मैं चंचल-गति सुर-सरिता ।

तुम विमल हृदय-उच्छ्वास और मैं कान्त-कामिनी-कविता ।

तुम प्रेम और मैं शान्ति,

तुम सुरा-गान-घन अन्धकार, मैं हूँ भतवाली भ्रान्ति ।

[तुम और मैं—परिमल]

भाग्य चलकर इसी पुस्तक के द्वितीय खण्ड में 'कणु' नामक कविता में इस ऐश्वर्य की भावना को हम रहस्यात्मक ढंग से व्यक्त हुआ देखने हैं—

तुम हो अलिल विद्य में

या अलिल विद्य है तुममें,

अथवा अलिल विद्य तुम एक

अथवा देव रहा हूँ तुम में भेद अनेक ?

रहस्यात्मक कविताओं के प्रतिरिक्त निराला जी ने सामाजिक विषयों पर भी लेखनी चलाई है। भारत में विधवा की दुरवस्था प्रारम्भ से ही रही है। यह भूक प्राणी भारतीय गृह-कारागारों में कितने उन्माहने-नाने सहता है, अज्ञान-वस्तुनादि की कितनी कवियों का अनुभव करता है तथा कितनी पत्रणाएँ भेजता है और यह भी साथी से हीन एकाकी, पर इन्से बोन देखता है। निराला जी ने उसकी दिव्य-मूर्ति और पून प्रकृति को देखा और अपनी अद्भुत शक्ति इन शब्दों में दी—

यह दृष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,

यह बीष-सिखा सी शान्त, भाव में सौन,

यह पूर काल-ताण्ड्य की स्मृति-रेखा सी,

यह दूरे तट की छुड़ी लता-सी बीन—

बलित भारत की ही विषदा है ।

यद् ऋतुओं का शृंगार,

धुम्रमित जानन में मोरव-यद-संवार,

अमर कल्पना में स्वयन्द जितार—

व्यथा की भूली हुई क्या है,

उत्तमा एक स्वप्न अथवा है ।

[विषदा—परिमल]

कितना सामिक चित्रण है। अन्तिम दो पंक्तियाँ तो तथ्य को साकार बना रही हैं। वह (विधवा) व्यथा की भी भूली हुई कथा है अथवा उसका एक स्वप्न है। उसकी जीवन-पथ की निस्तब्ध यात्रा का कैसा कारण चित्र है, कैसा गम्भीर किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण है।

इसी प्रकार एक भिक्षुक का चित्र भी हमें 'परिमल' में देखने को मिलता है—

वह आता—

दो टुक कलेजे के करता पछताता पप पर आता।

पेट पोठ दोनों मिलकर हैं एक,

खल रहा लकुटिया टेक,

भूट्टी भर दाने को—भूल मिटाने को

मुँह फटी पुरानी भोली का कंलाता

दो टुक कलेजे के करता पछताता पप पर आता।

निराला जी के इन सामाजिक चित्रों में हम एक विशेषता देखते हैं कि उनमें केवल स्वभावोक्तिरथा ही नहीं और न बाह्य वास्तव ही है वरन् उनमें भावाभिव्यक्ति की एक विलक्षण शैली की योजना है जिसके द्वारा चित्रण नवीन उद्भावनाओं से दिग्ध तरंगों में नहराना दीखता है। दार्शनिकता का पुट इन चित्रों में भी स्पष्ट है।

परापीत देश की व्यथा भी निराला जी को सदा व्यक्त करती रही है। भूत-भावनाओं को दृढ़ता प्रखरता और भ्रोजस्वी बाणों में रखने वाले विरले ही कवि हुए हैं। देशवासियों को जगाते हुए उन्होंने एक बार लिखा था—

जाओ फिर एक बार !

पगु नहीं, योट तुम,

समर-दूर, फूर नहीं,

जान-घर में ही बने

भ्राज तुम राजकुंवर ! समर-सरताज !

पर, गया है,

सब माया है—माया है,

मूक हो सदा ही तुम,

घापा-विहीन-उन्मत्त ज्यों,

इधे ध्यानद में सच्चिदानन्द-रूप ।

मन्त्र ऋषियों का
 एमों-परमाणुओं में फूँका हुआ—
 'तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्
 है नश्वर यह दीन भाव,
 कायरता, कामपरता
 ब्रह्म हो तुम,
 पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार—"
 जागो फिर एक बार !

[परिमल]

निराला जी नवीनता के पक्षपाती तो हैं ही घतः वे सदा सर्वत्र नूतनता ही चाहते हैं । भारत की परतन्त्रता का अन्त भी वे इसीलिए चाहते हैं कि यह नूतनता का अन्त कर देती है और कलुषना साकर मनुष्य को पीछे की ओर धसीटती है । वे 'गीतिका' में मरसकती से भारत की स्वतन्त्रता के साथ नवता का ही वरदान माँगते हैं—

वर दे, बीणावादिनि ! वर दे ।
 प्रिय स्वतन्त्र रय अमृत मन्त्र नव
 भारत में भर दे ।
 कलुष-भेद-सम हर प्रकाश भर
 जगमग जग रु-र दे ।
 नव गति, नव लय, तात दन्ध नव,
 नवस कण्ठ, नव जलद मन्त्र रय,
 नव नभ के नव विहंग-युन्द को
 नव पर नव स्वर दे ।

संसार में बहुत कम ही कवि होंगे जिन्होंने प्रकृति का चित्रण न किया हो । कवि को अपिहोग साधन प्रकृति से ही मिलते हैं घतः वह समझो घोर घाट्ट हूए बिना रह नहीं सरता । विरक्त कवि की रहस्य-गुरिषयों भी प्रकृति में ही गुलती हैं घोर शृंगारी कवि की उद्दोषन सामग्रियों भी प्रकृति ही देती है । निराला जी प्रकृति से दार्शनिक हैं घतः उन्होंने प्रकृति का विनोचन, विचित्र नहीं किया किन्तु जहाँ भी किया है वे चित्र बड़े गुन्दर घन पड़े हैं । गंध्यागुन्दरी का एक मधुरतम चित्र देसिए—

दिव्यावसान का समय
 मेघमय आगमन से उतर रही है

बह सगंधा-मुन्दरी परी सी
 धीरे धीरे धीरे,
 निमिराङ्गल में घंचलता का नहीं कहीं आभास,
 मधुर मधुर हूँ दोनों उसके अघर,
 किन्तु गम्भीर, नहीं है उनमें हास-विलास ।
 होंसता है तो केवल तारा एक
 गुंथा हुआ उन घुंघराले काले काले बालों में,
 हृदय-राज्य की रानी का बह करता है अभिषेक ।

[परिमल]

गीतिका में भी इन्होंने सगंधा का एक कोमल चित्र खींचा है ।

प्रकृति-चित्रण में भी कवि अपने दर्शन-प्रेम को नहीं त्याग सका है ।
 उपर्युक्त सध्या-मुन्दरी के मधुर रूपारुन में बढ़ती निस्तब्धता में गम्भीरता की कौसी
 मुन्दर अभिव्यजना है । 'वामन्ती', 'तरंगो के प्रति', एवं 'जलद के प्रति' आदि
 कविताओं में एक रहस्यात्मकतापूर्ण नवीनता की चाहना का हमें आभास मिलता
 है । चमत् से कवि विनय करता है—

प्रिय, नील-गगन-सागर-तिर,
 चिर, काट तिमिर के वधन,
 उतरो जग में, उतरो फिर,
 भरदो, पग पग नव स्पन्दन ।

[वामन्ती—परिमल]

इसी प्रकार तरंगो से पूछता हुआ कवि हमें एक रहस्य की खोज में
 लीन-सा दृष्टिगोचर होना है—

किस धनन्त का मोना घंचल हिला-हिला कर
 घाती हो तुम सजी मण्डलाकार ?
 एक रागिनी में घपना स्वर मिला-मिनाकर
 पाती हो ये कौंसे पीत उदार ?

[तरंगो के प्रति—परिमल]

नूनन जलद को 'जीवनद' ही मान कर सर्वत्र नूननता का ही संचार
 उन्हें दीग पड़ता है—

जलद नहीं,—जीवनद, मिलाया
 जबकि जगज्जीवनमून को

तपन-ताप सन्तप्त तृषातुर
 तदण-तमाल-तलाधिन को ।
 पय-पीमूष-पूर्ण पानी से
 भरा प्रीति का प्याला है ।
 नव वन, नव जन, नव तन, नव मन,
 नव धन ! न्याय निराला है ॥

उपरिलिखित उद्धरणों में हमें विदित होना है कि निराला जी प्रधानतः एक विचारक एवं चिन्तनशील कवि है, जिनकी वात-दान में गाम्भीर्य है, नवीन कल्पनाएँ हैं और नूतन उद्भावनाएँ हैं । परन्तु इन विरक्त कवि के हृदय में भी हम एक सरस कोना देखते हैं जहाँ से प्रमदप्रमद मधुर और सरस पत्तियाँ निष्पन्न हुई हैं । सामान्यतः निराला जी को शृंगार प्रिय नहीं परन्तु वहीं भी शृंगारिक प्रसंग आया है, वहाँ उक्तियाँ अत्यधिक मधुर हो गई हैं । 'पञ्चरटी-प्रसंग' में वर्णित शूर्पंगुष्ठा के नव-गन्ध का मोन्दयं दग्नीय है—

हारे हूँ सारे नेत्र नेत्रों को हेर हेर,
 विश्वभर को मदोग्मत करने की मादकता
 भरी है विषाणा ने इन्हीं दोनों नेत्रों में ।
 मोन-मद फीमने की बंगी-सी विचित्र नासा—
 फूलदल तुन्य कीमल सात ये करोत मोन,
 चिबुक चाट और होंसी विजली पी,
 योजन-गन्ध-युक्त जैसा प्यारा यह मुख-मण्डल—
 फँसते पराग विडम्बन्ध छापीदित कर—
 लिख जाने भीरे प्यारे ।
 बेश यह करोत-बँठ—
 आहुबल्ली कर-सरोज—
 उल्लस उरोज पीन, क्षीरा बटि
 नितम्ब-भार चरण मुहुमर
 ग नि मन्त्र मन्त्र,
 छूट जाना धैर्य ऋषि-मुनियों का,
 बेवो—भोगियों की तो बात ही निराली है ।

[परिमन]

एक नव-गन्ध-वर्णन में हम प्राचीन परम्परा का अनुसरण नहीं देखते—
 नातिहा की मीन पीमने बनी और कुम्भमण्डल की योजन दग्ध के पुत्र

कह कर नितान्त नवीन उपमाएँ प्रस्तुत की गई हैं ।

नामिका के अनुभावो और संचारी भावो का एक बल-चित्र भी कितना मनोरम है—

सुम्बन अकित चतुदिक अंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुत-दल,
कभी हाथ, फिर आस, साँस बन
उर सरिता उमगी ।

[गीतिका]

शृ गार और शान्त दोनो रस धूप-छाया की भाँति विफट्ट होते हैं अतः हम इन शृ गारिक वर्णनो में दार्शनिकता का पुट नहीं देखते ।

निराला जी ने कुछ व्यंग्य-काव्य भी लिखे । समाज में नामधारी पूँजीपति, नेता एव धर्मपुत्र उन्हें खलते थे, जिनसे उनमें प्रतिक्रिया हुई । उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने ये व्यंग्य-चित्र खीचे । 'कुकुर-मुत्ता' और 'गर्म-पकौड़ी' ऐसी ही कविताएँ हैं । एक नवाब साहब के झाराम में एक फारसी मुन्सर गुलाब के प्रति एक कुकुरमुत्ते की उक्ति (अभ्योक्ति) में पूँजीपतियो के प्रति कितना व्यंग्य है—

अबे, सुन बे गुलाब,
भूल मत गर पाई गुलाबू, रंगोघ्राय,
खून घूसा खाब का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कँपिटलिट ।

[अन्वामिदी]

आगे इसी कविता में उसे 'हरामी' कह कर अपनी घृणा भी प्रदर्शित की है । इस प्रकार हम उनमें साम्यवादी भावना भी देखते हैं । साम्यवादी भावना से युक्त होने हुए भी निराला जी ने 'मारकी हावगाग्द' नामक कविता में अमूर्त ज्ञान से युक्त साम्यवादियों का उपहास किया है, जिसमें उनकी मणपेवादिना पर प्रकाश पड़ता है ।

विद्यमानाद्यो से भरा हुआ निराला जी का जीवन जब पर्याप्त तप चुका तो उनमें विवाह ने आसन जमाना प्रारम्भ किया । अब उनकी शैक्षिक अभिवृत्ति शिथिल हो गई और मालम-भटन घूमिल होने लगा । इस समय के उद्गार विवाद की मुद्रा में अंकित है । देखिए जीवन-यात्रा में बर्ते हुए निराला-पथिक की निम्न उक्ति कितनी जातार है—

कुल २५०

मैं भ्रमेला,
 देखता हूँ, या रही
 मेरे दिव्य की सान्ध्य वेला ।
 पके धाये बाल मेरे,
 हुए निग्रम गाल मेरे
 बाल मेरी मन्द होनी जा रही
 हट रहा भेला ।

निराला जी ने कुछ पारसी डग पर गजल एव कवितियाँ भी लिखीं जिनमें 'वेला' और 'नए पत्ते' में संग्रहीत हैं। इनमें सामयिक विषयों पर बड़ी सीधी घुटकियाँ ली गई हैं। एक विनोदपूर्ण पद्यांश देखिए—

भ्रंद पासपोर्ट की, नहीं तो कभी,
 देश प्राधा ज्ञातो हो गया होता,
 देविकारानी और उदयशंकर के
 पोछे लगे लोग चले गए होते ।

[खुदागवरी—नए पत्ते]

निराला जी ने प्रायः सभी रचनाएँ मुक्त ही लिखीं परन्तु कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जिनमें प्रबन्धात्मकता है। 'राम की शक्ति पूजा' का कथानक प्रबन्धात्मक ही है। इसमें पौराणिक कथा को भलीबिधता से दूर रखकर मनो-विज्ञान के साँचे में ढाला गया है। योगी-भाषना का प्रभाव इस पर स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है क्योंकि शक्ति-पूजा में दत्तचित्त राम भी योगियों की भाँति मनसा चर्मों को पार करते हुए सट्ट्यार में पहुँचते हैं। 'सरोज की स्मृति' एक प्रबन्ध गीति है, जिसमें अपनी दिवंगत पुत्री सरोज की स्मृति में कवि ने झामू बहाये हैं। निराला जी ने उसे आधिक संकट होने पर भी अपने प्राणों के रग से पालित किया होगा, दुलार की मृदुल छाया की हीणी परन्तु फिर भी निधनो-परान्त उन्हें अतीत के दिवस याद आए और निगा—

अस्तु मैं उपार्जन को अक्षय,
 कर नहीं सका पोषण उत्तम ।

इन शब्दों में मातृहीन पुत्रों के प्रति ममता का कँसा उभार है और है कँसी विवशता !

पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर निराला का रोम-रोम रो पड़ा और बोले—

कुल ही जीवन की कथा रही,
 क्या कहूँ आज जो नहीं बही ।

सारा जीवन दुखी ही रहा परन्तु उम मनस्वी ने कभी किमी से न कहा । इनका प्रबन्धकारक प्रौढ काव्य है 'तुलसीदास' । यह भी गेय है । इसका कथानक किंवदन्ती के आधार पर ही आधारित है । इसके प्रारम्भ में मुस्लिम शासन से नष्टप्राय हुई संस्कृति का वर्णन है, पुनः तुलसीदास की चित्रकूट यात्रा है, जिसमें वे प्रकृति से भारत में जाग्रति लाने का पाठ सीखते हैं, परन्तु इसमें कृतकृत्य नहीं होते हैं और तदनन्तर वही स्त्री का पितृगृह जाने का प्रतिष्ठ प्रसंग है, जिसमें इन्हे श्वशुराल पहुँचने पर भर्त्सना मिलती है और जो इनके अध्यात्मोन्नति का कारण बनती है ।

इस प्रबन्ध-काव्य में एक कथानक होते हुए भी चिन्तन का प्रभाव स्पष्ट वीर्य पड़ता है । काव्य के प्रारम्भ में ही मुसलमानों के अत्याचार से हुई देश की दुर्दशा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है—

भारत के नरोंका प्रभासूर्य
 शीतलच्छाया सांस्कृतिक सूर्य
 अस्तमित आज ऐ-तयस्तूर्य दिग्मंडल
 उर के धागन पर शिरस्त्राण
 शासन करते हैं मुसलमान ;
 है उमिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतबल ।

भारतीय संस्कृति का सूर्य मुसलमानों के शासन में अस्त हो गया । गमस्त देश इस शासन के भार से कराह रहा था । एक दिन जब तुलसीदास अपने मित्रों के साथ चित्रकूट पहुँचते हैं तो वहाँ भी प्रकृति में देश की दुर्दशा और संस्कृति के विनाश की स्मृति हो जाती है । देश को जगाने के लिए उन्हें प्रेरणा मिलती है और वे सकल्य करते हैं—

करना होगा यह तिमिर पार,
 देखना सत्य का निहिर द्वार,
 बहना जीवन के प्रलर ज्वार में निरवय ।

परन्तु उभी समय उन्हें अपनी प्रिया रत्नावली की छवि दीप्त पड़ी । जो प्रकृति आत्म-बोध दे रही थी, वही अब उद्दीपन का कार्य करने लगी । उन्नत विचारों के जन्म धन में विचरता हुआ मनस्वी हम पृथ्वी की हरियाली में घा गिरा । दार्द-दाने. सारी प्रकृति प्रियारूप में ही दीप्तने लगी, प्रकृति का सारा शौन्दर्य उभी का शौन्दर्य दीप्त पड़ा, वही मुक्ति का साधन आगित हुई और साधन बनने की मूलमूल रति मण्डल गुन का सार जान पड़ी—

बन्ध के बिना, वह कहीं प्रगति ?

गतिहीन जीव को कहीं सुरति ?

रति रहित कहीं सुख ? केवल क्षति केवल क्षति ।

वे अनेक तर्कों से इसे सिद्ध करते हैं। वे घर लौट आते हैं और प्रिया के प्रेम में मग्न हो जाते हैं। एक दिन रत्नावली भाई के साथ मायके चली जाती है। तुलसीदास भी वहीं पहुँचते हैं, लोग उपहास करते हैं जिससे व्यथित हो रत्नावली रात्रि के समय इन्हे धिक्कारती है—

धिक् ! घाए तुम यों अनाहूत,

घो दिया धेँठ फुलधर्म घूत,

राम के नहीं काम के सूत कहलाए ।

हो बिके जहाँ तुम दिना दाम,

यह नहीं और कुछ हाड़, चाम,

कँती शिक्षा, कँसे तिराम पर भाए !

इन वाग्-बाणों से विद्ध हो तुलसीदास की मोह-निद्रा टूट गई, उन्हें एक चपेट-भी लगी और वे पुनः धरातल से स्वर्ग की उन्नत भूमि का स्पर्श करने लगे ।

इस प्रकार इस काव्य में बाह्य-कथा के साथ तुलसीदास के मानसिक जगत् का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। भारत की दुरवस्था सर्वप्रथम उन्हें जाग्रत करती है, पुनः प्रकृति के रम्य-चित्रकूट की पावन छटा उनके हृदय में गूत भावनाएँ उद्भूत करती है तदनन्तर वही प्रकृति प्रियास्वर हो रति की जगाती है किन्तु साथ ही विराट् और मुक्ति का स्मरण कराती है। पुनः प्रियतमा का एक ही कसा यत्न ऊर्ध्वगमन का कारण होता है। भारतीय दर्शन के अनुसार विरति ही आत्मदर्शन का मूल कारण है। तुलसीदास की उत्तरोत्तर मानसिक प्रगति अन्त में विरति की सीमा तक पहुँच गई, तभी उन्हें आत्म-दर्शन हो गया। तुलसीदास की यह प्रगति बाह्य-दर्शन से आत्मदर्शन तक इन्द्रिय से मन और मन से आत्मा तक हुई है।

निराला जी का यह श्रेष्ठतम काव्य है, जिसमें उक्तियों की रम्यता, नवीन उद्भावनाओं की योजना और मानसिक जगत् की विरोध-विविधता उत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। भाषा की चिन्तना अवश्य हो गई है और कहीं-कहीं विचित्र सांश्लेषिक प्रयोग भी हैं परन्तु दार्शनिक कवि निराला की दृष्टि में यह दोष नहीं हो सकता क्योंकि चिन्तन-प्रधान विवेचन में गाम्भीर्य अनिवार्य हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से विदित होता है कि निराला जी की रचनाओं में मुख्यतः चिन्तन की प्रधानता और गूढ दार्शनिकता है। सामाजिक, साम्यवादी, राष्ट्र-सम्बन्धी, प्रकृति-विषयक, शृंगारिक एवं जीवन-दर्शन-सम्बन्धी आदि अनेक प्रकार की कविताएँ इन्होंने लिखी परन्तु उनमें भी भावों की उदात्तता, वर्णन में विलक्षण उद्भावनाएँ और चित्रण में अन्तर्जगत् के परातल का उन्नत स्पर्श अत्यन्त प्रशसनीय है। सर्वत्र इनकी सहानुभूति का गहरा रस तो मानो इनकी कृतियों के प्राण ही है।

काव्य-कला—

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि निराला जी की रचनाएँ स्वानुभूति की आधारशिला पर निर्मित हुई हैं। विषण्णता-जन्य दार्शनिकता सर्वत्र अस्पष्ट रूप से व्याप्त है। कवि बाह्य-पर्यवेक्षण से सहसा ऊपर उठता है और भावलोक को स्पर्श करता हुआ चेतना-जगत् की उम समतल भूमि पर पहुँचता है, जहाँ विषमता समता में लीन हो जाती है, बुद्धि हृदय को घातमगमपंण कर देती है और हृदय घातम-तत्व का अनुचर-सा दीख पड़ता है।

अमूर्त वस्तुओं का चित्रण भी वे सजीव-सा करते हैं। जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थों एवं विविध घटनाओं के चित्रण में नवीन उद्भावनाओं का योग इनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। इनकी श्रेष्ठतम नयन पर एक उद्भावना का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

मद-भरे ये नलिन नयन मलीन हैं;
अल्प-जल में या ज्वल लघु मोल हैं ?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी
बोत जाने पर हुए ये दीन हैं ?

नीचे तरंगो का एक पवन भाव-चित्र भी देखिए—

तेर निर्मित-तल भुज-मुरगान से सलिल काटती,
घापग में हो करती हो परिहाग,
हो मरौरती गना शिला का कभी डटती,
कभी दिखानो जगतीतल को प्राग,
गन्ध-मन्दगानि कभी पवन का मोन भंग उच्छ्वासा,
दाया-शीतल तट-तल में घा तरती कभी उदाता,
क्यों तुग भाव घडसती हो—
हंगनी हो, कर मसती हो ?

इस प्रकार सैकड़ों ही सुन्दर उद्भावनाओं में पूर्ण रम्य चित्र एवं वर्णन हमें इनकी रचनाओं में मिलते हैं ।

इनकी भाषा संस्कृत-बहुला एवं समास-प्रधान है । समस्त पदों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है, यथा—हरित-हृत्-मन्त्र-नव शृंगार, उत्तान-तरंगाघात-प्रलय-धन-गर्जन-जलधि प्रवन में, अन्ध-नम-भ्रम-अनर्गल-बादन आदि ।

कृद्य साक्षणिक प्रयोग भी इन्होंने किए हैं, जिनमें कहीं-कहीं दुरुहता भा गई है परन्तु पद्य की भाँति प्रचुरमात्रा में नहीं किए हैं ।

इनके गीतों में बन्धान की योजना बड़ी सुन्दर हुई है । गीतों में एक विराट् मात्र श्रुंषा रहता है । महादेवी की भाँति इन्होंने व्यष्टि को प्रधानता नहीं दी । मुक्त एवं स्वच्छन्द छन्दों में भी एक लय रहती है और उनमें भावों के अनुसार ही मात्रा एवं वर्णों की न्यूनधिक योजना हुई है ।

ये शान्तिकारी तो प्रारम्भ में ही ये अतः परम्परा के पक्षपाती नहीं रहे हैं । नवीन में नवीन और सुन्दर में सुन्दर उनमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा आदि अनन्वार हमें इनकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—

उपमा—

यह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
यह शेष-शिखा-सी शान्त भाव में सौम्य
यह क्रूर ज्ञान-नागदेव की स्मृति रेखा-सी
यह टूटे तट की छुटी सता-सी बोन—
दत्तन भारत की ही विषया है ।

× × ×

मोन-मद फाँसने की बँसी-सी विचित्र नामा
फुलदान लुब्ध कीमल साध ये बसोन् गोन,
विद्वष्ट आर और हँसी विद्वन्-सी
शोकन-अन्ध-दुग्ध जँवा ध्यारा यह सुप्त-मण्डन ।

श्लोक—

भारति, जय, विजय करे !
जनक दास्य बसन्धरे ।
संका परगत दास्यत
सजिनोमि सापर-जय
सोना दुर्बि करत दुग्ध
स्वयंकर बहु धर्म-भरे ।

हिन्दो के सर्वाचीन रत्न

तर-बूर बनलता-बसन
प्रबन्ध में ललित सुमन,
गंगा-प्योचिर्मंत - कण
धरत-धर-हार गले ।

उत्प्रेषा—
रून, प्रति अतुरति के भाए ।
रूट हरित पत्रों के उर से
स्वर-सप्तक धाए ।

उत्प्रेष—
तुम प्रेममयी के कण्ठहार,
मैं बेणी काल-नागिनी,
तुम कर-पल्लव-भंकृत तितार,
मैं श्याकुल विरह-रागिनी ।
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु,
तुम हो राधा के मनमोहन,
मैं उन मयारों की बेणु ।

१११५ -
श्लोक-श्लेष पुन-मुंघे किन्तु तो भी बन्धहीन
लहराते केस-जाल जलद-इयाम से क्या कभी
लपता कर सकी है
नीच सभ-तड़ितारिकाओं का चित्र ले
निष मरि चलती अभितारिका यह गोदावरी है ?
भाषा में कही-कही उर्दू-फारसी के शब्दों का व्यवहार भी इन्हीं प्रवृत्ति
का परिणाम है । मञ्जल घोर कजलियाँ फारसी ढग पर ही हैं जिनमें व्याप्य
शोर पुञ्जियों की घोषना बड़ी मनोरम है । 'बेला' में मुहावरों का प्रयोग भी
सूत्र बिया है । एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—
कितनी तत्प्रा में हो उताबले से
बुनियाँ ने मुँह बुराया सायास बायले से ।
राकी रचनाओं में प्रसाद गुण अपने उत्कृष्ट रूप में व्यवहृत हुआ है ।
इस भाषा पर्यालोचन के आधार पर हम इस परिणाम पर आते हैं
कि निराला जी का साधुनिक हिन्दी-साहित्य में एक निराला स्थान है । उनके
विचार अपने ही हैं तथा ऊर्जस्विता अनुपम है ।

सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी के प्रमुख छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म सं० १९५७ (१९००) में अल्मोड़े में ३२ मीन दूर बोगानी ग्राम में हुआ था। इनके पिता पं० गंगादत्त पन्त उस गाँव के चाय-बागों के प्रबन्धक और सक्की के बड़े व्यापारी थे। जन्मोपरान्त ही माँ से सदैव के लिये विदुक्त हो जाने पर वे मा की सुखद गोद का कोमल स्पर्श न पा सके अतः पीसव से ही इन्हें प्रट्टि-माना की शंका का भाव्य मिला और वह भी मुलभ।

इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अल्मोड़े के सरकारी हाई स्कूल में हुई। नवी कक्षा पास करके वे काशी चले गये और वहाँ जयनारायण हाई स्कूल से दसवी कक्षा पास की। पुनः म्युपर-गैट्टल कॉलेज, प्रयाग में प्रविष्ट हुए। सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। महात्मा गाँधी प्रयाग पधारे और उन्होंने एक भाषण दिया, जिसका प्रभाव पन्त जी पर अत्यधिक मात्रा में पड़ा और उन्होंने उच्च शिक्षा को समाप्त कर दिया। कॉलेज-परित्याग के अनन्तर भी तीन वर्ष पर्यन्त इन्होंने अंग्रेजी का अनवरत अध्ययन किया।

इन्हे कविता की प्रेरणा अपने भाई हरदत्त से प्राप्त हुई थी। प्रेरणा तो मिली परन्तु आत्मा में प्रमुक्त कवि-प्रतिभा की जागरण-वैता मुरम्भ प्रकृति के अञ्चल में ही प्रस्फुटित हुई। प्रकृति का सहज गौशय-भाग्य अपने यौवन में उनकी अधिषो के समझ अच्युताता था। गगनचुम्बी शैलशिखर श्वेत हिम-हीरक-शिरोपा पहने मगर्व वहाँ खड़े थे; झर-झर पत्थरव करने हुए उदित प्रसन्न भगिन् गति से पछाड़ आने हुए बहो घने जा रहे थे; रक्त-रित, पीत-पाटन एवं श्वेत-श्याम धादि विविध साज-सज्जा से सजी प्रकृति-रमणी मानो धग-धंग से मन्द-मन्द हँस रही थी, रोम-रोग से मुग्ध थी। प्रातः बालरवि अपनी स्वस्तिम किरणों से सर्वत्र केसर दिङ्क देना था, रात्रि की धमून का ताल बडोरा मुषा उडेल कर एक मोहिनी डाल देता था, बाली रागों में प्रकृतिगुण मानो निराचरो

के भय मे श्यामाम्बर में मुँह छिपाये निस्तब्ध पडी रहती थी और तारे यह सब कुछ देखकर मुस्कराते थे। ऐसी रम्य प्रकृति में विहग-विहंगियों को चबल केलि करते हुए हमारा किशोर कवि दान्त भाव से वही कही बैठा देखा करता था। प्रकृति के इसी मजुन, मधुरतम और सुकोमल रूप ने मातृहीन उसके निस्नेह हृदय में तरलता और पेशलता भर दी। उसका कवि-मानस कल्लोलित हो उठा और लेखनों के सम्पुट में भर कर भावों को साकार बनाने के लिए मचल पड़ा। पन्त जी ने स्वयं लिखा है—

“जब मेने पहले लिखना प्रारम्भ किया या तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियाँ तथा प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तु थी जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी × × ×।

मेरी प्रारम्भिक रचनायें ‘वीणा’ नामक संग्रह के रूप में प्रकाशित हुई हैं। इन रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धर कर चपल, मुखर नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। समस्त काव्य-पट प्राकृतिक सुन्दरता के धूप-झाँह में बुना हुआ है। चिड़ियाँ, भौरे, भिल्लियाँ, भरने, लहरें आदि जैसे मेरे बाल-कल्पना के छाया-वन में मिलकर वाद्य-तरंग बजाते रहे हैं।”

इस प्रकार प्रकृति से प्रभावित हो वे १५ वर्ष की अवस्था से ही कविता करने लगे थे। सन् १९१६ में इनकी पहली कविता ‘भल्मोड़ा-प्रसन्नवार’ में छपी थी। प्रारंभिक कवितायें ‘मिणरेट के धूपे’ और ‘कागज के कुमुम’ तक ही सीमित रही। १५ वर्ष की अवस्था में इन्होंने ‘हार’ नाम का उपन्यास भी लिखा था जो महत्वपूर्ण तो नहीं परन्तु बाल-प्रतिभा का परिचायक अवश्य था। इनकी सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कविता ‘स्वप्न’ थी, जिसने इनको ख्याति दी। इनकी प्रारंभिक रचनाएँ वीणा में संग्रहीत हुईं, जो प्रकृति से प्रभावित हैं। पन्त जी उपर्युक्त कथन से भागे लिखते हैं—

“प्रथम रश्मि का आना रंगिल, तूने कंठे पहचाना,
बहो बहो हे घाल विहंगिनि, पाया तूने यह गाना।”

अथवा

आओ तुहुमारि विहग बाले,
निज कोमल बसरप में भरकर अपने छवि के गीत मनोहर
कंसा आओ बन-वन, घर-घर, नाचे तूण तह पात।
आदि गीत आरम्भ ‘वीणा’ में मिलेंगे, जिनके भीतर से प्रकृति गाती है।

इन्होंने अध्ययन काल में बँगला भी पढ़ी। इनका अध्ययन विस्तृत होने लगा। हरिप्रिय जी का प्रियप्रवाम इन्हें छबिकर लगा, प्रसाद जी का 'भरना' भी पढ़ डाला। ग्रंथेजी के प्रकृति-प्रिय कवि कोट्टम और शैली का भी काव्य-दर्शन किया। ग्रंथेजी के काव्य का मनन उन्होंने शिवाधार पाठेय के सम्पर्क में धाकर किया था। इनकी रचना 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' की अधिकांश कविताएँ सन् १९१८ से १९२४ के बीच लिखी गईं। 'ग्रन्थि' का निर्माण सन् १९२० में कौमाली में हूषा और 'पल्लव' की रचनाएँ प्रायः प्रयाग में लिखी गईं। सन् १९२२ में 'उच्छ्रवाम' लिखा और अजमेर में उसका प्रकाशन हुआ। 'सरस्वती' के सम्पादक बक्षी ने इसको गण्डाडम्बर कहकर बहुत धालोपना की परन्तु इसी वर्ष उनकी 'बादल' कविता को सुनकर वे बड़े मुग्ध हुए और 'सरस्वती' में उनकी कविताओं को स्थान देने लगे।

यह कवि का वह जीवन-काल था जब हम उसे जीवन के गम्भीर रहस्य की ओर मुड़ता देखते हैं। उन्होंने देशी-विदेशी दर्शन-शास्त्रियों के ग्रंथों को पढ़ा, जिससे दुःखमय संसार का भयावह रूप उनकी छाँसों के सामने नाचने लगा। परन्तु सन् १९२४ में पूरनचन्द्र जोगी से सम्पर्क होने पर वे मात्रमवाद की ओर मुड़े। गांधीवाद उनमें घर कर चुका था परन्तु इस नूतन दृष्टिकोण ने उन्हें कुछ नूतनता प्रदान की। सन् १९२७ में उनके पिता का देहान्त हो गया, जिससे इनका मनस्ताप और भी बढ़ गया। दो-तीन वर्षों में बड़े दुःखी रहे परन्तु इसी बीच इन्होंने 'मधुज्वल' के रूप में उमर छंदोग्य की द्वादशों का हिन्दी में अनुवाद किया। भरतपुर में डा० जोशी के पास स्वास्थ्य-लाभ करके वे सन् ३० में अपनी चचेरी बहन के पास बिजनौर चले गये और वहाँ इन्होंने कुछ कहानियाँ लिखी जो 'मधुवन' के नाम से प्रकाशित हुईं।

इसी वर्ष वे अल्मोड़ा चले गये और वहाँ बालासाँकर के राजा भवधेगमिह के छोटे भाई सुरेगमिह से परिचय हुआ, जो इन्हें बालासाँकर ले गये। दो-तीन वर्षों के यही रहे। 'गुंजन' में संकलित कविताएँ इसी काल की हैं। इसी बीच इन्होंने 'ज्योत्स्ना' नाटिका लिखी। पुनः अल्मोड़ा चले आये और 'सुगान्त' का निर्माण किया। सन् १९३६ में 'पौव कहानियाँ' लिखी। तदनन्तर सन् १९३७ से ३९ के बीच 'सुगवाणी' और पुनः ४० तक 'शाम्बा' की रचना की। गुंजन के परचान् भव तक की रचनाओं में साम्प्रदाय की क्षान्त विरोध रूप के रही।

इसके अनन्तर इनको मेरठो ने क्षान्त शाम्बा का आशय दिया और कुछ

काल तक मौन रही। इन्हें एक रोग ने आक्रान्त किया और उससे बड़ी कठिनाई से प्राण बचे। प्रकृति के इस घातक प्रहार ने उनकी मुप्त चेतना को पुनः जाग्रत कर दिया और वे अध्यात्म जगत् में विचरने लगे। सन् १९४७ में प्रकाशित 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में संग्रहीत कविताएँ ऐसी ही अध्यात्म लोक एवं अलक्ष-जगत् से सम्बन्ध रखती एव उनका रहस्य निहित करती हैं। सन् १९४८ में 'वृणव' और ४९ में 'उत्तरा' का निर्माण किया। ये दोनों काव्य-ग्रन्थ भी उनके आध्यात्मिक विचारों को प्रकाशित करते हैं। इनके परभाव इनकी और भी अनेक कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं तथा आकाशवाणी से विस्तारित की जा चुकी है। इन्होंने 'ध्याया', 'परिणीता', 'साधना' और 'स्वप्नभंग' आदि नाटक भी लिखे परन्तु वे इन्हे नाटककार न बना सके। वास्तव में ये नाटककार न थे, ये थे कवि और ध्याज भी कवि ही हैं।

पन्त जी का भाव-विकास-क्रम—

पन्त जी की रचनाओं पर विह्वल दृष्टि डालने के परभाव ही धनायाम यह निश्चित किया जा सकता है कि उनकी मनः प्रवृत्तियाँ चार रूपों में परिवर्तित हुई हैं—

(१) प्रथम प्रवृत्ति प्रकृति से प्रभावित अतएव अवोष घालिका के समान परिपूत है। 'बीणा' में संग्रहीत कविताएँ इसी प्रवृत्ति का परिणाम हैं।

(२) द्वितीय प्रकार की प्रवृत्ति उम्र समय से सम्बन्ध रखती है, जिस समय कवि का सम्बन्ध प्रकृति से टूट जाता है और वह तीर्थराज प्रयाग की गोदी में जा बैठता है। कवि का हृदय प्रकृति के रमणीय रूप को विस्मृत नहीं करता है, उम्र प्रकृति का बाह्य रूप तो चर्मचक्षुषों से नहीं दीप्तता परन्तु यह घपनी उद्बुद्ध-चेतना से प्रकृति के अन्तःपटल के सौन्दर्य में गूँघ रहस्य देखता है जिससे उसे स्पूल जगत् से अदृश्य गूँधम जगत् अधिक मनमोहक प्रतीत होता है किन्तु साथ ही विस्मय का भाव भी रहता है। इसी काल में युवक कवि का मानस प्रकृति के सावभ्य से मुग्ध हो पाषिव रमणीयता पर मुग्ध होता है और उम्रका व्यापक सौन्दर्य किसी स्थान पर केन्द्रित-सा दीप्त पड़ता है। ज्ञात होता है कि कवि पृथ्वी से उठकर पुनः ऐन्द्रिय ध्यानन्द-मूत्र से आकृष्ट होकर नारी-लोक में विहार करता है। इस प्रकार प्रकृति और नारी का रम्य आकर्षण कवि की मनः-प्रशिक्षण का दो रूपों में एक प्रधान बन्द बन जाता है। श्लाघाकार की प्रवृत्ति भी यहीं से अपने संभव में पोषित होती है। 'पल्लव' में 'ज्योत्स्ना' तक की रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।

(३) तृतीय प्रवृत्ति देश की जागृति एवं आत्मवाद में परिवर्तित है।

यहाँ कवि सांसारिक विषमता से विशुद्ध हुआ अत्याचारियों, शोषकों एवं सत्ता-घोशों के विरुद्ध घृणा प्रदर्शित करता है एक साम्यवाद और गांधीवाद का प्रचार चाहता है। इस समय वह प्रगतिवाद की तप्त भूमि में भुनसता हुआ भागे बढ़ता है। इस प्रवृत्ति से प्रभावित जितनी कविताएँ लिखी गईं वे 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में संकलित हैं।

(४) कवि के उदात्त हृदय में तृतीय प्रवृत्ति एक विशोभ ही नहीं जा सकती है। इसमें कवि को आत्म-मन्तोष एवं अविचल शान्ति नहीं मिली अतः उसकी अन्तरात्मा पुनः सूक्ष्म जगत में रहस्योद्घाटन के लिए मुड़ी और बही रमती रही। प्रौढावस्था में एक विषम रोग ने भी कवि को इस ओर चलने की अन्त-प्रेरणा दी। यह कवि का स्वर्णकाल है। इस काल की रचनाएँ हैं— 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूनि', 'युगपथ' और 'उत्तरा'।

अब हम प्रवृत्ति के अनुसार पन्त जी की रचनाओं का सूक्ष्मतः आलोचन करते हैं।

बीणा—पतञ्जी पार्वतीय प्रदेश में उत्पन्न हुए थे। प्रवृत्ति के रम्य अंचल में बैठकर ही उन्होंने अपने जीवन का उपाकाल ज्ञान-भानु की रश्मियों से आलोकित किया था। प्रवृत्ति एक रहस्यमयी विन्तु व्यक्त रमणी थी जिनने एक मनोरम रमणी जगत अपने ही रूप में उनके चारों ओर फैला रखा था। हिमाच्छादित पर्वत-शिखर सम्मुख ही खड़े थे, जिन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणें घन-पटलों में पल-पल नूतन पट-परिवर्तन के साथ चलचिप-सा दिग्गामी रहती थी और भर-भर करते हुए निर्भर गलबहियाँ डालते जिनके वशास्वत पर चाञ्चल्य से अठलतियाँ खेचने रहते थे। कभी उन्हें परियों के बच्चे के समान पञ्चन्य-शिशु नमःसरोवर में तैरते से देखते तो कभी सगरंगी इन्द्रधनुष पुष्पधन्वा सा युद्धुदाता जान पड़ता था। वनस्पति की हरीनिमा, पशियों की मञ्जु मुसरता, भिल्लियों की भ्रकार, जुगनुमो की क्षणिक चमक और प्रपातों के व्यनित पात ने निरन्तरतः शान्त प्रवृत्ति को भी मुग्ध बना दिया था।

प्रवृत्ति के इस उज्वल रूप ने पन्त जी को अत्यधिक प्रभावित किया था। उन्होंने प्रवृत्ति के भव्य विविध अंगों को अपनी कविता में बिबित कर डाला। वे कविताएँ 'बीणा' में संग्रहीत हुईं। पन्त जी ने स्वयं अपने 'मेरा रचना-काल' लेख में लिखा है—

"मन् १९१८ से २० तक की अधिकांश रचनाएँ मेरे 'बीणा' नामक काव्य-संग्रह में छपी हैं। बीणा-काल में मैंने प्रवृत्ति की छोटी-मोटी यस्तुओं को अपनी कल्पना की सूली से रंगकर काव्य की सामग्री इकट्ठा की है। पून-पत्ते

प्राञ्जल रूप में हुई है परन्तु प्रकृति-रहस्य की जिज्ञासा अट ॥ इतिवृत्तात्मकता का प्राबल्य था, जब कि 'पल्लव' में अभिव्यञ्जना-स्वाभाविकता है, पल्लव में कला का सुन्दर प्रदर्शन है। प्रकृति के अभाव में उसका दूरस्थित, अलक्ष्य और सूक्ष्म रूप दृष्टिगोचर होने की जिज्ञासा और उसके विवेचन के लिए प्रेरणा देता है अतः अब कवि ने सारी प्रकृति का कल्पना-भोक उसी के छाया-चित्रों से सुमञ्जित हो गया। यथा दृष्ट-दृष्ट पदार्थ रह-रह कर स्मृति-पटल पर अपनी चित्रनामा सजाते रहते हैं उसी प्रकार प्रयाग-स्थित पन्त जी के हृदय-पटल पर पार्वतीय प्रदेश की प्राकृतिक छटा भी विजली की भाँति कोंच जाती थी। जो प्रकृति पन्त जी ने सजीव देली थी वह अब चित्रों के रूप में भी मुखर थी। अतः 'पल्लव' की रचनाएँ प्रकृति के सुन्दर सजीव चित्रों से मण्डित हैं। इसीलिए पन्त जी ने पल्लव की सीमाओं को छायावाद की अभिव्यञ्जना की सीमा कहा है। ऐसा एक चित्र देखिए—

कनक छाया में, जब कि सफ़ाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के वास
तड़प, वन जाते हैं गुंजार
न जाने डलक भोस में कौन
खोंच लेता मेरे द्य मीन !

कवि ने सत्कार की विषमताओं से अवसन्न एवं विषण्ण होकर विश्व में परिवर्तन चाहा अतः 'परिवर्तन' नामक कविता लिखी। यह भी पल्लव-संग्रह का एक अंग है। यह कविता वास्तव में हम ग्रन्थ की प्रतिनिधि रचना है, जिसमें विगत वास्तविकता के प्रति अमन्ताप और परिवर्तन के प्रति आग्रह की भावना है। इसमें शैली की प्रसरता, भाषा की परिपुष्टता और उद्दाम भावों का सवेग प्रकाशन अनुपम है। इसमें कवि-हृदय अपने पूर्ण जीवन पर है।

पल्लव की रचनाओं में कल्पना और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। अनुभूति विषयों का कल्पना के गहारे चित्रण बड़ा मर्मस्पर्शी हुआ है। पल्लव की कुछ कविता कल्पना-प्रधान हैं, कुछ भाव-प्रधान और कुछ में दोनों का समन्वय। 'बोध-विलास', 'विश्व-वेद्यु', 'निर्भर-मान', 'निर्भरी' और 'नशाप' आदि कविताएँ कल्पना-प्रधान हैं; 'मोह', 'पावना', 'विसर्जन', 'मधुवरी', 'मुस्मान' और 'खोने का गान' आदि भाव-प्रधान हैं और 'मीन-निमन्त्रण', 'खालापन', 'छाया', 'बादल' 'धन्य' और 'स्वप्न' आदि उभय-प्रधान हैं। जिन कविताओं में कल्पना और भाव

का अनुचित सम्मिश्रण है, वे ही वस्तु में सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ हैं।

पन्त की रचनाओं में हमें उत्तरोत्तर बाल्यविकृता की खोज का प्रयत्न देख पड़ता है, जिसका वस्तुतः प्रारम्भ 'परिवर्तन' रचना से होता है। पन्त जो स्वयं लिखते हैं—'एक कविता-अनुभव में निम्न-अनुभव को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्तन' के रचना-काल से प्रारम्भ हो गया था, 'परिवर्तन' उस अनुभव-काल का केवल प्रतीक मात्र है।' निम्न-अनुभव की बाल्य-विकृता पर पन्त जी का दृढ़ विश्वास 'गुंजन' काल की रचनाओं में प्रतिष्ठित-प्रायः सा देख पड़ता है।

'पल्लव' की सूत्र से बड़ी विशेषता है इनके विविध सांसारिक प्रयोग, यथा—शीतलता के लिए 'बाँदनी', शिशु के लिए 'अनुभव रूप' और अनुभव वस्तुओं के लिए 'धूल की ढेरी' और सुन्दर वस्तुओं के लिए 'अधुनय गान' का प्रयोग।

गुंजन—पल्लव के पदवाच्य पन्त जी की श्रेष्ठ रचना 'गुंजन' के दर्शन हुए। पन्त जी ने इसे स्वयं अपनी आत्मा का उन्मत्त गुंजन कहा है। 'पल्लव' के अन्त में हम जीवन की वास्तविकताओं की खोज का प्रयत्न देखते हैं, परन्तु इसमें कवि का यह प्रयत्न भूतिमान् होकर सपना हो गया है। बीरग में कवि ने धर्मचतुर्था से प्रकृति का सौन्दर्य निहारता था, पल्लव में उसे हृदय की आँसुओं से देखा और इसमें प्रकृति का क्षेत्र व्यापक हो गया, मानव भी उगता एक भग हो गया अतः गुंजन में प्रकृति के अगभूत मानव-जीवन के दर्शन की लालसा उकट हो गई है। इस प्रकार पन्त जी के विचार मूर्ध्म से मूर्ध्मतर होते गए हैं। उनमें मानव-भाव कम होता गया है, मूर्ध्मता आती गई है, बाह्य पर्यवेक्षण और विश्लेषण कम होना गया है और कहना एक भारद्वाजना बढ़ती गई है तथा दैहिक एक ऐहिक प्रतिपादन नून होना गया है और अस्वा-पिब एक निम्न अर्थार्थ जगत् का चिन्तन, मनन और निरूपण बढ़ते गए हैं।

कवि पर दैहिक और आधिभौतिक आकर्षण घटते, जिनसे उसे बड़ी कठिनाता से मुक्ति मिली। इस परिवर्तन में उसके मानस में निराशा के स्थान पर आशा का संचार बिधा। उसने विचार की अनूत निराशा के पदवाच्य आशा का उज्ज्वल उदा-काल देना, उसे जीवन में प्रकाश खोज पड़ा और दुःख का अन्धकार गुण के परम आशोक से पूरना प्रतीत हुआ। इसीनिम्न कवि पन्त के विचारों में इस समय हम एक भारी परिवर्तन देखते हैं। पन्त जी द्वारा विश्लेषित मानव-जीवन का गुणवत्ता विषय हम भी देखते हैं।

पन्त जी मानव को दिव्य ज्योति का एक चिरन्तन स्फुलिंग मानते हैं—

मानव दिव्य स्फुलिंग चिरंतन ।

इस मानव का कार्य आश्वत जीवन-नीका-विहार करना है । यह मानव-जीवन सुख-दुख का एक सगम है, जिसे कवि ने 'साम्भ-उषा का घ्रांगन', 'विरह-मिलन का घ्रांगन' और 'विर हास-प्रधुमय भानन' कहा है—

यह साम्भ-उषा का घ्रांगन

घ्रांगन विरह-मिलन का

विर हास-प्रधुमय भानन

रे इस मानव-जीवन का ।

जग-जीवन में सुख-दुख तादात्म्य रूप से रहे हुए हैं । सुख-दुख के जोड़े को जीवन से वृषक् नहीं लिया जा सकता—

जग-जीवन में है सुख-दुख,

सुख-दुख में है जग-जीवन ।

इन शब्दों में हम कवि कालिदास के निम्न शब्दों की प्रतिध्वनि सुनते हैं—

एस्मात्पन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा ।

नीचैर्गन्धति उपरि च वशा चकनेनिकमेण ॥

परन्तु कवि न तो विर मुक्त चाहता है और न चिर दुख चाहता है—

मैं नहीं चाहता विर-मुक्त,

मैं नहीं चाहता चिर-दुख ।

क्योंकि चिर-मुक्त भी एक उत्पीड़न है और विर-दुख भी—

अविरत सुख है उत्पीड़न

अविरत दुःख है उत्पीड़न ।

सुख-दुख के मितन में ही माधुर्य रहा हुआ है । इसलिए कवि नितान्त एक को नहीं चाहता, दोनों को ही चाहता है जिससे सुख दुःख से और दुःख सुख से बंट जाय—

सुख-दुख के सधुर मितन से

यह जीवन हो परिपूरण;

मानव जग में बंट जाये,

दुःख सुख से और सुख दुःख से ।

कवि विरह-वेदना में प्रनियम तपने के लिए मन को प्रेरित करना है क्योंकि तपे होने का यही एकमात्र उपाय है—गोना तप कर ही सारा होना है—

तप रे मधुर-मधुर मन
विश्व-वेदना में तप प्रतिपल
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन प्रकल्प, उज्ज्वल औ कोमल
तप रे विधुर-विधुर मन ।
घरने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम ।

जीवन की पूर्णतम मूर्ति ही परम सुन्दर है और कवि को सुन्दरतम जीवन अधिक प्रिय है—

सुन्दर से प्रति सुन्दरतर, सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे ! सुन्दर सुन्दर जग जीवन ।

पन्त जी के उपयुक्त शब्दों में जीवन की कौमो सुन्दर व्याख्या है । इस प्रकार के जीवन-सम्बन्धी अनेक सुन्दर भाव हम युंजन में देखते हैं ।

युंजन में पन्त जी की दार्शनिकता खिल पडी है । भारतीय जीवन के दिव्य दर्शन हमें इस काव्य में होते हैं । यहाँ एक मपति है, मर्पादा है, विकास है, भागा है, हर्ष है, उल्लास है और है प्रतिपल नूतनता का उन्मेष । 'तप रे मधुर-मधुर मन', 'मानव' एवं 'नौका-विहार' आदि कविताओं में जीवन का दार्शनिक चित्र है ।

इसके अनिश्चित हम इस काव्य में नारी-मोन्दर्य को भी देखते हैं परन्तु उम सोन्दर्य में विश्व-मोन्दर्य भरा हुआ है । 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में शाल्पनिक पत्नी का बड़ा सुन्दर चित्र खीचा है, जिसमें कवि विश्व-मोन्दर्य को ही भलक पाता है । नारी में विश्व की मृदुलता, मंडुलता, मधुरता और मनो-हारिता बरी हुई है । पन्त जी प्रकृति में नारी-मोन्दर्य को भरते हुए बड़े सुन्दर चित्र खींचते हैं । पत्नीली दुःखिन उषा का एक चित्र देखिए—

रिम की छाभा हुनहिन बन
धाई निशि—निभूत शयन पर
वह एषि की छुई-मुई-मी
महु मधुर सात्र मे भर-भर ।

इसने नारी-चित्रों में एक उदात्तता, मर्यादता और विनय भंगनता रखी है, उनमें ऐन्द्रियता नहीं और न है कतुलता, मया—

तारिका सी तुम दिव्याकार,
 चन्द्रिका की भङ्गार !
 प्रेम-पंखों में उड़ अनिवार,
 अमरी सी सधु भार,
 स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार,
 प्रणय-हंसिनि सुकुमार ?
 हृदय-सार में करने अभिसार,
 रजत-रति, स्थण-विहार !

ज्योत्स्ना—पन्त जी का प्रकृति-प्रेम शनैः-शनैः मानव-प्रकृति और मानव-जीवन सम्बन्धी सोजो के प्रति मुडने लगा था, यह बात कही जा चुकी है। 'पल्लव' से 'पु जन' में जीवन-दर्शन अधिक भिन्नता है। 'ज्योत्स्ना' में भी मानव-जीवन की वास्तविकता का ही विवेचन है। पन्त जी लिखते हैं कि 'ज्योत्स्ना में नवीन जीवन तथा युग-परिवर्तन की धारणा को एक सामाजिक रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है। पल्लव-कालीन जिज्ञासा तथा भ्रमसाह के बुहासे निखर कर ज्योत्स्ना का जगत् जीवन के प्रति एक नवीन विदवास, भाषा तथा उल्लास लेकर प्रकट होता है।'

यह एक छोटा सा रूपक है या रूपनाटिका है जिसमें अमूर्त भावनाओं को मूर्त-भावों का रूप देकर मानव जीवन को प्रेम और प्रोज्ज्वल्य के उच्चाधायों से समन्वित कर समार को स्वर्ग बनाने का विधान है। इसकी कथा पाँच अंकों में विभक्त है जिसका सार यह है—'संगार की विषमता को देखकर इन्दु ज्योत्स्ना को मर्त्यलोक का शासन रोष देता है। यह पवन, सुरभि, कलाना और स्वप्न की सहायता से प्रेम की सरिता बहा कर इस लोक को स्वर्ग बना देती है। दया, सत्य, भक्ति और अनुराग भी इस निर्माण-कार्य में सहयोग देते हैं।'

इसमें पन्त जी ने उच्च मानव-जीवन की प्रतिष्ठा तो की है परन्तु नाटिका इतनी गरब नहीं है क्योंकि कवि नाटककार न बनकर कवि ही रहा है। उसका कथा-नाटक प्रतीकों के भार से दब गया है, चरित्र-चित्रण में भी धूम कर नाक पकड़ने की गी बात हो गई है तथा मधनोपनयन, भाषा और रीति भी नाटकीय-रत्ता के अनु रूप नहीं है। कल्पना द्वारा समस्यन पर स्थित मानव-जीवन की स्थापना अमूर्त पात्रों द्वारा नाटिका में मगत नहीं। उद्देश्य बहुत उँचा है तथा संगीत में दार्शनिक भाव भी बोधम हो गया है, यही इस

नाटिका की सफलता है अथवा नाट्य-कला की कमीदी पर यह खरी नहीं उतरती ।

युगान्त—'गुञ्जन' में कवि मानव-जीवन का आदर्श उलम्बित करता है, 'ज्योत्स्ना' में वह उसे सामाजिक रूप देकर विश्व की मंगल-कामना करता है और 'युगान्त' में संसार में एक नूतनता चाहता है । इनमें वह बाह्य दिशा में भी सक्रिय है और विकास का भी प्रतिपक्षी है तथा निन्द्य मूल्य की संज्ञक के प्रति भावपूर्ण में मानवता को नवीन रूप में देने का अभिप्रायी है । वह जीवन में ही नवीन-चेतना नहीं चाहता, पारं विश्व को नवीन चेतना में युक्त देखना चाहता है । एक ओर वह बौद्धिक में विश्व में मधुर राग न भर कर अग्नि-वग्गु वर्णन की प्रार्थना करता है विश्वमें जीर्णो-नूतनन नष्ट-भ्रष्ट हो जाय और दूसरी ओर तारों से कण-वग्गु में प्रकाश भर कर अन्धकार को नष्ट करने की अभ्यर्थना करता है । बौद्धिक में कहता है—

गा, कोकिल बरना पावक बर !

नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्णो-नूतनन

वर्द्ध-भ्रंश जग के अह-अध्वन

पावक-वग्गु घर भावे नूतन

ही पल्लवित मधल मानवरन ।

'नवत मानवतन पल्लवित हो' इसमें कवि का भावुक-जन व्यक्त नहीं हो रहा है वरन् उसकी व्यथना झनक रही है । कवि को बाहर मौदर्म, स्नेह और उत्साह न मिल सका अतः वह अन्तर्जगत् में नवीन परिवर्तन चाहता है—

में सृष्टि एक गज रहा नवन

भायी मानव के जिन, भोवर,

सौन्दर्य, स्नेह, उत्साह, मूढे

मिल सका नहीं जग में बाहर ।

पन्त की 'परिवर्तन' कविता में यह परिवर्तन आरम्भ हुआ था और 'गुञ्जन' में उसका पूर्ण विकास हुआ, साथ ही सृष्टि-मौदर्म-का संज्ञक एक सृष्टिविध रूप दिगम्य रहा अतः वह काल आचार्य की रचनाओं का रहा । इस प्रकार 'बोला' से 'गुञ्जन' तक आचार्य का प्रोत्साहन प्रोत्साहक एक पट्टिका है । पुनः कवि की सामाजिक विषयता में आनन्द-मानव, योग्य-योग्य और उत्पीडित-उत्पीडित का वैषम्य-समन्वित सम्बन्ध अन्तर्जगत् हृष्टिपोषक हुआ जिससे उसकी आत्मा तिनमिता उठी । आनन्दवाद और आनन्दवाद में इस नवीन

इन विषयों के अतिरिक्त प्रकृति भी कुछ कविताओं का विषय रही है परन्तु वह विजित हुई मानव-कृति के रूप में ही हमें दीखती है। देखिए मानव प्रकृति की कैसी सुन्दर कृति-योजना है—

हार गई तुम

प्रकृति !

रच निरुपम

मानव कृति !

नितिल रूप, रेखा, स्वर

हुए निद्रावर

मानव के तन, मन पर ।

धातु, यर्ण, रस, सार,

बने अस्मि, त्वच, रक्त-धार,

कुसुमित अंग-उभार

सुन्दरता उत्साह

दाया, गंध, प्रकाश,

बने रूप-सावण्य विकास,

नय यौवन-मधुमास,

जीवन रण में प्रतिक्षण

कर सर्वस्व समर्पण,

पूर्ण हुई तुम, प्रकृति !

भाज बन मानव की कृति !

युगवाणी पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव है। इसकी शैली, भाषा और भाव-व्यञ्जना स्पष्ट ही उस प्रभाव की उद्घोषिका है। युगान्त में जो प्रगति-वाद पलकर सड़ा हुआ था, वह यहाँ और ग्राम्या में पुष्ट हुआ है।

ग्राम्या—ग्राम्या में न तो 'पल्लव' की मर्मराहट है और न 'गुंजन' का मधु गुंजन है, केवल अतृप्त हृदय का रोदन ही जीवन का संगीत बना हुआ है—

यहाँ न पल्लव बन में मर्मर,

यहाँ न मधु बिहनों में गुंजन,

जीवन का संगीत बन रहा,

यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन ।

वास्तव में इस काव्य में कोई नवीन सन्देश नहीं है, युगवाणी का ही सन्देश प्रस्पृष्टित हुआ है। ग्राम्य-ममस्या इसका प्रधान विषय है क्योंकि दुर्भ्यवस्थित एवं दुर्दशा को प्राप्त ग्राम पन्त-जी की सहानुभूति का केन्द्र बन गए हैं। उनके शब्दों में ग्राम का वास्तविक रूप इस प्रकार है—

यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम-सम्यता संस्कृति से निर्वासित !
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में
गूह-गूह में कलह, खेत में कलह, कलह है मग में ।
प्रकृति धाय यह तृण-तृण कण-कण जहाँ प्रकृतिलत जीवित ।
यहाँ अकेला मानव ही रे चिर विषण्ण जीवनमृत !

इस काव्य में ग्रामवासी, ग्रामवधू, वृद्ध और वृषक एवं धर्मिकों के बड़े सुन्दर चित्र हमें मिलते हैं और ग्राम-मस्वृति के दर्शन भी होते हैं तथा साथ ही घोड़ी, चमार एवं कहारों के स्वर्ग भी दृष्टिगोचर होने हैं। ग्राम-नारी का शालीनतापूर्ण एक सुन्दर चित्र देखा—

सर से झाँवल विसका है—फूल भरा जूझ—
अधतुला घक्ष,—डोती तुम तिर पर पर कूड़ा;
हँसती बतलाती सहोदरा सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य भलबता धातप-सा तन से ।
निज इन्द्र प्रतिष्ठा भूल, जनों के बँट साथ,
जो बँटा रही तुम काम-बाज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार,
जन के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार ।

और माघ ही घ्राणुनित्रा का एक मग्न चित्र भी निहारिए—

तहरी सी तुम अथल सातमा श्वाग धाय मे नर्तित,
नितली सी तुम फूल-फूल पर मँडराती मधु क्षण हिन ।
मार्जारो तुम, नहीं प्रेम को बरती घाम-तमपेण,
तुम्हें सुहाना रंग-प्रणय, धन पद मद, धारम-प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, सहर, नितली, दिहणी, मार्जारी
घ्राणुनित्रे, तुम नहीं अगदर कुछ, नहीं निकं तुम नारो !

इस काव्य में ग्राम के माघ प्रकृति का चित्रण भी बड़े रम्य रूप में किया गया है, यह पन्त जी के प्रकृति-प्रेम का ही परिणाम है।

इसके पदचानु बरि एष एमे भाव-भोक्त में प्रविष्ट होता है जहाँ सामा-

जिक चेतना अपना रूप निखारे बैठी है और अध्यात्म की मैनाएँ अपना मधुरतम राग अलापती हैं, जहाँ भ्रमुभूति का शीशा मँज कर पारदर्शक हो गया है और अन्तःविकास ने उभिद्रा को झकझोर दिया है। कवि के इस लोक की कृतियाँ हैं—'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि'।

स्वर्णकिरण और स्वर्णधूलि—पहले कहा जा चुका है कि पन्त जी 'वीणा' से 'पल्लव' और 'पल्लव' से 'गुजन' में क्रमशः तन से मन और मन में आत्मचिन्तन की ओर बढ़े हैं। पुनः 'भुगान्त' से 'भुगवाणी' और 'ग्राम्या' में वे सप्ताह-दुःख, विषमता एवं उत्पीडन का नृत्य देखते रहे हैं। इसे हम उनकी शान्त सचेतन विचार-नहरी में भरी विषम चट्टान का गदका ही कह सकते हैं। भला अहिंसक को हिंसा कैसे प्रिय हो सकती थी, शान्त को अशान्ति और प्रेमी को घृणा कैसे भा सकती थी, स्वर्ग के नन्दन बालन में विचरने वाले आत्मभोजी को नारकीय तप्त वायु भला कब सुखस्पर्श दे सकती थी और भला अध्यात्म-मुग्धा पीने वाला भौतिक गरल कब तक निगल सकता था। शान्त, गम्भीर और उच्चादर्श-विहार के विहारी पन्त जब इस गलघोटक वातावरण में ध्वास लेते। वे ऊब गए और पुनः अध्यात्म की ओर मुड़े। यही द्वायावाद से प्रगतिवाद और प्रगतिवाद से अध्यात्मवाद की ओर इनकी विचारधारा का प्रवहन है।

'स्वर्णकिरण' में प्रकृति और जीवन का सुन्दर चित्रण है परन्तु उनके प्रति भौतिक आकर्षण नहीं है। यहाँ नवमानवतावाद का चादतम रूप कवि की आँखों में नाच रहा है। उसका चिन्तन मांसल न होकर सूक्ष्मतम हो गया है। यह प्रकृति को निहारता है परन्तु मानव ही याद आता है, देखिए 'प्रभात के बाद' में मानव का संकरण सुसम्पन्न ही होत रहा है—

नील पक में धँसा अंश जिसका उस द्येत कमल सा शोभन
नभोनीलिमा में प्रभात का चाँद उर्नीदा हरता सोचन !
इसमें वह न निशा की छाया, दुःख फेन सा यह नय कोमल,
मानवीय लगता नयनों को एनेह पश्य सकरुण मृतमण्डल !

'स्वर्णकिरण' की रचनाओं में उपनिषदों का बड़ा प्रभाव है जो श्री अरविन्द के सम्पर्क का प्रतिफल प्रतीत होता है। इसमें 'अरविन्द के प्रति', 'हिमाद्रि और समुद्र', 'मन्थगन्धार्', 'कवि के प्रति' और 'प्रभात का बाद' आदि बड़ी सुन्दर और मावपूर्ण कविताएँ हैं।

'स्वर्णधूलि' में प्रकृति की कविताएँ कम हैं। जो हैं वे आत्मवाद में गतिपूर्ण हैं। इसमें सामाजिक उत्थान-सम्बन्धी रचनाएँ भी हैं। 'यनिता',

'मर्मव्यथा', 'नावन', 'चाँदनी', 'स्वत्वबन्धन' और 'क्रोटन की टहनी' आदि कविताएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' पन्त जी की इस धारणा की अभिव्यक्ति-मात्र है कि सामाजिक समष्टि राजनैतिक और धार्मिक आधार पर होना चाहिए। इनमें उन्हें एक नवीन युग के प्रभाव का स्वर्णिम प्रकाश दीख पड़ा, जिसके झालों में उन्हें निश्चय हो गया कि नवीन सांस्कृतिक धारोद्धार नूतन चेतना के मार्ग में ही सम्भव है, जो मनुष्य की मानसिक चेतना को उच्चतम घरायल पर ले जावेगी अतः अब राजनैतिक एवं धार्मिक क्रान्ति ही नहीं होगी वरन् आध्यात्मिक क्रान्ति भी होनी चाहिए क्योंकि आत्म-द्वन्द्वर को शान्त कर चेतना के पूर्ण विकास के लिए बाह्य रगडन की अपेक्षा अन्तर्मात्रन की अधिक आवश्यकता है। यही धारणा हमें सन्देश के रूप में इन काव्यों में मिलती है। इनमें व्यष्टि और समष्टि का तथा बाह्य और अतःप्रवृत्ति का बड़ा सुन्दर समन्वय है।

युगनय और उत्तरा—इन दोनों काव्यों में कवि अध्यात्म की उच्चतर सीढ़ियों पर चढ़ता गया है। 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में जो आत्म-दरशन हुआ वह इन संग्रहों में अधिक मनमोहक हो गया। इनमें औपनिषदिक दार्शनिकता बूट-बूटकर भरी हुई है। जिन मानववाद की स्थापना का प्रयत्न हम पन्त जी के प्रारम्भिक काव्यों से देखते आए हैं, उनकी वास्तविक प्रतिष्ठा का कार्य यहाँ समाप्त हुआ है।

यदि हम 'बीणा' से लेकर 'उत्तरा' तक की काव्यगत पन्त जी की भावना का समाहार करें तो इस प्रकार कर सकते हैं कि उन्होंने प्रकृति से भावित हो उसी के माध्यम द्वारा नर को नारायण का रूप समझकर समुज्ज्वल मम जीवन का विधान किया है जिस प्रकार वैदिक काल में ऋषियों ने प्रकृति से प्रभावित हो उपनिषदों में जीव और ब्रह्म का भेद हटाकर समरूपता का विधान किया था।

पन्त जी की काव्य-शला—

मनुभूत वदार्थों की सौन्दर्याभिव्यक्ति ही कला है। पन्त जी एक उच्च-कोटि के कलाकार हैं। 'बीणा' से लेकर 'उत्तरा' तक जितना भी काव्य-काव्य है, उसमें उन्होंने असूक्ष्म रत्नों का संग्रह किया है। वे सभी रत्न विष-रत्न हैं। उन्हें प्रकृति से प्रेरणा मिली थी और प्रकृति उनकी घाँसों में होकर हृदय में उतर गई थी अतः वे उसे कभी न भूल सके। विरह-छाया, प्रगति एवं मानव-जीवन-दरशन कहीं भी वे प्रकृति की तपस न करें वरन् उगी के माध्यम में ही विषय का प्रतिपादन किया। प्रकृति के रंगीन मूक विष उनको मानवी प्रयोग-

शाला की चित्रपट्टी पर अंकित हो गये थे अतः मनोदग्ध विचारों का चित्रांकन उनके लिए उतना ही सुगम रहा है जितना किसी सिद्धहस्त चित्रकार को तूलिका में चित्र के खाँके में रंग भरना। वे चित्र भी ऐसे हैं जिनमें जान है, स्पन्दन है और है एक आकर्षण। इन चित्रों में वस्तु-व्यंजना एवं भाव-व्यंजना की सरसगी बड़ी मनोहारिणी है। पयोधर को 'खालक के प्रिय जीवनधर !' कह कर पुकारना, तरंग को 'धरी वारि की परी किनोर !' या 'सरिता की चंचल दृग-कोर !' सम्बोधित करना, नक्षत्र को 'नव प्रमात के अस्फुट अक्षुर !' या 'मनन्त के हृत्कम्पन !' कहना और छाया के लिये 'ऐ चिटपी की व्याकुल प्रेयसि !' का प्रयोग करना कितना सुन्दर और प्यारा लगता है यद्यपि शब्दों से लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ ही लक्षित एवं ध्वनित हो रहे हैं।

चित्रों में कैसे रंग और साधन चाहिए, पन्त जी इसे अच्छी तरह जानते थे अतः इनके काव्य-चित्रों में शब्द-व्ययन काव्य में मणि-व्ययन सा हुआ है। प्रकृति-चित्रों में यह रंग अपने रूप में है और भाव-चित्रों में कल्पना के रूप में किन्तु वह अक्षरों वरुणों भी सरस सा हो गया है। दोनों प्रकार के चित्रों का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है। नीलाम्बर के प्रतिबिम्ब से मुक्त चंचल लहरों वाली सुभ्रजना गंगा का वर्णन नीली माछों में परिवेष्टित गौरवर्णा सुन्दरी के रूप में देते—

गोरे धंगों पर तिहर-तिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चंचल अंचल सा नीलाम्बर।

इसी प्रकार संध्या का एक प्रश्न-परिभ्रत चित्र भी भवलोकि—

कहो तुम रूपसि कौन ?

व्योम से उतर रही चुपचाप

द्विपी निज छाया छवि में प्राप

सुनहला फँसा के प्रकलाप

मधुर, मधुर, मृदु, मोन !

इनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जगमें सर्वत्र अक्षत-प्रकृति की शान्ति और गम्भीरता हमें मिलती है। प्रकृति-वर्णन हो या छाया-चित्र, प्रगति-निरूपण हो या भाव-चित्र छाया या तत्त्व-चिन्तन हो या मनुजीवन-दर्शन, सर्वत्र उच्चानन है, उज्ज्वलता है और है विमल नवीनता। कवि ने यथार्थ में शब्द-पुत्र या निर्माण किया है, जिसमें शरीर में हृदय और हृदय में आत्मा के विरलेपण का प्राधान्य है अर्थात् कवि की दृष्टि स्फूर्त से मूढ और मूढ से मूढमन्तर होनी सभी गई है। 'बीणा' में कवि बीणा पकड़ना सीखता है, 'पल्लव'

में उसने तार छोड़े हैं और 'गुजन' में बहू तनो गुँज पड़ी है। इस समय तनो-नाद में मग्न कवि विश्व के कोलाहल में चोंक पड़ना है और व्यग्रनावस उस कोलाहल का कारण जानकर उसके समाधान में व्यस्त हो जाता है किन्तु विजित सज्जन की भाँति विवश ही पुनः उमी राग को छोड़ता है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ब्राम्पा' में ऐसा ही व्यग्र मन्त्रमण है किन्तु 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णचूनि', 'युगपथ' और 'उत्तरा' में फिर उसने मुड़कर प्रकृतिस्य हो जीवन-दर्शन की सुन्दर से सुन्दरतर और सुन्दरतर से सुन्दरतम भाँकी लेने के लिए तनो-स्वरो में डूब जाता है।

पन्त जी प्रकृति-प्रिय हैं। उनके छाया-चित्रों में भी प्रकृति का भाग अधिक है। उमें वे मजीब देगते हैं अतः वे छायावादी कवि हैं। विश्व में व्याप्त विराट् सत्ता के वे बड़े पक्षपाती हैं अतः उनका समूचा काव्य एक चेतना से अनुप्राणित है। मानव प्रकृति का अंग है और प्रकृति विश्वात्मा का अतः इनमें एक गूढ सादात्म्य है इसीलिए वे इसी विश्व में प्रकृति के बीच नर की नारायण के रूप में देखना चाहते हैं, स्वर्ग या अरवर्ग में नहीं।

पन्त जी नारी-मौदर्य के बड़े प्रेमी रहे हैं अतः उसके (नारी के) माता एव पत्नी के रूप में चित्र बड़े मनोहारी हैं। प्रकृति के नारी-प्रीतिक भी इनके काव्य में बड़े विचित्र हैं। इस दृष्टि से ये शृंगारी कवि भी हैं। व्यक्तिगत शृंगार ने भी इस भावना को बन दिया यह निश्चितप्राय है।

मध्य की रचनाओं में साम्यवाद और गान्धीवाद के आधार पर नवीन समाज के नव-निर्माण का मन्देश है। यहाँ वे प्रगतिवादी हो गये हैं। 'स्वप्न' और 'मौन-निमन्त्रण' आदि कविताओं में रहस्यवाद की अन्तक मिलती है।

इस प्रकार एक ही पन्त प्रकृति-प्रेमी, शृंगारी और छायावादी, प्रगतिवादी और आदर्शवादी तथा अन्त में अद्वैतवादी भी हैं।

इनकी कला की एक विशेषता भाषा की मधुरता, मृदुता और विंगतता है। शब्दों में मणि-कवित्त-मयोग, विलक्षण साधारण प्रयोग, चान्दन योजना, गतिमान् एण्ड, गतात्पर मगीन आदि तथा सबके ऊपर बोधन-कल्पना की उद्वेग, इनकी कविता के विशेष गुण हैं। गुण एवं रीति का प्रयोग इनके काव्य में रसानुसूत हो हुआ है तथा अन्तःकारों का विधान नैसर्गिक है न कि बसार् भार-रूप में। कहना होगा कि इनकी भाषा एवं शैली आदर्श हैं। विशेष अलंकारों से युक्त इन गुणों से समन्वित कुछ पद्यांश नीचे दिए जाते हैं—

(क) प्रथम रश्मि का धाना रंगिला ! तूने कंठे पहचाना ?

वहाँ, वहाँ हे आल विदुंगिनि ! पाया तूने घट माना ?

निराकार तम मानो सहसा ज्योतिपूज में हो साकार ।
 बदल गया द्रुत जगज्जाल धर कर नाम छप-नाना ।
 खुले पलक, फँलो सुवर्ण छवि, खिली सूरभि बोले मधुबाल ।
 स्पदन, कर्पन, नव जीवन फिर सीखा जग ने झपनाना ।

- (ख) फिर परियों के बच्चे से हम सुभग सीप के पंख पतार ।
 समुद्र पंरते शुचि ज्योत्सना में पकड़ इन्दु के कर सुकुमार ॥

[बादल]

- (ग) नीले नभ के शतबल पर वह बँठी शारद-हामिनि ।
 मृदु करतल पर शशि-मुषवर नीरव अनिमिष एकाकिनि ॥

[चाँदनी]

- (घ) कौन-कौन तुम परिहृतबसना,
 म्लानमना, भू-यतिता-सी,
 घातहता विच्छिन्न सता सी,
 रति-ध्रान्ता व्रज-यनिता-सी ?
 गूढ़ वल्पना सी कवियों की,
 भ्रजाता के विस्मय सी,
 श्रुतियों के सम्भीर हृदय सी,
 बच्चों के सुतले भय सी ।

[राधा]

- (ङ) वसुधा के उरोज शिखरों से लिनका घत मतपांवल,
 सरिता के जाँघों से सरका सहारा रेडाम का जल ।

- (च) क्यों हठी निरंकुश निर्भय कल्पित कुत्सित,
 गत संसृति के गरल, लोक जीवन जिनमे मृत,
 जग जीवन का दुस्वयोप है उनका जीवन,
 घय न प्रयोजन उनका, धर्मिम हैं उनके क्षण ।

[धनपति]

- (छ) निर्वाणोन्मूल घादनों के अन्तिम दीप तिलोदय ।

[महात्मा जी के प्रति]

- (ज) घिनित भ्रुकुटि दिग्निज तिमिराकित,
 नमिन नयन मम बाष्पाब्जदारित,

भानन श्री छाया-शशि उपमित,
ज्ञान भूढ़
गीता-प्रकाशिनी ।

[परतत्र भारत-माता]

(क) तप रे मधुर-मधुर मन !

विद्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की उवाला में गल,
धन अकल्प, उज्वल श्री कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन ।

(प्र) मानव अन्तर हो भू विस्तृत नव मानवता में भव विकसित ।
जन मन हो नव चेतना प्रथित, जीवन शोभा हो कुमुमित हे ।
फिर विशि क्षण में ।
तुम देव, बनो चिर दया प्रेम जन-जन में, जग-मंगल हित हे !

पन्त जी का हिन्दी-साहित्य में स्थान—हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उसका आदिकाल बोर-भाषाओं का समय था; पूर्व मध्य-काल भक्ति का और उत्तर-मध्यकाल रीति-निरूपण एवं शृंगार का अतः आधुनिक छायावादी कवि पन्त की तुलना उन कालों के कवियों से नहीं हो सकती । हाँ, इतना कहा जा सकता है कि गमस्त हिन्दी-साहित्य के प्रतिनिधि कवियों में पन्त जी उनके साथ सगर्व और सम्मान बिठाए जा सकते हैं । पन्त जी की तुलना केवल वर्तमान-काल के कवियों से की जा सकती है । इनमें इय क्षेत्र के और इस स्तर के इनके अतिरिक्त चार कवि हैं—मैथिलीगरण पुन्त, जयशंकर प्रसाद, मूर्धन्य विद्यालया और महादेवी वर्मा । इनमें से प्रथम दो निश्चिन् ही पन्त जी से बढ़कर हैं । पुन्त जी की काव्य-प्रतिभा तो मुक्तक और प्रबन्ध सभी की दृष्टि से अपरिमित और अतुल्य है, प्रसाद इनके ऊपर द्वितीय स्थान पर है क्योंकि उनमें पुन्त जी के पुण्य होते हुए भी भाव-निष्कामन में सहजता और सरलता नहीं है और निराला एवं महादेवी जी अन्तः इनमें कुछ कम अनुभवं और पञ्चम स्थान पर है । प्रसाद आनन्दनोक के विहारी है अतः उनके काव्य में रहस्य की प्रधानता होने के कारण भावगाम्भीयं अधिक है, निराला के काव्य में ऊर्ध्वविभा है, अग्नि है और है दूध दार्शनिकता एवं महादेवी जी के काव्य में प्रणय-वेदना से उदयन आधुनों की मिलना है । इनमें से एक का काव्य तो आत्म-प्रकाश से इतना जागृत्यमान है कि अर्धशत शोधिया जाने है, वह

दुःखवाद के विषय में वे 'रदिम' की भूमिका में लिखती हैं—

“अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख घून-छाँही ढोरो से घुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस क्यों का उत्तर दे सकना मेरे लिए भी किसी समस्या के मुलभा ढालने में कम नहीं है। ससार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुःख, बहुत आदर और बहुत माना में सब कुछ मिला है परन्तु उम पर दुःख की छाया नहीं पड़ सकी। कदाचित् यह उसकी प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।”

इन शब्दों से ज्ञान होता है कि जिस दुःख से उनमें वेदना जग पड़ो है वह स्वसंवेद्य होता हुआ भी भास्रीय नहीं, वह विश्व-दुःख की प्रतिच्छाया है जो उनके हृदय-पटल पर आकर पड़ी और उन्हें विकल कर डाला। यह बात 'आधुनिक कवि' की भूमिका के उनके इन शब्दों से प्रमाणित होती है कि “हृदय में तो निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं पाती, केवल एक गम्भीर कष्टना की छाया देखती हैं।”

इसका स्पष्टीकरण माया की भूमिका से हो जाता है, जहाँ वे लिखती हैं—“दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक मूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सोठी तक भी न पहुँचा सकें किन्तु हमारा एक बूँद धाँसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अधिक भोगना चाहता है परन्तु दुःख सब को बाँट कर—विदय-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को, इस प्रकार मिला देता जिम प्रकार एक जन-विन्दु समुद्र में मिल जाता है, बकि का मोक्ष है।”

इससे स्पष्ट विदित होना है कि उनकी वेदना ससार-दुःख की प्रतिक्रिया है, जो उनके हृदय में बचपन से ही भगवान् बुद्ध के जीवन-परिचय से संवेद्य हो गया था। रदिम की भूमिका में उन्होंने यही भाव लिखा भी है।

महादेशी जो जो दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक यह जो मनुष्य के मवेदनशील हृदय को विदय में एक झूट बन्धन में बाँध देता है और दूसरा वह जो देन और बाँध के बन्धन में पड़े हुए जीवात्मा का प्रन्दन है।

महादेशी जो की दुःखाभिप्रेक्ति में एक संयम है अतः इसकी विश्व-वेदना के प्रकाशन में तुलसीदास एवं गुप्त जी की भाँति परम संयमित है, इस

अभिव्यक्ति के प्रकाशन-प्रकार को वे स्वयं 'सांध्यगीत' के बल्लभ में स्पष्ट करती हैं—

“दुःखातिरेक की अभिव्यक्ति, आत्तंक्रन्दन या हाहाकार द्वारा भी हो सकती है, जिसमें संयम का नितान्त अभाव है, उसको अभिव्यक्ति नेत्रों के सञ्चल हो जाने में है, जिसमें संयम की अविद्यता के साथ आवेग के भी अपेक्षाकृत संयत हो जाने की संभावना रहती है, उसका प्रकाशन एक दीर्घ निश्वास में भी है, जिसमें संयम की पूर्णता भावातिरेक को पूर्ण नहीं रहने देती, और उसका प्रकटीकरण निम्नन्यता द्वारा भी हो सकता है जो निष्क्रिय बन जाती है। वास्तव में गीत के कवि को आत्तंक्रन्दन के पीछे छिपे हुए संयम में बाँधना होगा, तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा।”

इस पर्यायोचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महादेवी जी को जीव, प्रकृति और ईश्वर पर झूठ विरवाम है। ईश्वर मव का ग्योन है। जीवात्मा ने प्रकृति के वैभव में उस विराट् के वैभव को देना और उसे ऐसा जान पहा कि यह सब उसी का मीन्दर्य-विभव है, जिसका कि वह स्वयं एक अंग है। कम यही भावना जीव के अन्दर ईश्वर के प्रति अद्वैत-प्राप्ति के लिए तीव्र होती चली जाती है। जीवात्मा का समार-चक्र में पडकर ईश्वर में चिर-विभेद हो गया है अतः विरह-उद्वेग भी चिरजालीन है और इसी हेतु मिलन के लिए प्रचण्ड विवक्षता है। जीवात्मा इसके लिए ईश्वर को प्रियतम मानकर साधना पथ पर अग्रसर होती है। यही एक तत्व है जिसे महादेवी जी ने अपने काव्य में प्रकट किया है—यही उनकी दार्शनिकता है। इस पर उपनिषद्, त्रिगुण-साधना, वैष्णवी-भावना एवं सूफी-मन का पर्याप्त प्रभाव है। इनकी धारम-साधना का निरूपण हम उन्हीं के कुछ उद्धरणों से नीचे करते हैं।

महादेवी जी के अनुसार एक असीम ब्रह्म सर्वत्र प्रकाश-रूप से व्याप्त हो रहा है और हम सभी शुद्ध तारकों के समान हैं। यदि वह व्यापक प्रकाश है तो हम एक प्रकाश-बिन्दु ही हैं और इसी प्रकार वह निराकार माकार बना हुआ है—

तुम असीम विस्तार ज्योति के, मैं तारक सुकुमार,
तेरी रेखा रूप हो जाता, है जिसमें साकार ।

उसी की धामा का करु कान्तिमानों को कान्ति दे रहा है। रात्रि में तमसावन निस्सीम गगन में टिमटिमाते तारक-शीतलों की ज्योति और निराकार

की रजत-समान ज्योत्स्ना तथा प्रमाकर की स्वर्णम प्रमा-राशि उसी की भामा का तो परिचय दे रहे हैं।

इस प्रकार हम अद्वैत की भावना को उनकी रचनाओं में व्याप्त हुआ देखते हैं। 'रश्मि' में वे एक स्थान पर लिखती हैं—

मैं तुम से हूँ एक, एक हूँ जैसे रश्मि प्रकाश,
मैं तुम से हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तद्रित विलास।

अर्थात् सारा संसार उसी प्रकाश-गुंज की रश्मियाँ हैं अतः हम एक ही हैं। यदि भिन्न भी है तो उसी प्रकार जैसे वारिद से विद्युत्, जिनकी भिन्नता में भी एकरूपता है।

महादेवी जी उम असीम को किसी एक स्थान पर सीमित हुआ नहीं पाती और न समार को मिथ्या ही मानती हैं। वे ईश्वर और जीवात्मा के बीच एक आँख-मिचौनी के खेल की सी झनक पाती हैं परन्तु वह विश्वात्मा कौन है, इसका उन्हें निश्चय नहीं—

शुभ्य काल के पुलिनों पर, आकर छुपके से मौन,
इसे बहा जाता सहरोँ में, यह रहस्यमय कौन।

वह रहस्यमय कौन है? कौन है वह जो रात्रि के नीरव पहर में जब चन्द्र-रश्मियाँ कुमुद की वेदना को हरती हैं और पवन के स्वप्न से चकित धनजान सी तारिकाएँ चौंक पड़ती हैं तब दूर-दूर कहीं उस पार संगीत सा उन्हें बुनाया करता है?—

कुमुद बल से वेदना के राग को, वोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ;
चौंक उठतीं प्रनिल से निद्रास घ, तारिकाएँ चकित सी धनजान सी;
तब बुला जाता मुझे उस पार जो, दूर से संगीत सा वह कौन है?

यदि कोई हो, अलक्ष्य रूप से संकेत भी करे और मौन वाणी में बुनाये भी पर मिल न सके तो मिलन की चाहना उत्पन्न हो जाती है और फिर यही चाहना चिर-वेदना का कारण बन जाती है। सूफी इसीलिए तो तड़पते रहते हैं और उमके बिरह में प्रेम की पीर जगाते रहते हैं। महादेवी जी भी उसी चिर-वेदना में मग्न हैं। प्रिय जाने या न जाने, चाहे या न चाहे परन्तु प्रेमी को तो बड़े जाना ही है। वे तारी से बहती हैं कि मैंने उमकी स्मृति में जलने की ही जोवन का गर्वस्व माना है। संसार मुझे मनवाली समझे तो समझ करे, सलम भी तो दीप-निगा पर जलता है। कास्तव मैं वह शहीद है। उसके भुलने हुए सन वा बग-बग पूजा की वस्तु है—

वनों जग बहता मनवाली !
 क्यों न शमन पर लुठ-लुठ जाऊँ,
 मूनमे धँसों को चुनवाऊँ
 उन पर दोष गिना झँकवाऊँ,
 धनि ! धने जपने में हो
 जीवन की निधि पानी !

इस प्रकार जनने में ही वे जीवन का कोप पाती हैं। वे चाहती हैं कि दीपक की भाँति युग-युगों तक जलती रहें और धरने धाराप्य की विर घटुरा-गिनी बनी रहें—

दीप-भी युग-युग जलूँ वह मुझग इतना बना दे,
 फूँक से उमकी बुझूँ तब छार ही मेरा पना दे ?
 वह रहे धाराप्य चिन्मय
 मुरादपी घटुरागिनी में !

यही नहीं वे पावन संसार को भी धरने माद जनने का ही लहर माँघने की सम्मति देती हैं—

ओ पागत संसार !
 माँघ न तू हे शंतन तममय
 जनने का लहर ?

उन्हें पीछा ही प्रिय है। उन्होंने पीछा में ही उमे दूँडा है और उमने वे पीछा ही दूँडना चाहती हैं—

तुमको पीछा में दूँडा
 तुममें दूँडूँगी पीछा !

वे पीछा की मधुरिमा-वदा धरने लघु जीवन में महान् प्रियतम में तृप्ति का एक बरस भी नहीं चाहती, चाहती हैं केवल प्यासी धरिने जो निन्द धरिनुषों का सागर बनती रहें—

मेरे छोटे जीवन में,
 देना न तृप्ति का बरस भर
 रहने दो प्यासी धरिने
 भरती धरिनु से सागर ।

हम सब और वह एक दिन एकाकार वे परलु बिपुल बरस दुष्क हो गये। जब ज्ञान हुआ तभी मे जीवन इतिव होकर विरहानि से बरस हो बरनी बन गया है। अब तो जीवन की सँझाओं में भी यरहा छा गई है।

कहण-रुन्दन में भी इतना भाकरपण हो गया है कि विश्व ब्राह्म होकर भी मुग्ध हो गया है तथा नेत्रों में दीपक से जल रहे हैं और पलकों में तरंगिणी तरंगें ले रही है—

मेँ नीर भरी दुष् की बदली !
 स्पन्दन में विर निस्पन्द यसा,
 रुन्दन में ब्राह्म विश्व हँसा,
 नयनों में दीपक से जलते
 पलकों में निभंरिणी मधनी !

✓ इन वेदनापूर्ण गीतों से स्पष्ट विदित हो रहा है कि महादेवी जी के मन में कितना विरह-दुःख भरा पड़ा है। उनका काम तो निरन्तर जलना है और वह हो रहा है परन्तु प्रियतम फिर भी द्रवित नहीं हुआ है अतः वे निष्पुत्र धरूप की भर्चना आरम्भ करती हैं। वह भर्चना बाह्यरूप से नहीं है। उसमें सद्युतम जीवन ही प्रिय का सुन्दर मन्दिर है और स्वामें ही अभिनन्दन है। मधु धर्म्य, रोम भक्षत और वेदना चन्दन है तथा स्नेहमरा मन ही दीपक, लोचन-तारक ही त्रिकुखिल कमल और स्पन्दन ही जलती धूप है, एवं पलकों का ही नर्तन और प्रिय-प्रिय जपते हुए धधरो का ही ताल है—

क्या पूजा क्या भर्चन रे ?

उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा सद्युतम जीवन रे ।
 मेरी स्वामें करती रहतीं निज प्रिय का अभिनन्दन रे ।
 पद-रज को धोने उमड़े धाते लोचन में जलकरण रे ।
 अक्षत पुलकित रोम मधुर मेरी षोड़ा का चन्दन रे ।
 स्नेहमरा जलता है भिषमिल मेरा यह दीपक-मन रे ।
 मेरे हृग के तारक में नय उत्पल का उन्मोचन रे ।
 धूप बने उड़ते रहते हैं प्रतिपल मेरे स्पन्दन रे ।
 प्रिय-प्रिय जपते धधर ताल देता पलकों का नर्तन रे ।

इससे हमें निराशर की मानसिक भर्चना का स्पष्ट संकेत मिल रहा है, जिस पर वैष्णवी भावना का प्रभाव स्पष्ट है। महादेवी जी को चिरवेदना ही प्रिय है अतः वे मिलन की मूखी नहीं हैं। हाँ, मिलन को चाहती अवश्य हैं परन्तु मिलन पर भी हृयं से पूर्व वे प्रिय के पदों को धामुषों से ही धोना चाहती हैं—

जो तुम ध्या जाने एक बार !
 कितनी करुणा कितने संदेश
 पथ में बिंदु जाने बन पराग,
 गाना भाणों का तार-तार
 अनुराग भरा उन्माद राग;
 धाम्र लेने पद पगार ।

इस प्रकार महादेवी जी की साधना-मरणाँ में प्रकृत, कबीर के दाम्पत्य-प्रेम प्रत्यक्ष भूमिमें तथा वैष्णवी भावना का प्रदुग्ध पुट देखते हैं। इनकी साधना-मरणाँ को हम केवल बौद्धिक प्रयत्न ही मानने को उचित नहीं, हमारी मान्यता है कि संसार की दुःस्वात्मक स्वानुभूति ने विराट् छत्ता की इन्हें प्रत्युत्ति कराई और आत्मा की बीणा में वे स्वर फूटे। हाँ, इनका कलात्मक पक्ष, जिसमें सुन्दर प्रतीकों, मार्केटिक शब्दों एवं मल्लहृत् वाक्यों का बोलबाला है, अवश्य बुद्धि का बुद्ध सीमा तक विकास है। प्रिय की स्वानुभूति के विषय में 'दीप-शिखा' में वे स्वयं लिखती हैं—

जो न प्रिय पहचान पाती !
 दीड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास रिछुन्-सो तरल बन ?
 क्यों अचेतन रोम पाते छिर प्यमामय सजग जीवन ?
 किस लिए हर साँस तम में
 सजग दीपन-राग गानो ?
 चाँदनी के बादलों से स्मरन फिर-फिर घेरते क्यों ?
 मंदिर सौरभ से सने क्षण रिबम-रान रिखेरते क्यों ?
 सजग स्मित क्यों चित्तवनों के
 मुक्त प्रहरी को जगानी ?
 कल्प-मुग-श्यापो दिरह को एक तिहरन में सँभाले,
 शून्यता भर तरल मोती से मधुर सुवि होप वाले,
 क्यों शिसी के आगमन के
 शकुन स्पर्शन में मनाती
 मेष पथ में बिन्ह रिछुत् के गए जो छोड़ प्रिय-पद,
 जो न उनकी धार का सं जानती सग्गेरा उन्माद,
 किसलिए पावन मयन में
 प्राण में चतक बगानी ?

महादेवी जी की साधना में मंदिर प्रकृति उग रूप में ही चित्रित नहीं

हुई जिस प्रकार पन्त ने चित्रित की है तथापि प्रकृति का बहुत हाथ रहा है। सुन्दर चित्र प्रकृति के सहारे ही खड़े किए गए हैं। अनेक स्थानों पर प्रकृति ही उनके भाव-विशेषों की पृष्ठभूमि है। उनके सुख-दुःख एवं प्राप्ति-निराशा का प्रकटीकरण प्रायः प्रकृति के आरोपों द्वारा ही हुआ है। देखिए अलक्ष्य प्रियतम के प्रति प्रकृति में प्रतिबिम्बित सुखोद्भूत आराम-शृंगार का कैसा भव्य चित्र है—

सहराती घाती मधु-बघार।

रंजित कर दे यह शिथिल धरण ले नव अशोक का अरण राग।
मेरे मण्डन को धाज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग।

मूषी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी संवार।

पाटल के मुरभित रंगों से रंग दे हिम सा उज्ज्वल डुकूल।
गुप दे रत्ना में अलि-गुंजन से पूरित भरते बकुल फूल।

रजनी से अंजन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार।

इसी प्रकार प्रकृति में व्यञ्जित इनकी व्यथा भी देखिए—

पुलक-पुनक उर, तिहर-तिहर तन,
धाज नयन घाते क्यों भर-भर ?

सकुच सलज खिलती शेफाली,
अतस मौलथी डाली-डाली,

धुनते नव प्रवाल कुंजों में
रजत श्याम तारों से जानी

शिथिल मधुपवन गिन-गिन मधुबरण,
हरसिगार भरते हैं भर-भर !

धाज नयन घाते क्यों भर-भर ?

इस प्रकार अनेक चित्र प्रकृति के प्रतीकों से उन्होंने चित्रित किए हैं। किन्तु उनमें प्रकृति वाच्य का शृंगार नहीं बरन् अन्धकार-प्रकाशन का माध्यम है। रात्रि त्रिरहसि का, अन्धकार त्रिरहस्य विवाद का, उषा उल्लास का, दिवस दीपं विक्रम का, वर्षा वररणा का, दीप्य शोध का, पनभर दुल का घोर वसन्त गुण का प्रतीक है। जीवन के लिए उन्होंने तरी घोर सहर का प्रयोग किया है तथा तुहिन का घोर मकरन्द ने घाँसू एवं मधु घोर मलय नयन से गुण-बहाव की अभिव्यक्ति कराई है।

इस प्रकृति के आरोपण में उनकी कल्पना का नृत्य बड़ा मनमोहक है परन्तु कहीं-कहीं वे बड़ी क्लिष्ट एवं अननुसृत कल्पना करती दृष्टिगोचर होती हैं, यथा—

रजनी छोड़े जानी थी, भिन्नमित तारों की जाती ।

उसके बित्तरे बँभव पर, जब रोती थी उजियानी ॥

इसमें प्रभात काल का दारुण है, जब कि रात्रि अपना बँभव चुटाकर जा रही है। पूर्वार्ध में रजनी का भिन्नमित तारों की जानी छोड़े जाना तो ठीक है परन्तु उजियानी का रोना परम्परागत नहीं है क्योंकि उजियानी रोती नहीं हँसती है। रात्रि के बँभवहीन होकर प्रस्थान करने पर उजियानी का रोना प्रभात में भोस-बिन्दुषों का झड़ना है। कल्पना क्लिष्ट एवं परम्परानुसृत न होते हुए भी जैवती अवश्य है।

महादेवी जी की इस काव्य-भाषना का साध्य सत्य है और साधन सौन्दर्य है। सत्य अपनी एकता में प्रसीम रहता है और सौन्दर्य अपनी धनेकता में अनन्त, इसीलिए सौन्दर्य के परिचय में सत्य की विस्मयकारक पूर्ण स्थिति तक पहुँचने का क्रम आनन्द की सहर्ष उड़ाना हुआ अद्भुत होता है। इसकी साधना व्यष्टिप्रधान है, जिसमें समष्टि के लिए कोई विशेष स्थान नहीं।

यहाँ तक हमने महादेवी जी की काव्य-भाषना में भावना पर विचार किया, अब ठनिक कथापद पर भी दृष्टि डालना समुचित होगा।

कथापद—महादेवी जी ने जो कुछ निम्ना वह गीतों में ही निम्ना। हमारे हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम गीति-काव्य का निर्माण विद्यागति ने किया। यह कौञ्चि-कावली तुल्य क्लिष्ट पदावली के रचयिता मैथिल प्रदेश में घर-घर सम्मानित हुए। बँगाल भी इनके गीतों के श्रुंज उठा परन्तु उनमें शृंगारिक भावना का नम्र नृत्य हुआ। पुनः कबीर की रागिनी पूटी और उन्होंने मँकड़ों ही पद गाये। कबीर की वाणी में सुफला थी अतः उनकी रागिनी संगीतधमनित होती हुई भी मनमोहक न हो सकी। इसके प्रतिरिक्त व्याकरण आदि की अनुद्विषों एवं स्वर आदि की पुष्टियों ने उसके सौन्दर्य को और मार दिया। कबीर के पदचाल मूर और तुलसी ने गेय पद निमित्त किए। ये मूल कवि थे अतः इन्होंने मल्लि का ही राग अपनाया। मूर और तुलसी दोनों ही संकरी राग-रागिनियाँ गाएँ, जिनके समुग्गवन उदाहरण हमें अमलः 'भूरसागर' एवं 'गीतावली' और 'विन्दनविषा' में मिलते हैं। अन्तर इतना है कि मूर का गीतिकाम्य सहज उदाहारी का भ्रूणरूप है और तुलसी की म का अमल-

गर्भित है अतः विलुप्त है। इसी काल में मीरा ने भी अपने प्रियतम गिरिधर-नागर के प्रेम में सैकड़ों गीत गाये, जिनमें भग्न हृदय रो रहा है। तुलसीदास के अतिरिक्त मान्नामों की न्यूनाधिकता का ध्यान किसी ने नहीं रखा है तथा सभी लयप्रधान हैं।

इन उपयुक्त कवियों के पदों में संगीत या तथा राग-रागिनियाँ भी थीं परन्तु आधुनिक काल के कवियों ने संगीत को तो काव्य में महत्व दिया परन्तु राग-रागिनियों की परम्परा का न अपनाया। गुप्त, प्रसाद, पन्त और महादेवी आदि कवियों ने इसी नर्वचन प्रणाली को ग्रहण किया। इन्होंने जिन गीतों को गाया है वे प्रायः मात्रिक छन्दों के ही अन्तर्गत आते हैं। केवल निराला ही ऐसे कवि हैं, जिनके अनेक गीतों में प्राचीन परम्परा का अनुसरण है। प्रसाद, पन्त और महादेवी की रचनाओं में शुभार है, परन्तु नाम नहीं और महादेवी तो विशेषतः मयत है। साथ ही इन सब में दार्शनिकता भी है, जिसने छायावाद एवं आधुनिक रहस्यवाद से नवीन रूप धारण कर लिया है। इसका विवेचन पहले ही चुका है, जिसे हम महादेवी जी की वाक्यमायना का मापपक्ष कह सकते हैं।

महादेवी जी की गीत अन्त्य आधुनिक कवियों से एक विशेषता रखती है कि उन्होंने मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त अनेक लोक-गीतों का भी प्रयोग किया है। अन्य कवियों ने ऐसा नहीं किया। महादेवी जी के गीतों के भाव प्रायः हृदय में उतर जाते हैं, केवल कुछ ही गीत ऐसे हैं जिनका भाव पहले बुद्धि के द्वारा चरित होता है और पुनः हृदय में उतरता है। प्रसाद के अनेक गीत बहुपक्षी भावों से युक्त हैं अतः संगीत एवं भाषा के माधुर्य में युक्त होते हुए भी मस्तिष्क के लिए बोझ बन जाते हैं। निराला वंशोदर दार्शनिक हैं। उनके गीतों में वही स्वाद है जो मुक्त साह के गिनोरे में होता है। पन्त अवश्य मधुर हैं परन्तु वही भावों का प्रवहण विविधविधायी है, कोई एक आलम्बन नहीं और न वेदना है। महादेवी जी के गीतों में एक चढ़ती धारा है, एक ओर को बढ़ाव है और वह भी तरल और साथ ही मधुर भी। कि बहुना, उनके संगीत का स्वाद श्रुति का कुछ चखना है, जो अनुभूत होता है परन्तु व्यक्त करने के लिए दुष्कर है।

इनकी भाषा बड़ी परिमार्जित है, जिनका मुख्य कारण इनका प्रकाशक संस्कारण होना ही है। भाषा में सुकृष्ट शब्द-वोजना इनकी कला का सुन्दर प्रदर्शन है जिनमें माधुर्य एवं प्रसाद गुण अपने संपूर्ण वैभव के साथ छविमान हैं। उल्लेखित कृति भी अपनी राजपत्र के साथ विद्यमान है।

इनके गीतों में झलंकार भी दमकते हैं परन्तु वे इस प्रकार तादे हुए नहीं हैं कि जिनकी श्रमक में चक्षु चौंधिया जायें और गीतों का भ्रमना रूप न दोष पड़े। यह बात निम्नलिखित कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी—

वरमा—

रात सी नीरव ध्याया, तम सी भ्रम मेरी कहानी

तरल मोती सा जलधि जय कांपता

हिम सा उज्ज्वल दुकूल

रूपक—

धन बनूं वर दो मुझे प्रिय !
जलधि-मानस से नव जन्म पा
सुभग तेरे ही दृग ध्योम में,

धपहृति—

वे मुस्काते फूल नहीं, जिनको घाता है मुरझाना ।
तारों के शेष नहीं, जिनको भाता है बृम्भ जाना ।
वे नीलम से मेघ नहीं, जिनको है धूल जाने की चाह ।
वह धनन्त ऋतुराज नहीं, जिसने देती जाने की राह ।

उल्लेख—

मधुर राग तू में स्वर-संरम,
तू घसोम में सोमा का भ्रम ।

इन्हे प्रतीक बड़े प्रिय हैं, जो प्रकृति के बीच में से उठकर आए हैं। वहीं-वहीं इन प्रतीकों के उद्भाव एवं स्थापन में कल्पनामें मधुर होती हुई भी विलक्षण हो गई है, अतः विनष्टता का गई है और वहीं-वहीं पर निपट महीनता है अतः बौद्धिक-अज्ञान की घेष्टाएँ ही दीत पड़ती हैं। परन्तु ऐसा कम हुआ है।

इनकी रचनाओं में शृंगार, कल्प, अद्भुत और शान्त रम मिलते हैं। शृंगार में विरह का ही प्रमुखतः विषय है। घाट प्रकार के माणिक्य भावों में वे रोमांच, कल्प, वैचर्य, और धम् का वर्णन है तथा स्मृति, मम, विन्ना, धोलुचर, गंधा, धारण, उन्माद, निद्रा, स्वप्न और मोह आदि मधुरी भावों का प्रकन है।

हमने ऊपर महादेवी जी के भाव-वध एवं कलागत के विषय में वर्णन

लिख दिया है। यदि इसके आधार पर हम उनका स्थान निर्धारण और मूल्यांकन करना चाहें तो निराला जी के उनके (महादेव जी के) प्रति कहे निम्न शब्दों में यही कह सकते हैं—

हिन्दी के विशाल मन्दिर की धोखा-पाखी,
स्फूर्ति चेतना रचना की प्रतिमा कल्याणी।

गद्य-रचनाएँ—पहले लिखा जा चुका है कि इनकी चार गद्य-मुस्तकें हैं—प्रतीत के चलचित्र, 'शृंखला की कड़ियाँ', स्मृति की रेखाएँ और महादेवी का विवेचनान्तक गद्य।

'प्रतीत के चल-चित्र' में उनके सस्मरण हैं; 'शृंखला की कड़ियाँ' में उनके नारी-विषयक लेख हैं जिनमें नारी की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है; 'स्मृति की रेखाएँ' में रेखाचित्र और 'विवेचनान्तक गद्य' में इनकी रचनाओं की भूमिका एवं कुछ अन्य निबन्ध सप्रहीत हैं। 'प्रतीत के चलचित्र' में भी रेखाचित्र अधिक हैं।

महादेवी जी का रूप उनके काव्य एवं गद्य के क्षेत्र में भिन्न-भिन्न सा दीखता है। काव्य में उनकी व्यक्तित्व भावना चित्रित है। उनका अपना 'नजी दुख, बिरह-वेदना एवं रहस्यानुभूति' वलित एवं ध्वजित है परन्तु गद्य में समाज-वेन्द्रित। ससार में सभी प्राणी दुखी हैं, मानव अधिक दुखी है और उनमें भी नारीवर्ग। दुखी को देखकर सहानुभूति का उत्पन्न होना दयालु का प्रथम लक्षण है। महादेवी जी ने विषम मानव को देखा और उनके मानस में समवेदना की तरंगें उठने लगी, विशेषतः नारी की समस्याओं ने उन्हें अधिक विचलित किया। यही दया, करुणा, ममता, वात्सरय और प्रेम उनकी लेखनी से फूट पड़ा।

'प्रतीत के चलचित्र' में पहला चित्र एक भूय के जीवन का चित्र है, दूसरा पारिवारिक घट्याचार्यों से घुट-घुट कर जीने वाली बाल-विधवा या और तीसरा विमाता के दुर्व्यवहार ने दुखी एक प्रबोध बालिका का चित्र है। इनके अनिरीक्त सज्जी बचने वाले प्रसोपी का और बदलू पुग्हार का भी चित्रण है तथा कुछ संस्मरण भी हैं।

'स्मृति की रेखाएँ' में पहला रेखाचित्र एक प्रामोख प्रसिद्धित युद्ध का है और दूसरा एक परम दुखी चीनी फेरी वाले का है जो अपनी छोटी हुई बहिन की शोच में बगड़ा बेचना फिरता है। इनके प्रतिरिक्त इसमें गाँव की नियंत्रता एवं योद्धियों के पारिवारिक जीवन आदि के भी रेखाचित्र हैं।

ये सभी चित्र सहानुभूति पूर्ण लेखनी से भंकित हुए हैं अतः वास्तविकता से पूर्ण हैं। ये गद्यगीत न होते हुए भी कविता से पूर्ण हैं। कल्पनाएँ कवि-कल्पनाएँ हैं अतः उनसे प्रभूत ये चित्र विचित्र हैं।

‘शृंखला की कड़ियाँ’ में स्त्री की हीनावस्था, विधवा की विवशता एवं पतिता की दुर्दशा का बड़ा मार्मिक एवं कष्टमय चित्रण है।

महादेवी जी का गद्य भादसं गद्य है, जो सुसंस्कृत, सुगठित और प्रसाद-पुष्प-युक्त है। उसमें भावों का एक तारतम्य है तथा उत्तरोत्तर दृढ़ निबन्धन है। कहीं-कहीं भाव-गाम्भीर्य से चित्ररूपा भी आ गई है। उदाहरणतः दो उद्धरण नीचे दिए जाते हैं।

“उस सरल कुटिल मार्ग के दोनों ओर अपने कर्तव्य की गुस्ता से निस्तब्ध प्रहरी जैसे खड़े हुए, आकाश में भी घरातल के समान मार्ग बना देने वाले सफेदे के धूसों की पंक्ति से उत्पन्न दिग्भ्रांति जब कुछ कम हुई तब हम एक दूसरे ही लोक में पहुँच चुके थे, जो उस ध्यक्ति के समान परिचित और अपरिचित दोनों ही लग रहा था जिसे कहीं देखना तो स्मरण आ जाता है परन्तु नाम-धाम नहीं याद आता।”

[स्वर्ग का एक कोना]

वेश्या-जीवन पर—

“इन स्त्रियों ने, जिन्हें गरिब समाज पतिता के नाम से सम्बोधित करता आ रहा है, पुरय की वासना की वेदी पर बंसा घोरतम बलिदान किया है। इस पर कभी किसी ने विचार भी नहीं किया। पुरय की बर्बरता, रक्त-स्रोतुवजा पर बलि होने वाले मुद्द-वीरों के खाहे स्मारक बनाने जायें, पुरय की घण्टिकार भावना को समुत्थल रखने के लिये प्रज्वलित बिना पर क्षण भर में जल मिटने वाली नारियों के नाम खाहे इतिहास के पृष्ठों में सुरक्षित रह सकें, परन्तु पुरय की कभी न बुझने वाली वागनाभि में हँसते-हँसते अपने जीवन को दिल-तिथ जलाने वाली इन रमणियों की मनुष्य-जाति ने कभी दो बूँद धाँसू पाने का घण्टिकारी भी नहीं मसभा।”

[शृंगारा की कड़ियाँ]

परिशिष्ट

अर्वाचीन रत्नों पर विशेष अध्ययन के लिए पठनीय पुस्तकें

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

- | | |
|------------------------------|------------------------|
| १. भारतेन्दु के निवन्ध | डॉ० केशरीनारायण शुक्ल |
| २. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | श्री अजरतन दास |
| ३. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | डॉ० रामविलास शर्मा |
| ४. भारतेन्दु युग | " " |
| ५. भारतेन्दु जी की विचारधारा | डॉ० सश्रीभागर बाण्येय |
| ६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | " " |
| ७. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र | डॉ० रामरतन भटनागर |
| ८. भारतेन्दु की नाट्यकला | श्री प्रेमनारायण शुक्ल |

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर

- | | |
|--------------------------------------|--------------------------|
| १. कविवर रत्नाकर | श्रीहृष्य शंकर शुक्ल |
| २. उद्भवशनक की भूमिका | डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' |
| ३. रत्नाकर : एक भालोचना | श्री व्यपित हृदय |
| ४. रत्नाकर : उनकी प्रतिमा
घोर कला | डॉ० विद्वन्मन्नाथ भट्ट |

भाचार्य रामचन्द्र शुक्ल

- | | |
|----------------------------|-------------------------------------|
| १. भाचार्य रामचन्द्र शुक्ल | श्री शिवनाथ |
| २. भालोचक रामचन्द्र शुक्ल | श्री गुलाबराय घोर विजयेन्द्र स्नातक |
| ३. भाचार्य रामचन्द्र शुक्ल | डॉ० रामविलास शर्मा |
| ४. भाचार्य रामचन्द्र शुक्ल | श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरिश' |
| ५. भावना घोर समीक्षा | डॉ० श्रीमदकाश |
| ६. साहित्य-चिन्ता | डॉ० देवराज |

- श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
 श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
 श्री० धर्मोन्द्र ब्रह्मचारी
 श्री कृष्णकुमार सिन्हा

१. महाकवि हरिऔध
 २. हरिऔध का प्रियप्रवास
 ३. हरिऔध और उनका प्रियप्रवास
- मुंशी प्रेमचन्द
- श्रीमती शिवरानी प्रेमचन्द
 डॉ० इन्द्रनाथ मदान
 डॉ० इन्द्रनाथ मदान
 डॉ० सत्येन्द्र
 डॉ० रामविलास शर्मा
 श्री हसराम 'गहवर'
 श्री जनार्दन डिज
 झा० नन्ददुलारे वाजपेयी
 डा० प्रेमनारायण शुक्ल
 श्री मन्मथनाथ गुप्त और रमेश वर्मा
 डा० त्रिलोक नारायण दीक्षित
 डा० रामरतन भटनागर
 श्री श्रीपति शर्मा
 श्री प्रेमनारायण टंडन
 " "
 श्रीमती कमलादेवी गर्ग

- श्री मैथिलीशरण गुप्त
१. सावेत । एक अध्यायन
 २. गुप्तजी की कला
 ३. गुप्तजी के काव्य की कारुण्य धारा
 ४. गुप्तजी की यशोधरा
 ५. गुप्तजी की काव्य-धारा
 ६. गुप्तजी और उनकी यशोधरा
 ७. मैथिलीशरण गुप्त
 ८. गुप्तजी की यशोधरा
 ९. गुप्तजी और उनका साहित्य
- डॉ० नगेन्द्र
 डॉ० मत्येन्द्र
 श्री धर्मोन्द्र ब्रह्मचारी
 " "
 श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'
 श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
 डॉ० रामरतन भटनागर
 श्री कृष्णकुमार सिन्हा
 " "

१०. साकेत के नवम् सर्ग का काव्य-वैभव श्री कन्हैयालाल सहल
 ११. साकेत समीक्षा श्री प्रेमनारायण टंडन

श्री जयशंकरप्रसाद

१. प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन, डॉ० जगन्नाथप्रसाद
 २. कामायनी : एक परिचय श्री गंगाप्रसाद पाडेय
 ३. कामायनी सौन्दर्य डॉ० फतहसिंह
 ४. कवि प्रसाद की काव्य-साधना श्री रामनाथ गुप्त
 ५. प्रसाद और उनका साहित्य श्री विनोदशंकर व्यास
 ६. प्रसाद की कला वा० गुलाबराय
 ७. जयशंकर प्रसाद श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
 ८. कवि प्रसाद का 'झाँसू' तथा
 अन्त कृतियाँ झा० विनयमोहन शर्मा
 ९. प्रसाद : जीवन और उनका साहित्य डॉ० रामरतन भटनागर
 १०. कामायनी अनुशीलन श्री रामलाल सिंह
 ११. प्रसाद का दर्शन तत्व डॉ० रागेय राधक
 १२. लहर : एक अध्ययन श्री लक्ष्मी नारायण टंडन
 १३. प्रसाद के नाटकीय पात्र श्री जगदीशनारायण मिश्र
 १४. प्रसाद का कथा-साहित्य डॉ० रामरतन भटनागर
 १५. प्रसादजी का जीवन, कला और कृतित्व, श्री महावीर अधिकारी
 १६. प्रसाद के तीन नाटक श्री प्रेमनारायण टंडन
 १७. कामायनी मीमांसा " "
 १८. प्रसाद का काव्य डॉ० प्रेमशंकर
 १९. प्रसाद की कहानियाँ श्री केशवनाथ गुप्त
 २०. प्रसाद के उपन्यास तथा कहानियाँ सुभ्रथी सुशीलादेवी और
 सुभ्रथी विमलादेवी
 २१. कामायनी समीक्षा श्री विश्वम्भर मानव
 २२. नाटक का उद्भव और विकास डॉ० दशरथ घोष
 २३. आलोचना की ओर डॉ० घोष प्रसाद

श्री सूर्यचान्त त्रिपाठी 'निराला'

१. महाप्राण निराला श्री गंगाप्रसाद पाडेय
 २. निराला डॉ० रामशिवनाथ शर्मा

३. महाकवि निराला
४. कवि निराला
५. कान्तिकारी कवि निराला

श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
डॉ० रामरतन भटनागर
श्री बच्चनसिंह

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

१. आधुनिक कवि पन्त
२. सुमित्रानन्दन पन्त
३. पन्त और पल्लव
४. सुमित्रानन्दन पन्त
५. सुमित्रानन्दन पन्त
६. पन्त की काव्य चेतना में गुंजन
७. सुमित्रानन्दन पन्त
८. सुमित्रानन्दन पन्त

डॉ० केशरीनारायण शुक्ल
डॉ० नगेन्द्र
श्री निराला
श्री विश्वम्भर मानव
शुभधी दाचीरानी गुर्दू
श्री वासुदेव नन्दन
" "

डॉ० रामरतन भटनागर

शुभधी महादेवी वर्मा

१. महादेवी
२. महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य
३. महादेवी जो की काव्य-साधना
४. महादेवी वर्मा
५. महादेवी वर्मा
६. महादेवी काव्य-परिशीलन
७. महादेवी : विचार और व्यक्तित्व
८. स्मृति की रेखाएँ : एक अध्ययन

श्री विश्वम्भर मानव
श्री गंगाप्रसाद पांडेय
श्री शिवमगलसिंह सुमन
शुभधी दाचीरानी गुर्दू
डॉ० रामरतन भटनागर
श्री भागीरथी दीक्षित
श्री शिवचन्द्र नागर
श्री प्रेमनारायण टंडन

